ओ३म्

# मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य

युधिष्ठिर मीमांसक

# मेरी दृष्टि में
# स्वामी दयानन्द सरस्वती
# और
# उनके कार्य

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक:—
**युधिष्ठिर मीमांसक**
बहालगढ़ (सोनीपत)
(हरयाणा) १३१०२१

प्राप्तिस्थान—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत)
(हरयाणा) १३१०२१

द्वितीय संस्करण—५००
सं० २०५०
मूल्य १००-००

मुद्रक:—
**नरेन्द्रकुमार कपूर**
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस,
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

# आमुख

## [प्रथम संस्करण]

### मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास के आरम्भ में उक्त वचन उद्धृत किया है। इसका तात्पर्य है कि जिसकी प्रशस्त धार्मिक विदुषी माता, वैसे ही प्रशस्त धार्मिक विद्वान् पिता और आचार्य होवें, उस सन्तान को पुरुष जानना चाहिये अर्थात् वही धार्मिक विचारवान् और विद्वान् होकर इस जन्म में **मनुर्भव** (ऋ० १०।५३।६) आदेश के अनुरूप मनुष्य बन सकता है।

**श्रेष्ठ माता-पिता आचार्य की प्राप्ति**—प्रभु की महती कृपा और पूर्व जन्म के किन्हीं सुकृत कर्मों के फलस्वरूप मुझे इस जन्म में तीनों माता पिता और आचार्य ऐसे श्रेष्ठ धार्मिक चरित्रवान् एवं ज्ञानवान् प्राप्त हुए, जिन्होंने स्नेह श्रेष्ठ स्वभाव और विद्वत्ता से जिस प्रकार मेरा लालन पालन किया और निश्छल हृदय से मुझे शास्त्रज्ञान सम्पन्न किया, वह वस्तुतः उनके ही अनुरूप था। इस देवतात्रयी ने मुझे सब प्रकार योग्य बनाने का भरसक प्रयत्न किया। मुझमें जो भी कमियाँ हैं, वे मेरी हैं, चाहे वे किसी प्रकार की क्यों न होवें।

**स्वामी दयानन्द सरस्वती से प्रकाश की प्राप्ति**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ज्ञान और तपोबल से वेद और वैदिक धर्मरूपी सूर्य का, जिस पर सहस्रों वर्षों से अज्ञानरूपी मल का आवरण चढ़ गया था, पुनः निर्मल कर ज्योतिःपुञ्ज के रूप में प्रकट किया। उसकी कुछ किरणें विना किसी परम्पराविच्छेद के मुझ तक पहुंचीं, यह भी मेरे लिये परम सौभाग्य की बात रही।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के साक्षात् मुखारविन्द के माध्यम से वैदिक धर्म की सूर्य की किरणें प्रकट हुईं, उन्होंने हमारे ग्राम के गुर्जरजातीय

श्री सूरजमल पटेल[1] के हृदय में प्रवेश कर मल को हटा उन्हें 'सूरज' बनाया। फिर वहाँ से वैदिक धर्मरूपी सूर्य की किरणों ने निकल आगे बढ़कर ग्राम के तीन नवयुवकों के हृदय में प्रवेश कर उनके अज्ञानान्धकार को दूर किया। उनमें एक अन्यतम मेरे पूज्य पिता श्री गौरीलाल आचार्य थे।[2] यतः मेरे पिताश्री को श्री सूरजमलजी पटेल के द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा व्याख्यातवैदिक धर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ, अतः पिताजी उन्हें परम श्रद्धा से **आदिगुरु** कहते लिखते और मानते थे।[2]

पिताजी के उर्वरा मानस पटल को पाकर वैदिक धर्म की उदात्त भावनाएँ अच्छे प्रकार पुष्पित एवं पल्लवित हुईं। **'घर का दिया जला कर मन्दिर में फिर जलाना'** कहावत के अनुसार पिताजी ने सबसे पूर्व मेरी माताजी को, जो निरक्षर थीं, शिक्षित किया। उन्हें अपनी योग्य जीवनसङ्गिनी बनाया। दोनों एक पथ के पथिक बन गये। दोनों ने निश्चय किया कि हमने ब्राह्मणकुल में जन्म[3] लेकर भी वेद नहीं पढ़ा, हम एक मात्र अपनी सन्तान को **वास्तविक वेदपाठी** ब्राह्मण बनायेंगे। मेरी स्नेहमयी माता का मेरी आठ वर्ष की अवस्था में निधन हो गया। उन्होंने अन्तिम समय में मेरे पिताजी से तीन विशेष बात कहीं। उसमें एक थी—**अब आप अकेले रह जायेंगे, मोह में पड़कर युधिष्ठिर को गुरुकुल भेजना न भूलें।**[4] माताश्री के असामयिक निधन से पिताजी कुछ समय अन्यमनस्क रहे। जब पिताजी ने मुझे गुरुकुल भेजने का विचार किया, उस समय मैं ११ वर्ष का हो चुका था। गुरुकुल में प्रवेश का काल (८-१० वर्ष) बीत चुका था। पिताजी ने मुझे कई प्रसिद्ध गुरुकुलों में प्रविष्ट कराने का प्रयत्न किया, परन्तु कहीं पैर की वक्रता तो कहीं वयः की अधिकता आड़े आई। आर्यसामाजिक गुरुकुलों से निराश होकर मुझे वेदपाठी बनाने की उच्च आकांक्षा से सनातन धर्म के 'भरत महाविद्यालय हृषीकेश' में प्रविष्ट कराने का

---

१. इन महानुभावों के दर्शन मैंने भी बचपन में किये थे। द्र०—आत्मपरिचय, पृष्ठ २७।

२. द्र०—आत्मपरिचय, पृष्ठ १७।

३. हमारा कुल—सारस्वत ब्राह्मण, गोत्र—भारद्वाज, प्रवर—भरद्वाज बृहस्पति अङ्गिरा (त्रिप्रवर), अवटंक—(पदवी)—आचार्य, खांप—गुरावा, चरण—वाजस्नेय, शाखा—माध्यन्दिनी, सूत्र—कात्यायन है। द्र०—आत्मपरिचय, पृ० १।

४. आत्मपरिचय पृष्ठ ५५ (प्र० सं०); पृष्ठ ५६ (द्वि० सं०)।

प्रयत्न किया। वहाँ पिताजी का आर्यसमाजी होना आड़े आ गया।[1] एक दयानन्द के सच्चे अनुयायी को अपने पुत्र को 'वेदपाठी ब्राह्मण' बनाने के संकल्प को पूरा करने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, इसका विवरण आत्मपरिचय में देखें।

'ईश्वर जो कुछ करता है, उसमें मानव का हित निहित होता है' इस उक्ति के अनुरूप मेरे पैरों का विकार और माताजी की असामयिक मृत्यु के कारण आयु के अधिक हो जाने से गुरुकुलों में प्रवेश न पाना मेरे लिये परमहितकारक हुआ। अन्यथा मैं जिस परिस्थिति को पहुंचा हूं, उसे पाने में कभी सफल नहीं हो पाता।

अन्त में स्वामी दयानन्द सरस्वती के परम श्रद्धालु स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित पाठविधि के अनुसार पढ़ने-पढ़ाने के दृढ़निश्चयी निरभिमानी शिष्य हितैषी श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अपने विरजानन्द आश्रम में आश्रय दिया। १४ वर्षों तक बहुविध कष्टों को सहते हुए उन्होंने स्वयं तथा अपने निरीक्षण में विद्वानों से विविधशास्त्र पढ़ाये वा पढ़वाये (द्र०—आत्मपरिचय)।

प्रारम्भ में तो माता-पिता की इच्छापूर्ति के लिये बहुविध कष्ट झेलते हुए अध्ययन में लगा रहा। परन्तु जब मुझे कुछ परिज्ञान हुआ तब मैं अपनी इच्छा से पढ़ाई में दृढ़चित्त होकर लग गया।

**गुरुवर्य की इच्छापूर्ति में प्रवृत्त होना**—अध्ययन काल की समाप्ति के समकाल ही २५ दिसम्बर १९३५ को पिताजी का अचानक स्वर्गवास हो गया। मैं न माता की सेवा कर सका न पिताजी की। अतः मैंने निश्चय किया कि अब मेरे लिये एकमात्र गुरुजी ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिनकी आज्ञा का पालन करना मेरा एकमात्र कर्तव्य है। इस दृष्टि से उनके निधन पर्यन्त उनके निर्देश में काम करता रहा (मध्य में कुछ वर्ष छोड़कर) और उनके निधन के पश्चात् उनके आरम्भ किये कार्य को पूरा करने में लग गया।

२ मई १९३६ को मेरा श्रीमती यशोदा देवी (नर्मदा देवी) के साथ विवाह हुआ। यह देवी भी मेरे व्रत को निभाने में परम सहायिका हुई। इस जन्म में जो कुछ भी मैंने सफलता प्राप्त की, उसमें माता पिता और आचार्य के पश्चात् इस देवी का योगदान सबसे अधिक रहा। यदि इस

---

१. आत्मपरिचय पृष्ठ ५८-६४ (प्र० सं०); पृष्ठ ६४-७२ (द्वि० सं०)।

सहधर्मचारिणी का पूरा सहयोग प्राप्त न होता तो मैं भी अन्य साधारण साक्षर व्यक्तियों जैसा ही रहता। अस्तु

माता पिता की वेदपाठी ब्राह्मण बनाने की इच्छा थी। मैं उनकी इच्छानुरूप तो नहीं बन सका, हाँ प्रयत्न अवश्य किया है। ब्राह्मणत्व का अधिकारी बनने के लिये स्वाध्याय प्रवचन का संकल्प और अप्रतिग्रही होना आवश्यक है। इन तीनों की ओर अपना यथासम्भव ध्यान दिया है। इससे बहुधा संकटों का भी सामना करना पड़ा, परन्तु देवी के सहयोग और धैर्य के कारण परीक्षकाल निवृत्त हुआ।

मेरा जन्म भाद्र शुक्ला ८ सं० १९६६ तदनुसार २२ सितम्बर सन् १९०९ में हुआ। इस प्रकार मेरे वयः के ८० वर्ष पूर्ण हुए। इस काल में मैंने शिक्षा से लेकर मीमांसा पर्यन्त अङ्गोपाङ्गों का स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित पाठविधि से अध्ययन किया है। संस्कृत वाङ्मय के वैदिक और अवैदिक उभयविध महती ग्रन्थराशि का अध्ययन मनन और पारायण किया, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (३ भाग) वैदिकस्वरमीमांसा, वैदिकछन्दोमीमांसा सदृश मौलिक ग्रन्थ लिखे, अनेक दुर्लभ प्राचीन वैदिक ग्रन्थों तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती की महती ग्रन्थराशि का शोधोपयोगी सम्पादन और प्रकाशन किया। आर्यसमाज और परोपकारिणी सभा के साथ सम्पर्क रहा। इस सबका समुदित प्रभाव मेरे मन पर यह पड़ा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने विद्याबल और तपोबल से वेदोद्धार और वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार का जो कार्य किया, उसका शतांश भी उनके द्वारा स्थापित इन सभाओं ने नहीं किया। जो कुछ कार्य हुआ, वह अधिकतर व्यक्तिगत प्रयासों का फल है। इतना ही नहीं, अब तो आर्यसमाज के द्वारा जो कार्य हो रहा है, उसका ७५ प्रतिशत स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के विपरीत हो रहा है। सम्प्रति तो सामान्य व्यक्तियों और आर्यसमाजियों में कोई अन्तर ही नहीं है। यह सब गिरावट आर्यसमाज के नियमों की विशेषकर ३-४-५ की उपेक्षा के कारण हुआ है।

मैं कुछ वर्षों से अनेक क्षेत्रिय व्याधियों से पीड़ित हूं। स्वास्थ्य अति क्षीण हो चुका है। कुछ भी कार्य करने में असमर्थ हो चुका हूं। अतः अब बहालगढ़ (सोनीपत) छोड़कर ज्येष्ठ पुत्र बृहस्पति के पास फरीदाबाद में रहता हूं। मैंने अपने दीर्घकालीन अध्ययन मनन स्वाध्याय आदि से स्वामी दयानन्द सरस्वती को तथा उनके कार्य को जिस रूप में समझा

है, वह आर्यसमाज के विद्वानों से सर्वथा भिन्न है। अतः अत्यन्त अस्वस्थ तथा हाथ पैरों में यत्किंचित् कार्य करने की शक्ति न होने पर भी दो वर्ष पूर्व मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य को जिस रूप में समझा है, उसे शब्दबद्ध कर दूँ। इस समय में आर्यसमाज में कोई ऐसा विद्वान् नहीं है, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में मेरे बराबर जानता हो। दो व्यक्ति थे, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य का सही मूल्याङ्कन करने में समर्थ थे। उनके नाम हैं श्री पं० भगवद्दत्तजी (लाहौर निवासी) और श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु। ये दोनों महानुभाव स्वर्गत हो चुके हैं। इसलिये दो वर्ष पूर्व इस विचार को साकाररूप देने लगा। स्वास्थ्य ठीक न रहने से जब कभी तबीयत ठीक होती, ५-१० पंक्तियाँ लिख लेता। इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े रूप में लिखे जाने से इसमें लेखनसम्बन्धी कई त्रुटियाँ हैं। कई अंश दुबारा लिखे गये, कुछ छूट गये। इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी यह ग्रन्थ मेरे स्वामी दयानन्द सरस्वती विषयक मन्तव्यों और मेरे बिचारों को प्रकट करने में समर्थ होगा।

इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदोद्धार के विषय में ही लिखा है, क्योंकि मैं उनका यही कार्य प्रधान मानता हूं। सन् १९२५ तक आर्यसमाज स्वयं दयानन्द को **वेदों वाला** कहता तथा मानता था। मथुरा-जन्मशताब्दी की शोभायात्रा में **वेदां वलियाँ ऋषियाँ तेरे आवन दी लोड़** तथा **वेदों का डङ्का आलम में बजबा दिया ऋषि दयानन्द ने ये** दो भजन व गीत ही प्रमुख थे। स्त्रीसुधारक, समाजसुधारक, अछूतोद्धारक गोरक्षक, आर्यभाषा (हिन्दी) प्रसारक, स्वतन्त्रता का प्रचारक आदिरूप यदा कदा ही स्मरण किया जाता था। सम्प्रति दयानन्द को इन्हीं विशेषणों से विशेषित किया जाता है। उसका प्रमुख वेदों वाला स्वरूप हम भूल गये अर्थात् हमने दयानन्द के वेदोद्धाररूपी प्रमुख कार्य को सर्वथा भुला दिया।

**प्रकाशन में सहायता**---इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अमेरिका प्रवासी **श्री सुरेन्द्र मोहन वर्मा जी** ने २५००-०० दो सहस्र पाँच सौ रुपये सहायतार्थ भेजे हैं। जिस समय ये रुपये प्राप्त हुए तब प्रस्तुत ग्रन्थ छप रहा था। अतः इनकी इच्छानुसार इसकी छपाई में ही ये रुपये सहायता रूप में व्यय किये हैं। इस अयाचित सहायता के लिये मैं आपका बहुत आभारी हूं। प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि आपके द्वारा, जहाँ आप निवास करते

हैं, वैदिक धर्म का प्रचार प्रसार यथेच्छ रूप में हो और ऋषि दयानन्द के ऋण से उऋण होवें। सम्पूर्ण परिवार में वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा तथा प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता जाये।

इस पुस्तक की कापी को शोधने तथा प्रूफ देखने का महत्त्वपूर्ण कार्य श्री पं० चन्द्रदत्तजी व्याकरणाचार्य ने किया है। साथ ही अल्प समय में ही जिल्द बन्धवाकर तैयार करने में भी सहयोग दिया है। पुस्तक को अल्प समय में कम्पोज कर पूरा करने में श्री ओंकार त्यागी, ओंकार गगोटिया तथा दयाशंकर ने पर्याप्त प्रयत्न किया है। इसके लिए मैं इन सबको शुभाशीः प्रदान करता हूं।

विदुषां वशंवदः

**युधिष्ठिर मीमांसक**

## [द्वितीय संस्करण]

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने पर आर्यसमाज के कतिपय विद्वानों ने कड़ी आलोचना की। मैं पहले ही जानता था कि आर्यसमाज के कुछ व्यक्तियों को, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती को स्वरूप को पूर्णतया यथावत् नहीं जानते वा जिन्होंने जानने का प्रयत्न नहीं किया, वे मेरे इन विचारों से सहमत नहीं होंगे। इसका एकमात्र कारण मैं यह मानता हूं कि इन व्यक्तियों ने स्वामी दयानन्द सरस्वती को यथावत् जानने का प्रयत्न नहीं किया।[1] मैंने यथासम्भव स्वामी दयानन्द सरस्वती के विज्ञात सभी विचारों को लक्ष्य में रखकर विचार किया, तो उनका स्वरूप मुझे इतना दिव्य प्रतीत हुआ कि उस को हम यथावत् जानने वा थोड़े से शब्दों में बाँधने में भी असमर्थ हैं। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में लिखने से पूर्व उस पर गम्भीरता से पूरी तरह विचार कर लेना चाहिये। मेरी इस पुस्तक का लिखना भी ऋषि दयानन्द के उत्तमोत्तम स्वरूप को प्रकट करना ही है।

भाद्रपद सुदी, प्रतिपदा २०५०

अगस्त सन् १९९३

**युधिष्ठिर मीमांसक**

---

१. इसके परिज्ञान के लिये 'ऋषि दयानन्द का एक पत्र : आलोचनाओं की समीक्षा' मेरा लेख नवम्बर १९९० की वेदवाणी में पृष्ठ ९ पर देखें।

# मेरी दृष्टि में
# स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य

## विस्तृत विषय-सूची[1]


विषय — पृष्ठ

**महामानव को समग्ररूप में जानना आवश्यक** १

किसी महान् वस्तु को टुकड़े-टुकड़े में देखने की प्रवृत्ति (२), दयानन्द के समग्र दर्शन की आवश्यकता (४)।

**स्वा० द० स० को समग्ररूप में जानने के साधन** ५

**स्वा० द० स० को जानने के साधनों की व्याख्या** ५

१. जीवनचरित (५), २. स्वलिखित मुद्रित ग्रन्थ (६), ३. अमुद्रित ग्रन्थ (७), ४. हस्तलेख (७), ५. हस्तलेखों के मुद्रण के पश्चात् प्रेस कापी पर लिखित टिप्पणियाँ (७), परिणाम (८), ६. पत्रव्यवहार (९), ७. विज्ञापन (९), ८. शास्त्रार्थ (९), काशी-शास्त्रार्थ (१०), ९. प्रवचन (१२), मराठी भाषा में प्रवचनों के प्रकाशक (१३), नया मराठी अनुवाद (१३), मराठी अनुवाद का गुजराती अनुवाद (१३), बम्बई प्रवचन (१४), १०. गुजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं में (१४), ११. पत्र-पत्रिका आदि में उल्लिखित विविध घटनाओं का संकलन (१५), १२. प्रत्यक्षदर्शी व्यक्तियों के सम्पर्क द्वारा स्वा० द० स० के विषय में ज्ञान प्राप्त करना (१६)।

**स्वा० द० स० द्वारा प्राचीन ऋषि-मुनियों के मन्तव्यों से अविरुद्ध अज्ञात अंश** १८

**हमारे अल्पज्ञान के कारण स्वा० द० स० के लेखों में शङ्काओं का उदय होना** २०

वेदान्तदर्शन के अध्ययन से पूर्व उपनिषदों के अध्ययन-


---

१. इस विषय-सूची में मुख्य विषय और अवान्तर ऐसे विषयों की सूची भी दे दी है, जिनका मूलग्रन्थ में भिन्न टाइप से निर्देश नहीं किया।

विधान के समान मीमांसा के अध्ययन से पूर्व वेदाध्ययन का विधान क्यों नहीं किया ? (२०), अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करने का विधान क्यों नहीं किया ? (२२), यज्ञ में पत्नी का स्थान (२२), दो मन्त्रों से एक समिधा का आधान (२३), यज्ञों में हमारी अवैदिक कल्पनाएँ—भूमि खोदकर कुण्ड-निर्माण, यजमानादि का चौकी पर बैठना (२३-२८), भूमि (पृथिवी) से अन्यत्र जैवीय सृष्टि नहीं (२८)।

**स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित ग्रन्थ** ३०

१. सन्ध्योपासनविधि (३०), २. भागवतखण्डन (३०), ३. काशी-शास्त्रार्थ (३१), ४. सद्धर्म-विचार (३२), ५. अद्वैतमत-खण्डन (३२), ६. गर्दभतापिनी उपनिषद् (३२), ७. सत्यार्थप्रकाश प्र० सं० (३२), ८. अथ सभाष्यसन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधि (३३), ९. वेद-भाष्य का नमूना (३३), १०. वेदविरुद्ध-मत-खण्डन (३३), ११. वेदान्तिध्वान्त-निवारण (३३), १२. शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण (३३), १३. आर्याभिविनय (३४), १४. संस्कारविधि (३४), १५. चतुर्वेद-विषय-सूची (३४), १६. वेदभाष्य का दूसरा नमूना (३४), १७. ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका (३५), १८. वेदभाष्य (३५), १९. आर्यो-द्देश्यरत्नमाला (३५), २०. भ्रान्तिनिवारण (३५), २१. अष्टाध्यायी-भाष्य (३५), २२. आत्म-चरित (३६), २३. संस्कृत-वाक्य-प्रबोध (३६), २४. व्यवहारभानु (३७), २४. गोतम-अहल्या और इन्द्र-वृत्रासुर की सत्य-कथा (३७), २६-२७. भ्रमोच्छेदन, अनुभ्रमोच्छेदन (३७), २८. गोकरुणानिधि (३८), २९ से ४४. वेदाङ्गप्रकाश (३८), ४५. शास्त्रार्थ (३८), ४६. प्रवचन (३९), ४७. पत्र और विज्ञापन (३९)।

**लेखन कार्य** ४०

**स्वा० द० स० के लिखित ग्रन्थों का वर्गीकरण** ४०

**अन्य प्रकार से ग्रन्थों का वर्गीकरण** ४१

**स्वा० द० स० के मन्तव्य के विरुद्ध आचरण** ४३

यज्ञोपवीत (४४), पुराकाल में यज्ञोपवीत का स्वरूप क्या था (४५), श्रौत-स्मार्त यज्ञ (४६), यज्ञपात्र-लक्षण और पात्रों के चित्र (४७), अग्न्याधेय-दक्षिणा (४७), आदित्येष्टि की दक्षिणा (४७)।

**स्वा० द० स० के जीवन का एकमात्र लक्ष्य सत्य का अनुसन्धान** ४९

**स्वामी दयानन्द सरस्वती की ग्रन्थ-लेखनशैली—** ५०

कालभेद से ग्रन्थ-लेखन वा प्रवचन-शैली में अन्तर (५०), दृष्टादि शब्दों का अर्थ (५०), १. दृष्ट (५०), २. प्रोक्त, (५०), २. उपज्ञात (५०), ३. कृत (५१), ५. व्याख्यान (५१), १. समास व्यास (५२), द्विविध लेखन-शैली का कारण (५२), २. सूत्र एवं भाष्य (५३), ३. सिद्धान्त-पक्ष, अन्योक्तिनिदर्शन एवं एकदेशी समाधान (५५), [प्रौढोक्ति=एकदेशी समाधान आवश्यक ५६-५७], तृतीय शैली की दृष्टि से विशेष अध्ययन (५८)।

**स्वा० द० स० द्वारा लिखित ग्रन्थों के आधारभूत ग्रन्थ** ५९

**आधारभूत ग्रन्थों में महाभाष्य की प्रमुखता** ६२

वेदार्थ में महाभाष्य के वचनों का उपयोग (६३), सत्यार्थ-प्रकाश में (७१), भ्रमोच्छेदन में (७१), भागवतखण्डन में (७१), व्यवहारभानु में (७२), पत्रों में (७२), शास्त्रार्थ-में (७३), प्रवचनों में (७३), आ० स० के नियमों की व्याख्या में (७३)।

**स्वामी दयानन्द सरस्वती का ग्रन्थ-लेखनरूप महत् कार्य दुर्दशाग्रस्त हुआ** ७५

**अशुद्धियों का वर्गीकरण[क—पण्डितों के प्रमाद और अज्ञान से, ख—अन्य कारणों से]** ७६

(क)—१. पण्डितों की अनवधानता से उत्पन्न (७६), २. स्वा० द० स० द्वारा परिशोधित संस्कृत के अनुसार भाषानुवाद में शोधन न करना (७७), ३. हस्तलिखित पाठों में पण्डितों द्वारा परिवर्तन (७८), ४. पदपाठ के लेखन में पदों का अन्यथा लेखन (७८), ५. हस्तलेख में

आगे-पीछे लिखे गये पाठ के शुद्धीकरण के नियम के अज्ञान से हुई भूलें (७९), ६. पण्डितों का संशोधन में प्रमाद (७९), ७. अधूरा संशोधन (८०), ८. पण्डितों को यज्ञ-शास्त्र का परिज्ञान न होने से उन द्वारा पाठपरिवर्तन (८१), ९. पण्डितों को विभिन्न पञ्चाङ्गों का ज्ञान न होने से उनके द्वारा पाठपरिवर्तन (८२)।

(ख)—१. (स्वा० द० स०) के शरीर का स्वस्थ न होना (८३), २. सहायक ग्रन्थों के कारण अशुद्धियाँ होना (८५), ३. ऋक् यजुः साम और अथर्ववेद के योरोपीय संस्करणों के आश्रय के कारण अशुद्धियाँ होना (८७), ४. आधारभूत ग्रन्थ के अशुद्ध होने के कारण हुई अशुद्धियाँ (८९), [पण्डितों के प्रमाद के कारण अशुद्ध पूर्व-पाठों की विद्यमानता से रहस्यों का उद्घाटन] ५. परम्परा से प्रसिद्धि के कारण (९२), ६. स्मृति के आधार पर लिखने के कारण (९३)।

**वैदिक यन्त्रालय से छपे उत्तरवर्ती संस्करणों में परिवर्तन** ९५

१. संस्कारविधि में पाठपरिवर्तन (९५),

२. सत्यार्थप्रकाश में पाठपरिवर्तन (९७), [उनके नमूने वा भेद ९७-१०१]।

**स्वा० द० स० का प्रमुख कार्य—वेदों का उद्धार** १०२

पूर्वपीठिका (१०२), मध्यकालीन वेदविषयक मान्यता (१०५), परम्परागत वैदिक विद्वानों की वेदविषयक धारणा (१०६), उक्तमत की परीक्षा (१०६), याज्ञिकों और मीमांसकों के एक विशिष्ट मत की समीक्षा (१०७) स्वा० द० स० की वेदविषयक कतिपय मान्यताएँ (१११)।

**स्वा० द० स० को वेदविषयक ज्ञान कैसे हुआ ?** ११३

**वेदोद्धार कार्य में प्रवृत्त होना** ११८

**पुराकाल में वेदों का लोप और उद्धार** ११८

लोप—नष्टां वेदश्रुतिमिव (११९), वेद-व्यासों द्वारा उद्धार (११९), ब्राह्मणों में यथेच्छाचार की प्रवृत्ति (१२०), वेदविरोधी मतों का प्रादुर्भाव (१२१), स्वामी

शंकराचार्य द्वारा वेदोद्धार (१२२), 'अहं ब्रह्मास्मि' का मिथ्या भूत (१२४), भट्ट कुमारिल का वेदोद्धार कार्य (१२५), स्वामी शंकराचार्य की अद्वैत मत के प्रतिष्ठापन की पिपासा (१२६), महत्त्वपूर्ण तथ्य (१२६), अज्ञानरूपी गहरी खाई में पतन (१२७)।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदोद्धार कार्य (१२७), स्वामी शंकराचार्य एवं भट्टकुमारिल के समय की परिस्थितियाँ (१२७), स्वामी दयानन्द सरस्वती के समय की परिस्थितियाँ (१२८), उद्धार का एकमात्र मार्ग (१३०)।

**स्वा० द० स० के वेदोद्धार के प्रयत्न** १३१

वैचारिक उत्क्रान्ति (१३१), वेदभाष्य-रचना की पूर्व तैयारी (१३२), चतुर्वेद-विषय-सूची (१३२), वेदभाष्य के नमूने (प्रथम नमूना १३३, द्वितीय नमूना १३३), ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन (१३४), ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का वैशिष्ट्य (१३४), परोपकारिणीसभा के अधिकारियों का प्रमाद (१३५)।

वेदार्थ प्रक्रिया (१३५), त्रिविध मन्त्रार्थ-प्रक्रिया (१३५), व्यावहारिकी प्रक्रिया (१३७), स्वा० द० स० के वेदभाष्य पर आक्षेप (१३७), स्वा० द० स० द्वारा याज्ञिक प्रक्रिया का यथावत् स्वीकरण (१३७)।

**स्वा० द० स० और कर्मकाण्ड** १३८

विविध ग्रन्थों के उद्धरण (१३८), आधिदैविक प्रक्रिया (१४१), अध्यात्म प्रक्रिया (१४१)।

**तात्कालिक परिस्थिति** १४२

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदविषयक विविध प्रकार के भ्रमों का प्रसारण (१४३), पाश्चात्य मत के विपरीत स्वा० द० स० की घोषणा (१४३), स्वा० द० स० द्वारा करिष्यमाण द्विविध वेदार्थ (१४५)।

**ऋग्वेदभाष्य** १४७

प्रथम भाष्य (१४७), प्रथमभाष्य का परित्याग तथा दूसरे भाष्य का लेखन क्यों (१४८), द्वितीय भाष्य (१४८), जीवनकाल में छपे अंश से आगे के भाष्य की स्थिति (१४९)।

**यजुर्वेदभाष्य** १४९

यजुर्वेद की आरम्भविषयक दो शङ्काएँ और शङ्काओं का समाधान (१५०), भाष्यलेखन की समाप्ति (१५१), मुद्रण का आरम्भ और समाप्ति (१५१), जीवनकाल में छपा अंश (१५१), जीवनकाल में छपे अंश से आगे के भाग की स्थिति (१५२), यजुर्वेदभाष्य में छपा मन्त्रपाठ (१५२), भाष्य में अपपाठ (१५२)।

**स्वा० द० स० के वेदभाष्य को समझने के लिये विशेष निर्देश** १५३

१. वेदसंज्ञा केवल मन्त्रसंहिताओं की ही है (१५३), २. वेद के सभी पद यौगिक वा योगरूढ हैं (१५६), [अव्ययों और निपातों का धातुजत्व (१६०)]।

३. वेद में अनित्य इतिहास का अभाव (१६१), [उत्तर-काल में 'वेद में इतिहास पक्ष' में वृद्धि १६४, पाश्चात्य विद्वान् और वेद में इतिहास १६५, शन्तनु और देवापि का इतिहास और मैकडानल १६६, ऋग्वेद में श्रूयमाण गङ्गा यमुना आदि १८१, यमयमी सूक्त १७७, ब्राह्मणग्रन्थ और वेद में इतिहास १७९, निरुक्त में वेदविषयक इतिहास १७९, नैरुक्त इतिहास की परिभाषा १८१, इतिहास और आख्यान में भेद १८२, देवापि शन्तनु विषयक इतिहास १८३, इन्द्र वृत्र युद्ध १८५, ब्रह्म इतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति १८६, त्रित का इतिहास १८६, अश्विनौ और वर्तिका का आख्यान १९०, देवशुनी सरमा १९१, इतिहास और आख्यानों का एक अन्य प्रयोजन १९२, अनुक्रमणियों में निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं १९४]।

४. वेद में कुछ भी बुद्धिविपरीत नहीं (१९७),

५. वेदों में सब विद्याओं का मूलतः निर्देश है (२००)।

**ऋषि देवता और छन्दों पर विचार** २०५

**ऋषि के सम्बन्ध में विशेष विचार**—अचेतन पदार्थ ऋषि (२०८), मानवेतर ऋषि (२०९), ऋषि और देवता का ऐक्य (२१०), ऋषि नाम वास्तविक हैं वा

परिवर्तित (२१०), दृष्टलिङ्ग ऋषि (२१२), ऋषि-विचार का उपसंहार (२१३), स्वा० द० स० और मन्त्र-संबद्ध ऋषि (२१४)।

**देवता विचार**—देवता की परिभाषा (२१५), दो प्रकार के देवता (२१६), वेदार्थ की प्रक्रिया के भेद से देवताभेद (२१७), बहुदेवताओं का क्रमशः तैंतीस, तीन और एक में अन्तर्भाव (२१८), वेद में स्मृत ३३ देवताओं पर विचार (२१९)।

**छन्दोविचार**—छन्दों का लक्षण (२२०), वैदिक छन्दः-शास्त्र (२२१), छन्दों के दो प्रमुख भेद (२२१), पादबद्ध छन्द (२२१), अपादबद्ध छन्द (२२२), स्वा० द० स० और यजुर्मन्त्रों के छन्द (२२२), ऋग्वेद के छन्द (२२३), स्वा० द० स० के ऋग्भाष्य में छन्दों का निर्देश (२२४), सायण मोक्षमूलर विलसन द्वारा लिखित छन्दों का खण्डन (२२७), विशेष छन्दःशास्त्र (२२८)।

**मन्त्रों का विनियोग न लिखने का कारण** २२९

**सब भाष्यकारों से स्वा० द० स० एक कदम आगे—प्रतिमन्त्र षड्जादि स्वरों का निर्देश** २२९

**पदपाठ** २३०

ऋग्वेद का पदपाठ शाकल्यप्रोक्त (२३१), पदपाठों का स्वरूप (२३२), पदपाठ पौरुषेय (२३२), [पदप्रवक्ताओं की] अल्पज्ञता से भूल (२३२), पदकारों की प्रामाणिकता (२३४), पदपाठविरोध से सायण और महीधर की अशुद्धता दर्शाना (२३५), पदव्याख्यान की एक अन्य शैली (२३६)।

**अलंकार** २३७

वेदभाष्यकारों द्वारा अलङ्कारों का निर्देश (२३८), स्वा० द० स० द्वारा अलङ्कारों का भूयान् प्रयोग (२३९)।

**व्यावहारिक वेदार्थ** २४१

व्यावहारिक अर्थ में शङ्का एवं समाधान (२४१), स्वा० द० स० के वेदभाष्य को समझने की कुञ्जी (२४३)।

**वेदार्थ के सम्बन्ध में निरुक्तवृत्तिकार दुर्गाचार्य का एक वचन** २४४

**स्वा० द० स० के वेदभाष्य का विद्वानों पर प्रभाव** २४५

योगिराज अरविन्द (२४५-२४६),
प्रा० मैक्समूलर और स्वा० द० स० का वेदभाष्य (२५०), ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के विषय में मैक्समूलर का मत (२५०), स्वा० द० स० के वेदभाष्य के नियमित ग्राहक (२५१), स्वा० द० स० की मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स की वेदभाष्य-विषयक सम्मति के प्रति उत्सुकता (२५२), मैक्समूलर द्वारा स्वा० द० स० को इंगलैण्ड आने का निमन्त्रण (२५३), स्वा० द० स० का उत्तर (२५३), स्वा० द० स० का जीवनचरित लिखने की मैक्समूलर की आकांक्षा (२५३)।
मैक्समूलर के विचारों में परिवर्तन—[मैक्समूलर के] प्रारम्भिक विचार (२५४), उत्तरकालीन विचार (२५६)।

**वैदिक धर्म ने कोई भी बाह्य प्रभाव ग्रहण नहीं किया** २५६

वैदिक भाषा, साहित्य धर्म वा यज्ञ पर कोई भी बाह्य प्रभाव नहीं है (२५७)।

**बहुदेवतावाद वा एकदेवतावाद** २५७

केवल एक ही देव (२५८), वेद का चरम लक्ष्य (२५८)।

**खेद का स्थान** २६०

**पुरुषार्थ-चतुष्टय** २६२

१. आर्ष पाठविधि (२६२), २. परोपकारिणी सभा की स्थापना (२६३), ३. आर्यसमाज की स्थापना (२६४), ४. पं० गुरुदत्त पर शक्तिपात (२६६)।

**१. आर्षयुगीन शिक्षापद्धति का उद्धार** २६७

पुराकाल में वेद का लोप एवं उद्धार (२६७), ऋषियों का उत्क्रमण (२६७), प्राचीन शिक्षा-पद्धति (२६८), पठनीय ग्रन्थों की परीक्षा (२६९), आर्षग्रन्थों के विरुद्ध सामूहिक षड्यन्त्र (२६९), आर्षपाठविधि का प्रचलित न होना (२७३), गुरुकुल काङ्गड़ी की स्थापना (२७३)।

**आर्षपाठविधि का विभागीकरण** २७५

प्रथम कल्प (२७६), द्वितीय कल्प (२७७), तृतीय कल्प (२७७), चतुर्थ कल्प (२७७)।

**वर्तमानकालीन आवश्यकता** २७८

**२. परोपकारिणी सभा की स्थापना** २८०

प्रथम परोपकारिणी सभा की स्थापना (२८१), द्वितीय वार परोपकारिणी सभा की स्थापना (२८१), पहली धारा के प्रथम भाग का महत्त्व (२८२), परोपकारिणी सभा की एतद्विषयक उदासीनता (२८२), सत्यार्थप्रकाश के सन् १९९१ के संस्करण में परिवर्तन (२८५), अल्लोपनिषद् की समीक्षा का अंश (२८७), चार पाठों पर तुलनात्मक विचार (२८९-२९७)।

**३. स्वा० द० स० द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार के लिये आर्यसमाज की स्थापना** २९८

स्थापना-तिथि में परिवर्तन (३००), फूट का बीजारोपण (३०३)।

**आर्यसमाज के अतीतकाल का वर्गीकरण** ३०७-३२०

**साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति कैसे होती है?** ३२१

**वैदिक धर्मप्रचार यथेष्ट क्यों नहीं हुआ?** ३२४

स्थानीय प्रचारसमर्थ व्यक्तियों का सहयोग न लेना (३२६), आर्यसमाज की प्रतिनिधिसभाओं द्वारा प्रचार कार्य में बाधा डालना (३२७), साधारण व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले महत्त्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा (३२७), विधवाश्रम की स्थापना (३२८), मन्त्री वा प्रधान के अनुमतिपत्र के विना आर्यसमाजमन्दिर में प्रवेश न करने देना (३२९), आर्यसमाज में कन्यापाठशालायें चलाना या उन्हें जञ्ज (बारात) घर बना देना (३३०)।

**४. पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी को शक्तिपात द्वारा वेदार्थ का ज्ञान कराना** ३३२

**परिशिष्ट** ३३७-३३८

**१. स्वा० द० स० को समग्ररूप में न समझने के कारण होने वाली भ्रान्तियों का एक नवीनतम उदाहरण** ३३७

दो आलोचनाएँ (३३७), वस्तुस्थिति (३३८), पत्र,

विज्ञापन, उपदेश वा प्रवचन में देशकाल स्थिति का ध्यान रखना (३३८), इतिहास की एक कठिन समस्या हल हुई (३४१), प्रथम पत्र की प्रतिलिपि (३४२), द्वितीय पत्र की प्रतिलिपि (३४३), पत्रों की प्राप्ति का इतिवृत्त (३४५), विशेष (३४६), आलोचनाओं की समीक्षा (३४६), श्री स्वामीजी महाराज के आज्ञापत्र की प्रति (३४६), समीक्षा (३५०), विशेष (३६१), आवश्यक विचार (३६१)।

**२. ऋषिभक्त आर्यजनता सावधान! परोपकारिणी सभा द्वारा १०५ वर्षों के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश में अवाञ्छनीय परिवर्तन** ३६४

विशेष (३७०)।

**३. इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की दो विशिष्ट समालोचनाएँ** ३७२

प्रथम समालोचना (३७२), द्वितीय समालोचना (३७६)।

**४. समालोचनाओं की समीक्षा** ३८३

मेरी दृष्टि में

# स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य

## मेरी दृष्टि में

# स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य

### पूर्व भाग

इस ग्रन्थ को दो भागों में बाँटा गया है। प्रथम भाग में इस युग के महामानव स्वामी दयानन्द सरस्वती के महत्तम व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। दूसरे शब्दों में उनको सम्पूर्णरूप में समझने के जो साधन हैं, उनका सविस्तर वर्णन किया गया है और प्रसक्तानुप्रसक्त रूप में अन्य विषयों का भी वर्णन किया है। दूसरे भाग में उनके उस प्रधानतम कार्य का वर्णन किया है, जिसके लिये उनका प्रधानरूप में अवतरण हुआ था। वह है पाँच छः सहस्र वर्षों से वेद और वेदविद्या के सम्बन्ध में जो शनैःशनैः विकार उत्पन्न होते रहे और अन्त में वेदों का विशुद्धस्वरूप पूर्णरूप से दूषित हो गया था, उन सब दूषणों का निराकरण करके उसके विशुद्ध स्वरूप को जनता के सम्मुख उपस्थित करना। इस विषय की सप्रमाण विस्तृत विवेचना की है। उपसंहार में उन चार महत्तम कार्यों का वर्णन किया है, जिनका उद्देश्य अपने द्वारा किये गये वेदोद्धार एवं वेदविद्या को भविष्य में सुरक्षित रखना था। उनके ये चार कार्य अपने उद्देश्य में सफल हुए अथवा निष्फल रहे, इसकी विवेचना की है।

### महामानव को समग्ररूप में जानना आवश्यक

समस्त संसार का इतिहास इस विषय का साक्षी है कि जब भी कोई विशिष्ट पुरुष इस धरा पर उत्पन्न हुआ तो उस समय के लोग उसकी महत्ता को यथार्थरूप में समझने में असमर्थ रहे और उन्होंने अपने-अपने संकुचित ज्ञान के कारण उसे अपनी बुद्धि के अनुसार समझने की चेष्टा

की। इस कारण उसका समग्र व्यक्तित्व, जिसके लिये वह जिया और मरा तथा जिसका उसने उपदेश किया, वह कई विभागों में विभक्त हो गया। सभी व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उसके एक-एक भाग को लेकर उसका वही स्वरूप मानने लगे। इतना ही नहीं, उसके उपदेशों को त्याग कर उसका नाम स्मरण करने मात्र से अपना और समाज का कल्याण मानने लगे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के साथ भी वही हुआ और हो रहा है। इसको व्यक्त करने के लिये हम इस प्रवृत्ति के मूल कारण पर विचार करते हैं—

**(१) किसी महान् वस्तु को टुकड़े-टुकड़े में देखने की प्रवृत्ति**—जब हम किसी ऐसे महत् पदार्थ को देखते हैं, जिसको एक बार में ही समग्ररूप में जानने में असमर्थ होते हैं, तो उसके टुकड़े-टुकड़े करके देखने का प्रयत्न करते हैं। यथा, पृथ्वी को कोई भी व्यक्ति एक साथ समग्ररूप में देख नहीं सकता, तो उसके द्वीप, उपद्वीप, प्रायद्वीप और महाद्वीप आदि अनेक प्रकार के विभागों की कल्पना करके जानने का प्रयत्न करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका एक उदाहरण दिया है। किन्हीं पाँच जन्मान्धों के समीप हाथी को खड़ा करके उसके स्वरूप को बताने का आदेश किया। सबने स्व-स्व अनुभूत भागों की दृष्टि से हाथी का वर्णन किया। एक ने हाथी के पैरों को छुआ और कहा, हाथी खम्भे के समान है। दूसरे ने पीठ को छूकर चबूतरे के समान कल्पना की। तीसरे ने कानों को स्पर्श करके शूर्पवत् कल्पना की। चौथे को गोलमटोल सूँड हाथ आया तो उसने लम्बे गोल बाहुवत् कल्पना की। पाँचवें ने पूँछ पकड़ कर मोटी रस्सी से मेल खानेवाला स्वरूप हाथी का समझा। वस्तुतः ये कल्पनाएँ एक अंश रूप में सत्य होते हुए भी हाथी के समग्र-रूप का वर्णन करने में न केवल असमर्थ; अपितु भ्रान्तिजनक भी हैं। यह प्रवृत्ति जहाँ भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में सत्य है, वहीं महामानवों के सम्बन्ध में भी यथावत् घटती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के बहु-आयामी व्यक्तित्व के विषय में भी साधारणजनों ने विविध कल्पनाएँ कीं। किसी ने उन्हें स्वराज्य का मन्त्रदाता माना, किसी ने नारी का उत्थापक तो अन्य ने दीन-दुखियों का मसीहा बताया। इस प्रकार स्वामी दयानन्द के विषय में एक-एक अंश को लेकर उनके शतशः स्व-रूपों की कल्पना की। इसका मूल कारण यही था कि जिसका ज्ञान जहां

तक सीमित था, उसने वहीं तक स्वामीजी को समझा[1]।

साधारणजनों का मस्तिष्क अपने-अपने सामर्थ्य के अनुरूप सीमित सीमिततर-सीमिततम होता है। अतः उनको अपने सामर्थ्य के अनुसार ही महामानव का स्वरूप समझ में आता है। अनेक जन्मों की संसिद्धि से महामानव का मस्तिष्क बहुत विशाल होता है। सीमित मस्तिष्क वालों की चेष्टाएँ भी सीमित होती हैं। यह हम विभिन्न प्राणियों के व्यवहार में नित्यप्रति देखते हैं। परन्तु जब उसी साधारण प्राणी को कोई प्रशिक्षित व्यक्ति योग्य प्रशिक्षण द्वारा विशेष कार्य में शिक्षित कर देता है तो हम उसके कार्य को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

मानव का मस्तिष्क अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित होता है। अतः उसका ज्ञान और कार्य भी अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। परन्तु वह भी नैमित्तिक ज्ञान की अपेक्षा रखता है। अन्यथा उसमें तथा वन्य प्राणियों में विशेष भेद नहीं होता।[2] स्वाभाविक ज्ञानयुक्त प्राणियों के ज्ञान और कर्म सीमित होते हैं। जिस मानव को बाल्यकाल में जितनी शिक्षा की सुविधा और शिक्षक के रूप में उत्तम

---

१. अभी तक तो स्वामी दयानन्द सरस्वती के विभिन्न कार्यक्षेत्रों को ही एकाङ्गीरूप में देखा जाता था, परन्तु अब उनके लेखन कार्य को, जो विषय विभाग की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध थे, को भी सर्वथा स्वतन्त्र ग्रन्थवत् देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है। इतना ही नहीं, एक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि (रफ कापी) और संशोधित प्रति (प्रेस कापी) को भी परस्पर संबद्ध न मानकर पाण्डुलिपि (रफ कापी) को ही प्रधानता देनी आरम्भ कर दी है। परोपकारिणी सभा ने सत्यार्थप्रकाश का सन् १९९१ में जो ३७वाँ संस्करण छापा है, वह पाण्डुलिपि को प्रधानता देकर छापा गया है। इससे पूर्व के ३६ संस्करण संशोधित प्रेस कापी के अनुसार छपते रहे हैं।

२. नवविवाहित वधू का एक आशीः मन्त्र है—"वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।" (अथर्व १४।२।२५)।

ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ पञ्चपशुओं का वर्णन आता है, उनमें अश्व, गो, अवि, अज के साथ पाँचवें पशु के रूप में पुरुष की भी गणना मेध्य पशु की श्रेणी में की गई है। देखिए—ऐतरेय ब्राह्मण (२।८) तथा शतपथब्राह्मण (१।२।३।६-७)।

माता-पिता और आचार्य उपलब्ध होते हैं, उसका मस्तिष्क उसी के अनुरूप अधिकाधिक विकसित होता है।[1]

कभी-कभी इसके विपरीत भी देखने में आता है। परन्तु इसका कारण वर्तमान जन्म में ढूँढ़ने पर नहीं मिलता। अतः उसकी इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध पूर्वजन्म के साथ होने से उसे पूर्वजन्मकृत संस्कार के अनुरूप उसकी व्याख्या करनी चाहिए। कहा भी है—**परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः**।

(२) **दयानन्द के समग्र दर्शन की आवश्यकता**—मेरे विचार में कोई भी व्यक्ति स्वामी दयानन्द सरस्वती के उस समग्र व्यक्तित्व को नहीं देखता, जो उनके अन्तराल एवं कार्यों में दूध में मक्खन के समान सर्वाङ्गरूप से व्याप्त है। उदाहरण के लिए हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के एक ऐसे कार्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जिस ओर आर्यसमाज के किसी विद्वान् का ध्यान नहीं गया।

भारत के स्वातन्त्र्योत्तर कृषि की उन्नति के लिये पाश्चात्य देशों के अनुकरण पर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है; परन्तु आज से **१२०** वर्ष पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कृषि की उन्नति के लिये **गोकृष्यादिरक्षिणी सभा** की स्थापना की थी और उसके नियमोपनियम बनाये थे। जब दयानन्द के अनुयायियों का ध्यान भी इस ओर नहीं गया तो भला औरों का कैसे जाता? स्वामी दयानन्द सरस्वती गोरक्षा और कृषिरक्षा वा कृषि की उन्नति का चोली दामन सदृश घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते थे। गोरक्षा के बिना कृषि की रक्षा वा उन्नति हो ही नहीं सकती, अतः उन्होंने **गोकृषि रक्षिणी सभा** के नियमोपनियम **गोकरुणानिधि** पुस्तक के उत्तरार्ध में दिये हैं।[2]

---

१. मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद॥ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास २ के आरम्भ में।

२. गोकरुणानिधि पुस्तक के अनेक प्रकाशकों ने **गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के नियमोपनियमों** को अप्रासंगिक अथवा अनावश्यक समझकर इनको छापा ही नहीं। इसी प्रकार से इस ग्रन्थ के अन्य भाषाओं में अनुवाद करनेवालों ने भी इस भाग को अनावश्यक समझकर इसका अनुवाद नहीं किया।

## स्वा० द० स० को समग्ररूप में जानने के साधन

स्वामी दयानन्द सरस्वती को समग्ररूप से जानने के लिये उनके (१) सभी **जीवनचरितों**, उनके द्वारा लिखे गये (२) **सम्पूर्ण मुद्रित और** (३) **अमुद्रित ग्रन्थों**[1], उनके समस्त (४) **हस्तलेखों**, हस्तलेखों पर मुद्रण के अनन्तर उनके द्वारा लिखी गई (५) **टिप्पणियों**, (६) **सहस्राधिक प्राप्त पत्रों** (७) **शतशः विज्ञापनों** एवं उनके विभिन्न (८) **शास्त्रार्थों** तथा (९) **प्रवचनों** का अत्यन्त गम्भीरता से अध्ययन एवं मनन आवश्यक है।[2] इनके अतिरिक्त (१०) गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओं में उनके समकालीन अनुयायियों, विरोधियों तथा तटस्थ देशी-विदेशी व्यक्तियों द्वारा लिखित ग्रन्थों और तात्कालिक पत्र-पत्रिकाओं में उल्लिखित **वृत्तान्तों** वा (११) **घटनाओं** का परिज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है।[3]

## स्वा० द० स० को जानने के साधनों की व्याख्या

**१—जीवन-चरित**—किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझने के लिये प्रथम आधार होता है—**जीवन-चरित**। जीवन-चरित दो प्रकार का होता है—(१) अन्य व्यक्ति द्वारा संकलित, (२) स्वयं लिखित। अन्य व्यक्तियों के द्वारा संकलित जीवन-चरित उस व्यक्ति के सम्पर्क में आये व्यक्तियों के कथनों, अनुश्रुतियों तथा तात्कालिक समाचारपत्रों में छपे वृत्तान्तों पर आधृत होता है। इसके साथ ही लेखक, जिसका वह चरित लिख रहा है, के साथ क्या और किस रूप का संबन्ध है, इसका चरित लेखन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, अतः यह चरितीय व्यक्ति के व्यक्तित्व का यथातथ रूप में निदर्शक माना जाता है। स्वयं

---

१. आज तक भी परोपकारिणी सभा ने उनके कुछ ग्रन्थ नहीं छापे हैं। यथा अष्टाध्यायी भाष्य चतुर्थ अध्याय, तथा ऋग्वेद भाष्य के प्रथम मण्डल के लगभग ६५ सूक्तों का व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक द्विविध अर्थ वाला बृहद्भाष्य।

२. इन सबके ऐतिहासिक पहलुओं को जानने के लिये हमारा 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' देखना चाहिये।

३. इस विषय के परिज्ञान के लिये भी 'ऋ० द० स० के ग्र० का इतिहास' देखें। प्रकृत लेख में भी हम आगे इसका उल्लेख करेंगे।

लिखित चरित में लेखक प्रायः अपने जीवन की उत्कर्षता एवं सद्गुणों का विशेष लेखन करते हैं। ऐसे विरले ही नीरजस्तम व्यक्ति होते हैं, जो विना संकोच के अपने जीवन के शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षों का यथावत् निदर्शन करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपना आत्म चरित लिखना आरम्भ किया था, परन्तु वे प्रारम्भिक भाग (सन् १८६० तक) का अति संक्षिप्त वृत्तान्त ही लिख पाये। सन् १८७५ में पूना के १५वें प्रवचन में अपने जीवन की घटनाओं का अति संक्षिप्त उल्लेख किया था। ये दोनों उनके उत्तरवर्ती जीवन-चरितों के लेखकों के लिये प्रारम्भिक वृत्त जानने में कुछ सहायक बने।

२—**स्वलिखित मुद्रित ग्रन्थ**—स्वयं लिखित ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जिनका लेखन लेखक स्वहस्त से करता है, और दूसरे वे जिनको लेखक बोलकर किसी लिपिकर द्वारा लिखवाता है। इनमें स्वहस्त-लिखित ग्रन्थ अधिक प्रामाणिक होते हैं। दूसरे में लिपिकर की विविध-प्रकार की भूलों की पूरी संभावना रहती है। यदि लिखानेवाला लिपिकर द्वारा लिखे गये लेख को स्वयं पढ़कर उसका यथोचित संशोधन नहीं करता, तो उसके प्रामाण्य में न केवल न्यूनता आती है, अपितु लिपिकर के दोषों के कारण लेखक बहुधा हास्यास्पद स्थिति को भी प्राप्त हो जाता है।[1]

यद्यपि लेखक द्वारा लिखित ग्रन्थों से उसके व्यक्तित्व पर जो प्रकाश पड़ता है, वह निस्सन्देह प्रामाणिक होता है, तथापि वह उसके व्यक्तित्व का एकदेशमात्र होता है। कभी-कभी लेखक के ग्रन्थों से उसके व्यक्तित्व को यथावद् जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि लेखक ग्रन्थ लिखते समय अत्यन्त सावधानता वर्तता है। वह अपने व्यक्तित्व के जिस अंश को जिस रूप में प्रकट करना चाहता है, उसी के अनुरूप वह लेखन करता है।

---

१. स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में अष्टाध्यायीभाष्य, यजुर्वेदभाष्य का आधा भाग और ऋग्वेदभाष्य के प्रथम मण्डल से आगे का भाग लेखक द्वारा असंशोधित पाण्डुलिपि के आधार पर ही छपा है। इनमें ऐसे अनेक स्थल हैं। यथा यजुर्वेद अ० ३२, कण्डिका ३ में 'हिरण्यगर्भ इत्येषः' आदि को एक पक्ष में पूर्व पठित मन्त्रों की प्रतीक लिखा गया है और पक्षान्तर में मन्त्रांश स्वीकार करके अर्थ योजना भी दर्शाई है। यदि ये प्रतीकें हैं तो मन्त्रांश नहीं हो सकते, मन्त्रांश हैं तो प्रतीकें मानना परस्पर विरुद्ध है।

(३) **अमुद्रित ग्रन्थ**—स्वामी दयानन्द के निधन को १०७ वर्ष व्यतीत हो गए हैं। पर अभी तक परोपकारिणी सभा के संग्रह में उनके लिखित तथा तैयार कराए गए अनेक ग्रन्थ अमुद्रित ही पड़े हैं। यथा—अष्टाध्यायी का चतुर्थ अध्याय, ऋग्वेद का ६५ सूक्तों का द्वयर्थक भाष्य, हिन्दी कुरान आदि-आदि।

(४) **हस्तलेख**—स्वामी दयानन्द ने जितने ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें मुद्रित और अमुद्रित ग्रन्थों के हस्तलेख परोपकारिणी सभा के संग्रह में विद्यमान थे। अब उनमें से कतिपय हस्तलेख नष्ट हो गए हैं। सन् १९३५ में पूज्य गुरुवर्य ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के साथ मिलकर सम्पूर्ण हस्तलेखों का विवरण तैयार किया था। इस विवरण में आधुनिक सूची-पत्र बनाने के नियमानुसार प्रत्येक ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या, प्रतिपृष्ठ पंक्ति-संख्या, प्रतिपंक्ति अक्षरसंख्या देकर अन्त में विशेष विवरण लिखा था। जिन ग्रन्थों के एक से अधिक हस्तलेख हैं, उन सभी का इसी प्रकार विवरण तैयार किया था। कालान्तर में कोई हस्तलेख नष्ट हो जावे तो उसका इस विवरण से पूरी तरह पता चल सकता है। यह भी इस विवरण का मुख्य उद्देश्य था। समस्त हस्तलेखों का विवरण मैंने "**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**" पुस्तक के प्रथम परिशिष्ट में पृष्ठ २९८ से ३१७ तक यथावत् दिया है। द्रष्टव्य—संवत् २०४० का द्वितीय संस्करण। पुनरुक्ति दोष के कारण हम उसे यहां नहीं दे रहे हैं। जो इस विषय के जिज्ञासु पाठक हैं, वे हस्तलेखों का यथावत् परिचय उक्त ग्रन्थ में देख सकते हैं।

(५) **हस्तलेखों के मुद्रण के पश्चात् प्रेस कापी पर लिखित टिप्पणियाँ**—जब कोई ग्रन्थ या उसका एकदेश छापकर स्वामीजी के पास अवलोकनार्थ भेजा जाता, तो प्रेस कापी का अंश भी भेजा जाता था, ताकि वे मिलान करलें कि ग्रन्थ यथावत् मुद्रित हुआ भी है या नहीं। ऐसी टिप्पणियाँ प्रेस कापी पर पर्याप्त पाई जाती हैं। हम उनमें से निदर्शनार्थ दो टिप्पणियाँ उद्धृत करते हैं—

(क) यजुर्वेद-भाष्य के आठवें अध्याय के १४वें मन्त्र की प्रेस कापी पृष्ठ १०२ के किनारे (हाशिया) पर—

"सर्वत्र [मन्त्र संहिता में] त्वष्टा ही है। इसको मन्त्र और पद [पाठ] में त्वष्ट्रा को ही शोध के त्वष्टा बना ही दिया। **जिसको हम**

**करते हैं वह तो ठीक होता है, जो दूसरों से कराते हैं वही गड़बड़ होता** है। हमने मन्त्र और पद [पाठ] शोधवाया था सो शुद्ध है, बाकी पण्डितों से शोधवाया था वही अशुद्ध रहा।"

**परिणाम**—इसका तात्पर्य यह है कि जिस अशुद्ध पाठ को स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वयं ठीक कर देते थे, वह तो शुद्धरूप में मुद्रित होता था और जिसके शोधन का भार पण्डितों पर छोड़ दिया जाता था, वह पण्डितों की लापरवाही से अशुद्ध ही छपता रहा।

हमने इस टिप्पणी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझकर हस्तलेख के पत्रों में ही छिपी पड़ी न रहे, इसलिए **"ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन"**, पूर्ण संख्या ५८०, भाग २, पृष्ठ ६१७ पर छाप दिया है।

इस टिप्पणी के लिखने पर भी वेदभाष्य के संस्कृत पदार्थ में "त्वष्टा" के स्थान में "त्वष्ट्रा" तृतीयान्तरूप समझकर **"तनूकर्त्रा"** और हिन्दी पदार्थ में (त्वष्ट्रा) अगले संस्करणों में भी छपता रहा। भला इससे अधिक अनर्थ और क्या हो सकता है?

(ख) यजुर्वेद-भाष्य के १३वें अध्याय के ४७ से ५२ तक के मन्त्रों के भाष्यों से ऐसी ध्वनि निकलती थी कि स्वामी दयानन्द सरस्वती मांस-भक्षण के पक्ष में हैं। वैदिक यन्त्रालय काशी के प्रबन्धक मुंशी समर्थदान ने उन कम्पोज किए हुए पृष्ठों को संशोधनार्थ स्वामीजी के पास भेजा तो उन्होंने उसे संशोधित करके वापिस भेज दिया; परन्तु यजुर्वेदभाष्य अध्याय १३ की प्रेस कापी पृष्ठ ६६६ पर लिखा—

"जैसा इसको शोध के भेजते हैं। वैसा पुनः कम्पोज करके छपवा दो और जो कहीं शोधने में भूल रह गई हो तो तुम वहाँ शोध लेना, **जिससे मांसभक्षण का अभिप्राय कुछ भी न रहे**। बाकी सब पत्रों के उत्तर कल भेजेंगे और अगले अंक के पन्ने तथा थोड़े से सत्यार्थप्रकाश के पन्ने भी भेजेंगे।"

इस पत्र के साथ १७ मार्च १८८३ को मुंशी समर्थदान के नाम लिखा हुआ पत्र भी मिलाकर पढ़ें।

प्रसङ्गात् वैदिक यन्त्रालय काशी में संशोधन का कार्य करनेवाले भीमसेन शर्मा का पत्र भी द्रष्टव्य है, जिसमें प्रेस में पहुंची हुई प्रेस कापी के दोषों का वर्णन है।

"वेदभाष्य में इतना संशोधन होता है कि भूमिका कहीं छूट गयी, किसी मन्त्र का अन्वय छूट गया बना दिया। किसी पद का अर्थ पदार्थ में रह गया, रख दिया। बहुतेरे पद पदपाठ में नहीं होते, मन्त्र देखकर रख देता हूं। बहुतेरे स्वर अशुद्ध होते हैं बना देना। बाकी कम्पोज में जो अशुद्धि हो।"

द्र०—पत्र और विज्ञापन, पूर्ण संख्या २०४, भाग ३, पृष्ठ १९७, पं० १२-१५, प्र० सं०।

(६) **पत्रव्यवहार**—किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को यथावत् समझने में उसके द्वारा **विविध व्यक्तियों को लिखे गये पत्र सबसे अधिक सशक्त एवं प्रामाणिक साधन हैं**। कोई भी व्यक्ति अपने सम्बन्धी, मित्र एवं श्रद्धालु व्यक्ति को पत्र लिखते समय किसी प्रकार की विशेष सावधानता नहीं वर्तता। यतः वह पत्र निजी तौर पर लिखता है, अतः वह पत्र में अपने भावों को यथावत् प्रकट करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता अर्थात् उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं होती है।

(७) **विज्ञापन**—स्वामी दयानन्द सरस्वती जहाँ भी जाते थे, वहाँ अवैदिक मतों के निराकरणार्थ प्रवचन, शङ्कासमाधान एवं शास्त्रार्थ-विषयक विज्ञापन प्रकाशित किया करते थे। अभी तक ६० विज्ञापन हमें प्राप्त हो चुके हैं। उन विज्ञापनों में कुछ ऐसे विज्ञापन भी हैं, जिनमें ग्रन्थ-निर्माण सम्बन्धी उल्लेख हैं; पौराणिक कथाओं का सत्यस्वरूप वर्णित है; सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में छपे कुछ अंशों की अमान्यता घोषित करनेवाले भी हैं; कुछ में भावी कार्य की योजना का उल्लेख है। इस दृष्टि से ये विज्ञापन भी स्वामी दयानन्द सरस्वती के हृद्गत भावों को समझने में परम सहायक हैं।

(८) **शास्त्रार्थ**—स्वामी दयानन्द ने अवधूत अवस्था से लेकर निधन-काल पर्यन्त वेद-विरोधी विपक्षियों से सहस्रों छोटे-मोटे शास्त्रार्थ किए थे। यद्यपि अनेक शास्त्रार्थों के कुछ अंश प्राप्त होते हैं, परन्तु जो शास्त्रार्थ पूर्णरूप से उपलब्ध होते हैं अथवा लिखित रूप में किए गए, ऐसे शास्त्रार्थों की संख्या स्वल्प है; क्योंकि विपक्षी लिखित शास्त्रार्थ से कतराते थे। जो प्रामाणिक शास्त्रार्थ उपलब्ध होते हैं, उनकी संख्या केवल आठ है। इन्हें हमने "**ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**" नामक संग्रह में प्रकाशित किया है। इन शास्त्रार्थों के कुछ प्रसङ्ग अति गहन हैं, जिन पर आज भी विचार करना आवश्यक है।

**काशी-शास्त्रार्थ**—गङ्गा के तट पर भ्रमण करते हुए कौपीनमात्र-धारी स्वामी दयानन्द सरस्वती कार्तिक कृष्णा द्वितीया या तृतीया संवत् १९२६ (२२ या २३ अक्टूबर १८६९) को काशी पधारे। वहाँ पहुंचते ही मूर्तिपूजा के विरोध में बड़े-बड़े विज्ञापन छपवाकर काशी के दिग्गज पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए आहूत किया। इससे समस्त नगर में खल-बली मच गई। बाबा विश्वनाथ के मन्दिर का गढ़ भी चलायमान हो गया। काशीनरेश के प्रोत्साहन से पण्डितों ने स्वामी जी से शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया और उसकी तैयारी के लिए पर्याप्त समय तक रातों जाग-जाग कर तैयारी की। अन्त में कार्तिक सुदि १२ मङ्गलवार संवत् १९२६ वि०(=१६ नवम्बर १८६९ ई०)के दिन महाराज काशी-नरेश की अध्यक्षता में पण्डितों की अपार सेना अकेले महारथी दयानन्द सरस्वती से शास्त्रार्थ करने के लिए "आनन्दबाग"(दुर्गाकुण्ड के समीप) नामक धर्मक्षेत्र में एकत्रित हुई। इस शास्त्रार्थ में महाराज काशीनरेश के आश्रित तथा काशी के अन्य अनेक पण्डितों ने भाग लिया था, जिनमें स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती, पं० बालशास्त्री, ताराचरण तर्करत्न आदि प्रमुख थे।

इस शास्त्रार्थ का मुख्य विषय **मूर्तिपूजा वेदविहित है वा नहीं** था। परन्तु काशी के पण्डित इस विषय में अपने को असमर्थ देखकर विषयान्तर में शास्त्रार्थ करने लगे।[1]

इस शास्त्रार्थ में कलकत्ता के प्रसिद्ध विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी भी विद्यमान थे। उन्होंने ऐतरेयालोचन ग्रन्थ के पृष्ठ १२७ पर लिखा है कि इस शास्त्रार्थ में पक्ष-प्रतिपक्ष की ओर से उन्हें लेखक नियुक्त किया

---

१. काशी के पण्डितों की यह आदत विगत सौ वर्षों में भी नहीं बदली। सन् १९६४ के ११ नवम्बर से १८ नवम्बर तक होनेवाले सर्ववेदशाखा सम्मेलन में मेरे साथ जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसका विषय था **वेद में विज्ञान है या नहीं**। परन्तु पण्डित लोग प्रतिप्रकरण निरुत्तर होते हुए प्रकरणान्तरों में शास्त्रार्थ करते रहे। काशी शास्त्रार्थ के साथ एक साम्यता और भी थी। मैं पुस्तकरूपी आयुध से रहित अकेला ही पचासों पण्डितों से जूझता रहा। अन्त को लल्लो-चप्पो करके पुरी के शंकराचार्य निरञ्जनदेव तीर्थ ने जो मेरे पूर्वाश्रम के परिचित थे—शास्त्रार्थ समाप्त किया।

गया था।[1] पण्डित सामश्रमी ने इस शास्त्रार्थ का ब्यौरा अपनी "प्रत्न-कम्रनन्दिनी (The Hindu Commentator) दिसम्बर सन् १८६९ के अंक में संस्कृत में प्रकाशित किया था, जो कि इस "**काशी शास्त्रार्थ**" से पर्याप्त मिलता है।

सभा के विसर्जन की भी एक विशिष्ट कहानी है। काशी नरेश ने स्पष्ट कहा था—"**षड्भिर्महारथैः अभिमन्युर्यथा हतः**" इसका तात्पर्य स्पष्ट है। परन्तु कोटपाल के विशेष प्रबन्ध से यह दुर्घटना होते-होते बच गई।

काशी-शास्त्रार्थ का संस्कृत भाग स्वामी दयानन्द सरस्वती का अपना लिखा हुआ है। उसमें और पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा प्रकाशित शास्त्रार्थ में कहीं-कहीं क्रमविपर्यास तो है पर मूल में कोई अन्तर नहीं। इसका हिन्दी अनुवाद काशी के मुंशी हरवंशलाल और गोपीनाथ पाठक में से किसी एक का किया हुआ है।

इस शास्त्रार्थ के अन्त में शास्त्रार्थ के आगे-पीछे जिज्ञासु लोगों ने जो प्रश्न पूछे थे, उनका भी उत्तर दिया हुआ है, जो दयानन्द की उत्तर-कालीन मान्यता से कहीं-कहीं विपरीत है। इस भाग का नाम 'सद्धर्म विचार' था न कि '**सत्यधर्मविचार**'। पण्डित लेखरामजी ने पुस्तक का नाम **सत्यधर्मविचार** लिखा है। शास्त्रार्थ १६ नवम्बर १८६९ को हुआ था। इसका पहला संस्करण जो २०×३० सोलहपेजी में काशी से छपा था, उसके पूर्वार्ध में काशी शास्त्रार्थ था और उत्तरार्ध में सद्धर्म विचार। यह दुर्लभ पुस्तक जयपुर के पोशीखाने में सुरक्षित है। श्री ब्रजमोहन जावलिया के विशेष प्रयत्न से हमें इसकी एक प्रति प्राप्त हुई थी, जिसे हमने "वेदवाणी" के अंक [५] में यथावत् छापा था। प्रतिपृष्ठ उतनी ही अक्षर संख्या रखने का प्रयत्न किया था, जितना मूल में है। इसके प्रथम संस्करण के मुख पृष्ठ पर यह छपा है—

---

२. परमहो काश्यामानन्दोद्यानविचारे यत्र वयमास्म मध्यस्थाः, विशेषतो वादि-प्रतिवादिवचसामनुलेखनेऽहमेक एवोभयपक्षतो नियुक्तः। ऐतरेयालोचन, पृष्ठ १२७।

अथ शास्त्रार्थ
और
सद्धर्मविचार
श्री दयानन्द सरस्वती स्वामी के प्रति
मित्र औ बन्धुवर्ग की प्रसन्नता के
हेतु मुन्शी हरवंशलाल की स
म्मति से गोपीनाथ पाठक ने
बनारस लाइट यंत्रालय में
मुद्रित किया संवत्
१९२६
—:०:—
BENARES :
PRINTED AT THE BENARES LIGHT PRESS
1869.

इससे ज्ञात होता है कि शास्त्रार्थ के एक महीने के भीतर ही यह प्रकाशित हो गया था।

वैदिक यन्त्रालय अजमेर से जो काशी-शास्त्रार्थ छपता है, उसमें जहाँ पर ब्राह्मणग्रन्थों का वेद के नाम से उल्लेख है, वहाँ-वहाँ पर "**पण्डितानामेव मतमङ्गीकृत्योक्तमतो नेदं स्वामिनो मतम्।**" तथा "**इदमपि तन्मतमनुसृत्योक्तं, नेदं स्वामिनो मतं वेदितव्यम्**" इत्यादि टिप्पणियाँ मिलती हैं, वे सर्वथा असत्य हैं; क्योंकि प्रथम संस्करण में उनका उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं, काशीशास्त्रार्थ के समय तक स्वामीजी ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद मानते थे। ब्राह्मणग्रन्थों को वेद न मानने का सिद्धान्त उन्हें संभवतः संवत् १९३० में उपज्ञात हुआ था; क्योंकि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस मत का प्रबल खण्डन किया है।

(९) **प्रवचन**—जितने भी प्रवचन संवत् १९३० से पहले किए वे प्रायः संस्कृत भाषा में ही निबद्ध थे। उसके पश्चात् जब श्री केशवचन्द्रसेन के अनुरोध पर हिन्दी में भाषण वा प्रवचन करने आरम्भ किए तो पन्द्रह प्रवचन पुणे नामक नगर में हिन्दी में हुए, उनका तत्काल ही मराठी अनुवाद करके प्रकाशित कर दिया गया। सुनने में तो यह आता है कि छावनी में उनके ५० प्रवचन हुए थे; परन्तु उनका रिकार्ड नहीं रक्खा

गया । अतः पूनाप्रवचन के नाम से केवल १५ प्रवचन उपलब्ध होते हैं ।

**मराठी भाषा में प्रवचनों के प्रकाशक**—जहाँ तक ज्ञात हुआ है, भाषणों का सारांश मराठी भाषा में न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे के द्वारा किया गया था ।[1] सभी प्रवचन पुणे के बुधवार पेठ में तांबड़े जोगेश्वरी [मन्दिर और वेद-पाठशाला के मध्य] जवर्शल भिड़े के बाड़े में हुए थे । ये व्याख्यान २०×२६ अठपेजी आकार में पुस्तिकाओं [ट्रैक्ट]के रूप में छपे थे ।

पूनाप्रवचन हिन्दी में उपदेशमञ्जरी नाम से लोक में प्रसिद्ध हुए । परोपकारिणी सभा, अजमेर ने सन् १८७५ में पूना हाई स्कूल के सहायक मुख्याध्यापक श्री गणेश जनार्दन आगाशे बी० ए० से हिन्दी में कराए थे । यह हिन्दी अनुवाद हमें केवल छह-सात व्याख्यानों का ही उपलब्ध हुआ है ।

**नया मराठी अनुवाद**—पूना प्रवचनों का मराठी भाषान्तर नांदेड़ के श्री हरि सखाराम तुंगार महोदय ने "ऋषि दयानन्द की जन्म शताब्दी" (मथुरा) के अवसर पर शकाब्द १८४७ (सं० १९८२, सन् १९२५) में "आर्य धर्मेन्द्र दयानन्द सरस्वती यांचे पुणें येथील व्याख्याने" नाम से प्रकाशित किया था ।

**मराठी अनुवाद का गुजराती अनुवाद**—मराठी में प्रकाशित पूना-प्रवचन का शीघ्र ही गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ था । यह अनुवाद गुजरात के रावबहादुर कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी (जो ब्रिटिश सरकार के जज थे) ने किया था । यह अनुवाद कहाँ से छपा था, यह ज्ञात नहीं, मोरवी आर्यसमाज के पुस्तकालय में विद्यमान था ।[2] श्री पंजाब केसरी लाला लाजपतराय ने भी गुजराती अनुवाद का उल्लेख किया है । सम्भवतः इसका नाम **स्वामी दयानन्द सरस्वती नो भाषण** था । अहमदाबाद के गुजराती सोसायटी में इसकी एक प्रति विद्यमान थी । उसकी कीमत बारह आने थी ।[3]

---

१. सम्भवतः यह निर्देश महादेव गोविन्द रानाडे के जीवनचरित की भूमिका में है ।

२. यह सूचना हमें श्री इन्दुभाई पटेल ने २७-१-१९८३ के पत्र में दी थी ।

३. म० मुंशीराम सम्पादित ऋ० द० का पत्रव्यवहार, भाग १, पृष्ठ २९२

स्वामी श्रद्धानन्दजी ने जो उर्दू में उपदेशमञ्जरी का संस्करण प्रकाशित किया था, उसका आधार गुजराती अनुवाद ही था। और उसी को आधार बनाकर हिन्दी के संस्करण प्रकाशित किए गए। हिन्दी के संस्करण इतने भ्रष्ट हैं कि लेखक ने कई स्थानों पर अपनी ओर से पाँच-पाँच सात-सात लाइनें बढ़ा दी हैं। और उत्तरार्ध में प्रमाण भाग छोड़ दिया गया है। इसके मूल मराठी संस्करण को प्राप्त करने के लिए अनेक पुस्तकालयों की खाक छाननी पड़ी। कलकत्ता के नेशनल लाइब्रेरी में इन व्याख्यानों की सत्ता का पूरा प्रमाण होते हुए भी अब वे उपलब्ध नहीं होते। सम्भव है किसी ने चुरा लिए हों। परन्तु भाण्डारकर इंस्टीट्यूट पुणे से इसकी जेरोक्स कापी प्राप्त हो गई। उसी के आधार पर हमने पूनाप्रवचन का हिन्दी अनुवाद किया है, जो अत्यधिक प्रामाणिक है।

**बम्बई-प्रवचन**—स्वामी दयानन्द सरस्वती सन् १८८२ में बम्बई में कई महीने रहे। उस अवधि में उन्होंने लगभग २५ व्याख्यान दिए। इनका सारांश वा विस्तृत लेख सभा की पुरानी फाइलों में गुजराती भाषा में सुरक्षित है। इसके सहारे हमने बम्बई-प्रवचनों की भी एक रूपरेखा तैयार करके छपवाई है। इनमें अनेक व्याख्यान बहुत महत्त्व के हैं।

**(१०) गुजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं में**—गुजराती भाषा में जो सामग्री प्राप्त हुई, उसका संकलन मैंने श्री पं० दयाशंकरजी वेदोपदेशक 'आर्यसमाज काकड़वाड़ी बम्बई' के सहयोग से किया। मराठी भाषा में जो कुछ स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में लेख प्राप्त हो सके, उनका सङ्कलन नांदेड़ निवासी प्राध्यापक श्री कुशलदेव शंकरदेव वडवलकर (हिन्दी विभाग, भुभाष कालेज) ने किया और अब भी पूरे प्रयत्न से इस कार्य में लगे हुए हैं।[1]

---

देखें। सुखराम त्र्यम्बक राम का यह पत्र रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पत्र और विज्ञापन के भाग ३, पृष्ठ २०७ (प्र० सं०) में छपा है।

१. मराठी भाषा में संकलित स्वामी दयानन्द से सम्बन्धित सामग्री को एकत्रित करने का सुझाव मैंने सन् १९७९ में सोमयाग के समय श्री कुशलदेवजी को दिया था। कुशलदेवजी के उर्वर मस्तिष्क में मेरे सुझाव ने अंकुर रूप में उदित होकर काफी कार्य किया है। मैं उन्हें शुभ आशीर्वाद देता हूं कि वे इसी प्रकार से आजन्म

(११) **पत्र-पत्रिका आदि में उल्लिखित विविध घटनाओं का संकलन**—इस प्रकार की घटनाओं का सर्वप्रथम संकलन श्री पं० लेखरामजी ने किया था। तत्पश्चात् श्री बाबू देवेन्द्रनाथजी ने भी इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न किया। इन महानुभावों ने पत्र-पत्रिकाओं के ओरिजिनल अंशों का संकलन करके अपने द्वारा लिखित जीवनचरितों की प्रामाणिकता को चार चाँद लगाए। यदि इन दोनों महानुभावों ने यह कार्य न किया होता तो हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं से सदा के लिए वंचित हो जाते। यतः दोनों महानुभाव केवल सामग्री का ही सङ्कलन कर पाए, स्वयं उन्होंने लिखा नहीं, छोटी-मोटी चिटों के ऊपर केवल संकेतमात्र किया और बहुत सारी घटनाओं का स्वरूप उनके अन्तःकरण में ही विद्यमान रहा, इससे हम स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में बहुत-सी घटनाओं से आज भी अनभिज्ञ हैं।

जहाँ तक मैं समझता हूं, स्वामी दयानन्द के ये दो जीवनचरित ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनका किसी शोध-प्रवीण व्यक्ति के द्वारा सम्पादन अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त लाहौर के मास्टर लक्ष्मणजी ने भी उर्दू में एक बृहत्काय जीवनचरित लिखा है। उर्दू भाषा न जानने के कारण मैं इसका स्वाध्याय नहीं कर सका। कई व्यक्तियों से हिन्दी अनुवाद करने के लिए कहा परन्तु स्वीकार तो सबने कर लिया, लेकिन बहु-आयामी जीवन में सम्मान की अधिक प्राप्ति होने से इस कार्य की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में छपे तथा विभिन्न व्यक्तियों द्वारा संकलित जो अंश होते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं—अनुकूल वा प्रतिकूल। इनमें जो अनुकूल अँश होते हैं, वे कभी-कभी अतिशयोक्तिपूर्ण भी होते हैं। इसी प्रकार प्रतिकूल अँश यद्यपि दुराग्रह से प्रेरित होते हैं, परन्तु उनमें कभी-कभी लेखक द्वारा अनचाहे ऐसे अँश भी उपलब्ध हो जाते हैं, जो किसी व्यक्ति के विशिष्ट व्यक्तित्व को उजागर करने में सहायक होते हैं। यतः ये अँश प्रतिकूल विचारधारावाले व्यक्तियों द्वारा लिखे गये होते हैं, अतः उनकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह किया ही नहीं जा सकता।

---

लगे रहेंगे। उनकी खोजबीन का कार्य "वेदवाणी" में समय-समय पर छपता रहा है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती को यथावत् समझने के लिये हमें उपर्युक्त सभी प्रकार के साधन समुचित मात्रा में उपलब्ध हैं। आवश्यकता है केवल पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर उनके अध्ययन और मनन की। उससे हम निश्चय ही स्वामीजी के व्यक्तित्व को समझ सकते हैं। हमने उपर्युक्त समस्त सामग्री, जो हमें उपलब्ध हुई, का अध्ययन और मनन किया है।

(१२) **प्रत्यक्षदर्शी व्यक्तियों के सम्पर्क द्वारा स्वा० द० स० के विषय में ज्ञान प्राप्त करना**—इनके अतिरिक्त मुझे स्वामी दयानन्द सरस्वती के चार प्रत्यक्षदर्शी महानुभावों के दर्शन करने और उनसे स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में अनेक ऐसी घटनाओं को जानने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है, जिनका उल्लेख कहीं अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

(क) अपने गाँव बिरकच्यावास (विरञ्च्यावास) जिला अजमेर के गुर्जर शिरोमणि **श्री सूरजमल पटेल** ने अजमेर में स्वामी दयानन्द सरस्वती के कई व्याख्यान सुने थे। इन्हीं के प्रयत्न से गाँव के तीन युवक गौरीलाल आचार्य (मेरे पिता), रामचन्द्रजी लोया और शिवचन्दजी ईनाणी स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं से आर्यसमाज की ओर प्रेरित हुए थे। मैंने भी सन् १९२५ में मथुरा में सम्पन्न 'महर्षि दयानन्द सरस्वती शताब्दी महोत्सव' से पूर्व गाँव जाने पर इनके दर्शन किये थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में कई बातें बताई थीं, जो उस समय अल्पायु होने के कारण स्मरण नहीं रहीं। हाँ, एक बात पूरी तरह याद है—स्वामी दयानन्द का कद छः फुट से अधिक था, शरीर अत्यन्त गठा हुआ था, आजकल चित्रों में जो बढ़ा हुआ पेट दिखाया जाता है, वह ठीक नहीं है।

(ख) आर्यसमाज के महान् दार्शनिक विद्वान् महामहोपाध्याय[1] **श्री पं० आर्यमुनिजी**। सन् १९३३ में सम्पन्न 'महर्षि दयानन्द निर्वाण

---

१ ब्रिटिश शासनकाल में सन् १९३० में सरकार द्वारा दी गई एक महत्तम उपाधि थी। इसके कारण उस व्यक्ति को १००) मासिक तथा बन्दूक रखने का अधिकार प्राप्त होता था। मैंने उनसे पूछा था कि पण्डित होकर के आप बन्दूक क्यों रखते हैं तो उन्होंने उत्तर दिया था कि जब सरकार बन्दूक रखने का अधिकार देती है तो उसका उपयोग क्यों न किया जाय? इसके ६१ वर्ष पश्चात् मुझे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने महामहोपाध्याय की उपाधि प्रदान की। इस प्रकार आर्यसमाज में अब तक दो ही व्यक्तियों को यह उपाधि प्राप्त हुई है।

'अर्धशताब्दी' के अवसर पर जो **चतुर्वेद पारायण महायज्ञ** हुआ था, उसके आप प्रमुख ब्रह्मा थे। उस यज्ञ में मैं भी वेदपाठी था। यह महायज्ञ १५ दिन में पूर्ण हुआ था और आर्यसमाज में सम्भवतः यह प्रथम चतुर्वेदपारायण महायज्ञ था। मैंने इस अवसर पर श्री महामहोपाध्याय जी के सत्संग का बहुत लाभ उठाया। इनसे ज्ञात हुआ था कि स्वामी दयानन्द सरस्वती **नव्यन्याय में परमनिष्णात थे**। इन्होंने सं० १९३६ में काशी अध्ययन के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती को एक नव्यन्याय के नैयायिक से नव्यन्याय की भाषा में शास्त्रार्थ करते देखा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती नव्यन्याय की भाषा को **काकभाषा** कहा करते थे।

(ग) **श्री स्वामी अच्युतानन्दजी महाराज**। इनके मैंने कई बार दर्शन किए और व्याख्यान सुने।

(घ) **श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज**। मेरा तथा श्री पूज्य पिता जी का इनके साथ मुझे गुरुकुल कांगड़ी में प्रवेश दिलाने के सबन्ध में पत्र-व्यवहार हुआ था।[1] और कई बार आपके मैंने दर्शन किये थे।

मैंने अपने जीवन के लगभग ६० वर्ष स्वामी दयानन्द सरस्वती को समझने में लगाये हैं। ऊपर वर्णित ज्ञात सामग्री में से ९० प्रतिशत का मैंने अध्ययन एवं मनन किया है। उनके सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों तथा वेदभाष्यों के कुछ भागों और पत्रों विज्ञापनों शास्त्रार्थ एवं पुणे-बम्बई प्रवचनों का सूक्ष्म दृष्टि से सम्पादन एवं प्रकाशन भी किया है। इसके साथ ही स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट पठन-पाठन विधि से **वेदाङ्ग एवं उपाङ्ग पर्यन्त** (एक आध को छोड़कर) प्राचीन गुरुपरम्परानुसार अध्ययन और चिरकाल तक अध्यापन किया है। अतिविस्तृत वैदिक और लौकिक वाङ्मय की विविध शाखाओं के मुद्रित तथा लिखित सहस्रों ग्रन्थों का यथाशक्ति पारायण एवं अवलोकन किया है। अनेक दुर्लभ ग्रन्थों को भारत के विभिन्न नगरों में स्थित शोधसंस्थानों के हस्तलेखागारों में बैठकर पढ़ा या उनकी प्रतिलिपियाँ की हैं। इस कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में आर्यसमाज के विद्वानों की अपेक्षा

---

१. द्रष्टव्य—मेरा **'आत्म-परिचय'** ग्रन्थ, (प्रथम संस्करण सं० २०४६, सन् १९८८) उत्तरार्ध, नवम परिशिष्ट, पृष्ठ १४२-१४६। द्वितीय संस्करण, सं० २०४७ (सन् १९९०) तृतीय परिशिष्ट के 'ग' भाग में, पृष्ठ ३३३ से ३३८ तक।

मेरा मत अत्यन्त भिन्न है। अतएव कभी-कभी न चाहते हुए भी उनके साथ मेरा टकराव भी हो जाता है।[1]

मैंने अपने विस्तृत अध्ययन और मनन के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती को किस रूप में समझा है, इसे यदि संक्षेप से कहा जाय तो इस प्रकार कहा जा सकता है—

**ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त जितने भी ऋषि-मुनि एवं आचार्य हुए, तथा उनके द्वारा जो प्रोक्त वाङ्मय सम्प्रति उपलब्ध है तथा जो वेदानुकूल भारतीय शिष्टाचारान्तर्गत परम्परा है, उन सबको स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने अन्दर समेटे हुए हैं। उनका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व वा मत नहीं है।**

## स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्राचीन ऋषि-मुनियों के मन्तव्यों से अविरुद्ध उपज्ञात अंश

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक वाङ्मय के पुनरुत्थान के साथ अपना कुछ भी स्वोपज्ञ अंश का योगदान नहीं किया। जैसे प्राचीन ऋषि-मुनि-आचार्यों ने पूर्वतः प्राप्त वैदिक वाङ्मय में स्वदेशकालानुरूप अपने प्रोक्त ग्रन्थों में नवीन अंशों का समावेश किया है, उसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी पूर्वतः प्राप्त वैदिक वाङ्मय की प्रक्रिया के साथ अनेक अविरुद्ध नवीन अंशों को संगत करने का प्रयत्न किया है। यथा—

---

१. इसी अभिप्राय से मैंने भूमिका में लिखा था कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के संबन्ध में मुझे जितना ज्ञान है, उतना बहुत स्वल्प लोगों को होगा।

इस पर "दयानन्द सन्देश" श्रावण संवत् २०४८ के १२वें अङ्क में सम्पादक ने समालोचना करते हुए लिखा है कि "अपने मुख से मियाँ मिट्ठू बनना शोभा नहीं देता।" इसके विपरीत जनवरी सन् १९९२ के "वेदसविता" के अङ्क में डॉ फतहसिंह लिखते हैं—"श्री युधिष्ठिर मीमांसक साङ्गोपाङ्ग वेद के अध्येता और अन्वेषक होने के साथ, स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व की गहराई में जाने के लिए जीवन-भर सश्रद्ध प्रयत्नशील रहे हैं। अतः वे **साधिकार** कह सकते हैं कि इस समय में आर्यसमाज में कोई ऐसा विद्वान् नहीं है, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में मेरे बराबर जानता हो।" इसीलिए मनीषियों ने कहा है—

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्॥

(१) यज्ञीय घृत में उसके प्रभाव को बढ़ाने के लिये केशर कस्तूरी का सम्मिश्रण करने का विधान। यज्ञीय घृत में इनके सम्मिश्रण से किसी प्राचीन घृताहुति की प्रक्रिया में कुछ भी बाधा वा विरोध नहीं होता है।

(२) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मन्त्रसंहिता के अतिरिक्त सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय की प्रामाण्यता के सम्बन्ध में भी विशेष दृष्टि प्रदान की है। वह है—**मन्त्रसंहिताएँ ही अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण हैं। अन्य समस्त वैदिक वाङ्मय परतः प्रमाण है** अर्थात् उनमें निर्दिष्ट वेदानुकूल विधान प्रमाण है और जो अंश वेद-विरुद्ध है, वह अप्रमाण है।

(३) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ-प्रक्रिया में भी अपना विशेष योगदान दिया है। प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा स्वीकृत वेदार्थ की प्रमुख अधियज्ञ अधिदैवत और अध्यात्मरूप त्रिविध प्रक्रिया को यथावत् स्वीकार करते हुए भी उन्होंने देशकाल के अनुरूप वेदार्थ की **व्यावहारिकी** नाम्नी चतुर्थ प्रक्रिया का अवलम्बन करके वेद के द्वारा मानव मात्र की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। यह व्यावहारिकी वेदार्थ-प्रक्रिया पूर्व ऋषि-मुनियों द्वारा स्वीकृत त्रिविध प्रक्रिया की विरोधक नहीं है, अपितु उनकी सम्पूरक है। वस्तुतः व्यावहारिकी प्रक्रिया भी मूलतः स्वामी दयानन्द सरस्वती की स्वोपज्ञ नहीं है, अपितु स्वायम्भुव मनु आदि पूर्व ऋषियों द्वारा संकेतित अथवा व्यवहृत है, जो यज्ञों के अतिशय प्रचलन के कारण तिरोहित हो चुकी थी, उसका ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पुनरुद्धार किया है। भगवान् स्वायम्भुव मनु के—

**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमास्तथा।**
**भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति॥**
**तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥**
**सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।**
**सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥**

मनु० १२।९७,९९,१००॥

इत्यादि वचनों से इस सर्वजनोपयोगिनी व्यावहारिकी प्रक्रिया की प्राचीन काल में विद्यमानता सहजतया जानी जा सकती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उसी पुरातनी व्यावहारिकी वेदार्थ प्रक्रिया का समुद्धार एवं विशदीकरण किया है। इस प्रक्रिया के अनुसार वेदार्थ करना उस समय की परिस्थिति में अत्यावश्यक था, अन्यथा याज्ञिक आधिदैविक

(वैज्ञानिक) एवं अध्यात्म प्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ मानव समाज के कुछ प्रमुख वर्गों तक ही सीमित रहता। पर ब्रह्म ने इतर भौतिक पदार्थों के समान वेद का ज्ञान भी मानवमात्र के लिये दिया है, यह निम्न याजुषी श्रुति में स्पष्ट कहा है—

**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।**
**ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥**

शुक्लयजुः २६।२॥

इस मन्त्र का यही तात्पर्य पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी स्वीकार करते हुए लिखा है—

**शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन—यथेमां वाचं···इति।** ऐतरेयालोचन, पृष्ठ १७।

## हमारे अल्पज्ञान के कारण स्वा० द० स० के लेखों में शङ्काओं का उदय होना

हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। हमें अपनी प्राचीन परम्पराओं का भी यथावत् ज्ञान नहीं है। इसलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखों में हमें अनेकविध शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं।

यहाँ मैं ऐसे ही स्थलों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं—

(१) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में जो विशिष्ट पठन-पाठन विधि लिखी है, उसमें वेदान्तदर्शन से पूर्व १० उपनिषदों के अध्ययन का विधान किया है। इसका कारण यह है कि वेदान्तदर्शन में औपनिषद वाक्यों पर विचार किया है। अतः जब तक उपनिषदों का सामान्य ज्ञान नहीं होगा तब तक उनके सम्बन्ध में वेदान्तदर्शन में जो गम्भीर विचार किया है, वह यथावत् समझ में नहीं आयेगा। ठीक यही स्थिति पूर्वमीमांसा के अध्ययन-अध्यापन की है। उसमें भी वैदिक वचनों पर विचार किया गया है। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूर्वमीमांसा के अध्ययन से पूर्व कम-से-कम एक वेद के अध्ययन का उल्लेख नहीं किया। मीमांसा शास्त्र के प्रथम सूत्र में ही समस्त व्याख्याकारों ने स्पष्ट लिखा है कि इस शास्त्र का अधिकारी वही है, जिसने वेद का अध्ययन[1] किया हो। ऐसी वास्तविक स्थिति होते हुए

---

१. यह अध्ययन अक्षर-ग्रहण पर्यन्त अर्थात् कण्ठस्थ करने तक सीमित है।

भी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मीमांसा के अध्ययन से पूर्व न्यूनाति-न्यून एक वेद के अध्ययन का विधान क्यों नहीं किया ? यह शङ्का मुझे लगभग ४० वर्षों से दोलायमान करती रही।

मैंने आत्मसन्तोष के लिये एक मार्ग निकाल लिया था कि वेदान्त-दर्शन से पूर्व जिस कारण से उपनिषदों के अध्ययन का विधान किया है, वही स्थिति मीमांसा शास्त्र की होने से उपनिषदों के अध्ययन को उप-लक्षण[1] मानकर मीमांसा के अध्ययन से पूर्व मैंने वेदाध्ययन का विधान भी मान लिया था। परन्तु कुछ मास पूर्व जब मैं अस्वस्थता के कारण लेखनादि कार्य से मुक्त होकर अपने ज्येष्ठ पुत्र बृहस्पति के पास फरीदाबाद में निवास कर रहा था, तब अचानक एक दिन मुझे अपनी ५० वर्ष से निरन्तर बनी रही शङ्का का समाधान सूझा। वह इस प्रकार है—

वेदारम्भ संस्कार का प्रयोजन उसके नामकरण से ही स्पष्ट है। प्राचीन काल से ब्राह्मण इस संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन का आरम्भ कराते आये हैं। यह परम्परा आज भी वेदपाठी ब्राह्मणों में विद्यमान है। अतः जब वेदारम्भ के पश्चात् ब्रह्मचारी का वेदाध्ययन आरम्भ हो जायेगा, तब मीमांसा शास्त्र के अध्ययन काल से पूर्व उसका एक वेद का अध्ययन पूर्ण हो जायेगा। इस प्रकार जब सामान्य रीति से ही मीमांसा के अध्ययन से पूर्व ब्रह्मचारी एक वेद पढ़ चुका होगा तो स्वामी दयानन्द सरस्वती को मीमांसा के अध्ययन से पूर्व वेदाध्ययन के विधान करने की आवश्यकता ही नहीं थी।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदारम्भ संस्कार में वेद के अध्ययन का विधान नहीं किया है, फिर यह कैसे मान लें कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को वेदारम्भ संस्कार के अनन्तर वेद का कण्ठस्थीकरण अभिप्रेत था। इसका उत्तर यह है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में अनेक परम्परा से विज्ञात नियमों वा विधियों का उल्लेख नहीं किया है। यथा—यज्ञकाल में पत्नी को यजमान के दक्षिण में बैठना चाहिये। इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो यज्ञोपवीत से पूर्व **मन्त्र श्लोक सूत्र गद्य-पद्य** आदि के कण्ठस्थ कराने

---

१. द्र०—इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिबन्धेन आचार्याणां [महतो महान्] अभिप्रायो लक्ष्यते। महा० ८।२।३॥

का उल्लेख किया है (द्र०—सत्यार्थप्रकाश, समु० २), जबकि पौराणिक विचार-धारा के अनुसार यज्ञोपवीत से पूर्व मन्त्रपाठ वर्जित है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के पिता ने भी यज्ञोपवीत के अनन्तर उन्हें शुक्लयजुर्वेद कण्ठस्थ कराया था, जिसे उन्होंने १४ वर्ष की अवस्था तक कण्ठस्थ कर लिया था।

(२) पठन-पाठनविधि में व्याकरणाध्ययन से पूर्व मूल अष्टाध्यायी के कण्ठस्थ करने का विधान नहीं किया है। इसका भी कारण यही है कि व्याकरणाध्ययन से पूर्व अष्टाध्यायी के कण्ठस्थीकरण की परम्परा विद्यमान रही है। आज से ७०-८० वर्ष पूर्व तक सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से पाणिनीय व्याकरण के पठन-पाठन करनेवाले बच्चों को भी अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कराई जाती थी। अपने समय के काशी के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण गुरुवर श्री पं० देवनारायण तिवारीजी ने सन् १९२७ में कहा था कि 'आजकल के छात्रों को व्याकरण इसलिये नहीं आता कि उन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ नहीं होती है।' इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा था कि 'मैं प्रतिदिन नैत्यिक कर्म के पश्चात् अष्टाध्यायी का पाठ करता हूं।'

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन परम्परा के यथावत् ज्ञाता स्वामी दयानन्द ने कई ऐसी बातों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया, जो परम्परा से ज्ञात थीं या हो सकती थीं। यह तो हम लोगों का दुर्भाग्य है कि हमने सनातनधर्मियों में परम्परा से विज्ञात श्रेष्ठ बातों का ग्रहण नहीं किया और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपना कोई शिष्य बनाया नहीं, जिसके द्वारा उनके द्वारा स्वीकृत प्राचीन परम्पराएँ हम तक यथोचित रूप में पहुंचती।

(३) आर्यसमाज में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट प्राचीन परम्परा के अनुसार वेदादि सच्छास्त्रों का यथावत् रूप में अध्ययन-अध्यापन का प्रचलन हुआ ही नहीं। इसलिये प्राचीन आर्ष वाङ्मय से अछूते एवं प्राचीन व्यावहारिक परम्पराओं से अनभिज्ञ व्यक्ति स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों की व्याख्या प्राचीन वैदिक वाङ्मय की छत्र-छाया में करने का प्रयत्न न करके अपने विचारानुसार करते हैं। इसी का फल है कि 'यज्ञ वा संस्कारों में पत्नी को यजमान के दक्षिण भाग में बैठना चाहिये वा वामभाग में', इसका सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा की धर्मार्य सभा में आजतक सर्वसम्मत निर्णय नहीं हुआ। यही

अवस्था अग्न्याधान में दो मन्त्रों से एक समिधा का आधान करना चाहिये वा नहीं और प्रथम मन्त्र जिससे समिधा का अग्नि में प्रक्षेप नहीं करते, उसके अन्त में **'स्वाहा इदमग्नय इदं न मम'** बोलना चाहिये वा नहीं, आदि अनेक विषय आज तक विवादास्पद बने हुए हैं। इन विषयों में धर्मार्य सभा में समय-समय पर जो कुछ निर्णय हुए, वे आपस में विरुद्ध हुए।

(४) स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर स्पष्ट निर्देश होने पर भी यज्ञों में हम अपनी कल्पना से अनेक अवैदिक कार्य करते हैं। यथा—

अग्न्याधान के मन्त्र में स्पष्ट कहा है—'हे देवयजनि पृथिवी ! तेरी पीठ पर मैं अग्नि का आधान करता हूं—**तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे**'। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में जहाँ वेदि-निर्माण प्रक्रिया का उल्लेख किया है, उसको हमने प्राचीन परम्परा के प्रकाश में यथावत् समझने का प्रयास न करके कल्पना के घोड़े दौड़ा कर **भूमि खोदकर पृथिवी तल से नीचे कुण्ड की रचना** आरम्भ कर दी।

इतना ही नहीं कि यह कल्पना अग्न्याधान के मन्त्रार्थ से विपरीत है, अपितु ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में स्पष्ट कहा है—'हे दैव्यहोतः अग्ने ! तुझ से नीचे बैठकर मैं मानुष होता यज्ञ करता हूं।' मन्त्र इस प्रकार है—

**तावद् दधात्युप यज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् १०।८०।१६॥**

इस मन्त्र की व्याख्या निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार की है—

**तावद् (उषःकाले) उपदधाति यज्ञमागच्छन् ब्राह्मणो होताऽस्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन्॥** निरुक्त ७।२१॥

इस व्याख्या में स्पष्ट है कि इस मन्त्र में दैव्य होता अग्नि से मानुष होता के नीचे बैठने का निर्देश है। भूमि खोदकर कुण्ड बनाने से दैव्य होता अग्नि नीचे रहता है और मानुष होता ऊपर बैठता है। कभी-कभी यह उच्च आसन तख्त पर लगाया जाता है। यह काल्पनिक विधि वेद के विरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है।

वेदों में देवयज्ञ और मानुषयज्ञ दोनों प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। देव यज्ञों में प्रधानतया सर्ग का वर्णन है। सृष्टयुत्पत्ति के लिए आपः में अग्नि का आधान आवश्यक है। उस आधान के मन्त्रों में से तीन-चार

मन्त्र हम आगे यथास्थान उद्धृत करेंगे। मानुषयज्ञ में सृष्टि-प्रक्रिया की पूर्णता हो जाने पर पृथिवी के पृष्ठ पर प्राकृत प्रक्रियानुसार प्रथम अग्न्याधान होता है। वहाँ से विविध प्रकार के यज्ञों का वर्णन याज्ञिक ग्रन्थों में मिलता है। **"तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे"** मन्त्र मानुष अग्न्याधान का है। **"यज्ञेन यज्ञमयजन्त"** इत्यादि देवयज्ञों के प्रतिपादक मन्त्र हैं। इनके लिए अग्नि का आधान आप: में होता है। इसलिए विषयभेद से अग्न्याधान का भी भेद होगा। इसी प्रकार **"तावद् दधात्युप यज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन्"** ऋ० १०।८०।१९॥ मन्त्र भी मानुषयज्ञविषयक है। इसके व्याख्यान में यास्क ने लिखा है—**तावद् (उषःकाले) उपदधाति यज्ञमागच्छन् ब्राह्मणो होताऽस्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन्** ॥ निरुक्त ७।२१॥ मानुषयज्ञों में केवल अन्त्येष्टि का ही भूमि खोदकर वेदि बनाने का उल्लेख है।

उक्त परिप्रेक्ष्य में मैंने संस्कारविधि के वेदि निर्माण प्रकरण को पुन: गम्भीरता से पढ़ा तो विदित हुआ कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भूमि खोदकर पृथिवी-पृष्ठ से नीचे कुण्ड बनाने का उल्लेख नहीं किया। एक दिन श्री पं० विश्वश्रवा:[1] जी मेरे पास बहालगढ़ (सोनीपत) आये। मैंने उनसे कहा कि आर्यसमाज में जो भूमि खोदकर नीचे कुण्ड बनाने की प्रथा प्रचलित हो गई है, वह वेदविरुद्ध है (ऊपर लिखे प्रमाण उनके सम्मुख उपस्थित किये) और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इसका कहीं उल्लेख नहीं किया। श्री पं० विश्वश्रवा: जी ने तत्काल कहा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भूमि खोदकर नीचे कुण्ड बनाने का उल्लेख किया है। इस पर मैंने कहा कि वह उल्लेख मुझे दिखाइये। उन्होंने संस्कारविधि लाने को कहा और पुस्तक देने पर उन्होंने वेदि-निर्माण का प्रकरण पढ़ा। वहाँ उल्लेख है—

**यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदि**

---

१. श्री पं० विश्वश्रवा: जी के साथ मेरा सम्बन्ध सन् १९३० से है। अत: मैं उनके सम्बन्ध में यह भले प्रकार जानता हूं कि श्री पं० भगवद्दत्तजी तथा गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु को छोड़कर आर्यसमाज के अन्य सब विद्वानों की अपेक्षा श्री पं० विश्वश्रवा: जी का स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का ज्ञान कहीं अधिक है।

**बनानी हो उतनी पृथिवी को दो-दो हाथ खोदकर अशुद्ध (मिट्टी) निकालकर उसमें शुद्ध मिट्टी भरें।**

[यहाँ 'गहरी' शब्द के स्थान पर 'बड़ी' शब्द होना चाहिये। यह वेदि के लम्बाई चौड़ाई बोधक वाक्य से स्पष्ट है। अन्यथा उत्तरवाक्यस्थ 'उतनी' शब्द की संगति नहीं लगेगी।]

मैंने श्री पण्डित जी से कहा कि जब खोदी हुई मिट्टी के स्थान पर शुद्ध मिट्टी भर दी गई तो भूमि के नीचे कुण्ड बनाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। श्री पण्डित जी ने यह बात स्वीकार की। यहाँ इस घटना का उल्लेख करने का यही प्रयोजन है कि आर्यसमाज के श्री पं० विश्वश्रवा: जैसे सचेता विद्वान् भी अनेक बार लोकप्रवाह में बहकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के अभिप्राय को गहराई से नहीं विचारते। प्राचीन परम्परायें तो आर्य विद्वानों को ज्ञात नहीं होतीं। इसलिये वे अपनी मति के अनुसार नई-नई अन्ध परम्पराओं को जन्म दे देते हैं।

इसके आगे संस्कारविधि में लिखा है—"चाहे[1] घृत की हजार आहुति देनी हों, तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा-गहिरा सम-चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावे। और इन कुण्डों में १५ पन्द्रह अँगुल की मेखला अर्थात् पाँच-पाँच अँगुल की ऊँची तीन बनावे। और ये तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी। प्रथम पाँच अँगुल ऊँची और पाँच अँगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावें।"

श्रौतसूत्रों में भूमि के ऊपर कुण्ड बनाने का निर्देश पृथिवी के लोमश अर्थात् पृथिवी पर ओषधि-वनस्पतियों की उत्पत्ति के पश्चात् जो पृथिवी पर पहली बार अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ, उसको ध्यान में रखकर विधान किया है। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सर्गावस्था में ही आपों (जलों) के मध्य अग्नि तत्व प्रविष्ट होकर पृथिवी की रचना में सहायक होता है, उसको ध्यान में रखकर यज्ञकुण्ड का कुछ भाग पृथिवी के भीतर और कुछ भाग पृथिवी के बाहर रखने का विधान किया है।

---

१. इस पाठ की ओर "मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य" के प्रथम संस्करण की समालोचना में पण्डित रामनाथजी वेदालङ्कार ने १९-७-१९९१ के पत्र में तथा श्री वी० उपेन्द्रराव जी ने अपनी समालोचना में हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। उसके लिये दोनों महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

वस्तुतः दोनों विधियों में विरोध नहीं है—**पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति**" (ऋलृक् सूत्र के अनुसार आपाततः जहाँ विरोध प्रतीत हो, वहाँ पक्षान्तर की व्यवस्था द्वारा विरोध का परिहार करना चाहिए—महाभाष्य)। तदनुसार याज्ञिकों द्वारा पृथिवी के ऊपर कुण्ड-रचना, पृथिवी-रचना के निष्पन्न हो जाने के पश्चात् पृथिवीतल पर प्रथम अग्निप्रादुर्भाव की व्याख्या है। और स्वामी दयानन्द का पक्ष है कि जब पृथिवी सलिलमयी थी उसका और सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् दोनों की स्थिति का व्याख्यान किया गया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कुण्ड की जिस आकृति का विधान किया है, वह भूमिगर्भस्थ और भूमि से बाहर जो अग्नि विद्यमान है, उसकी दृष्टि से किया है, क्योंकि भूमि का ऊपर का अंश विस्तृत है और जैसे-जैसे हम भूमि के भीतर प्रवेश करते हैं, वह संकुचित होता जाता है। कुण्ड की रचना का प्रकार भी उत्पद्यमान भूमि के भीतर वर्तमान अग्नि तत्त्व और भूमि के बाहर वर्तमान अग्नि, दोनों का व्याख्यान करता है। अतएव उन्होंने कुण्ड की रचना-प्रक्रिया ही इस प्रकार रखी है, जिससे उनेका अभिप्राय भली प्रकार विदित हो जाय। पहले मैं स्वयं शङ्कितमना था कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कुण्ड की जो आकृति लिखी है, वह कहीं उपलब्ध नहीं होती।

महाराष्ट्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती के यज्ञकुण्ड निर्माण प्रक्रिया से मिलती-जुलती धातु से निर्मित कुण्ड रचना का पर्याप्त प्रचलन है। हमने इस प्रकार के कुण्डों में दैनिक अग्निहोत्र करनेवाले प्रबुद्ध लोगों से पूछा कि इस प्रकार के धात्वादि के कुण्ड में अग्निहोत्र करने का प्रचलन कब से हुआ। उनमें एक अग्निहोत्री श्री हरिभाऊजी जोशी (वैदिक संशोधन मण्डल, पूना के प्रधान कार्यकर्ता) ने बताया कि हमको अग्निहोत्र की प्रेरणा के साथ इस आकृति का कुण्ड भी प्राप्त हुआ। इससे मैं इतना ही कह सकता हूं कि हमारे परिवार में इस प्रकार की आकृति वाले धातु के कुण्डों का प्रयोग सौ-सवा सौ साल पहले चला आया है।

वैशेषिककार कणाद मुनि ने "**वैदिकं च**" (५।२।१०) सूत्र द्वारा वैदिक वचनों के आधार पर अपों में अग्नि का प्रवेश स्वीकार किया है। वेदों में इस अभिप्राय के पचासों वचन उपलब्ध होते हैं। यथा—

**यो अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु।**

—तै० सं० ५।६।१॥

**आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।**
—ऋ० १०।१२१।७।।

**वृषाऽग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् ।** —यजु० ११।४६।।

**योऽनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः ।** —ऋ० १०।३०।४।।

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि सवा हाथ अर्थात् तीस अंगुल की वेदि के ऊपर के भाग में १५ अंगुल प्रमाण की मेखला बनेगी, जो पृथ्वी तल से ऊपर होगी। तदनुसार १५ अंगुल प्रमाण कुण्ड भूमि के नीचे बनेगा। हमारे विचार में यह विचारणीय प्रश्न है। क्योंकि जहाँ यह सकल श्रौत स्मार्त ग्रन्थों की कुण्डनिर्माण प्रक्रिया के विपरीत है, वहीं पूर्व उद्धृत दो वेदमन्त्रों के तात्पर्य के भी विपरीत है। जहाँ प्रथम मन्त्र में पृथ्वी तल पर अग्न्याधान करने का विधान है तो दूसरे मन्त्र में दैवी होता (अग्नि) से मानुष होता के नीचे बैठने का उल्लेख है। प्रकृत व्यवस्था में दैवी होता मानुष होता से १५ अंगुल नीचे स्थित होगा। ऐसी स्थिति में चाहे तो दयानन्द को स्वतः प्रमाण मानकर मन्त्रों की आपाततः प्रतीयमान व्याख्या बदली जाय अथवा दयानन्द के कथन को विचारणीय कोटि में रखा जाय। दयानन्द के वचन को स्वतः प्रमाण मानकर मन्त्रार्थ बदलना वैसा ही कर्म होगा जैसे घोड़े के आगे गाड़ी जोतना, तथा यह दयानन्द के मन्तव्य के भी विपरीत है। स्वामी दयानन्द सरस्वती वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं। ऐसी अवस्था में यदि कुछ त्याज्य होगा तो दयानन्द का वचन ही त्याज्य होगा और वह दयानन्द के मत (=वेद की स्वतः प्रमाणता) के अनुकूल होगा।

अन्त्येष्टि में वितस्तिमात्र (=१२ अंगुल) भूमि खोदकर वेदि बनाई जाती है। वहाँ कुण्ड का निर्माण नहीं होता; क्योंकि सारा शरीर ही वेदि में रखा जाता है। इसका कारण यह है कि आरम्भ में समस्त प्राणियों की उत्पत्ति भूमि रूपी माता के गर्भ से हुई थी।[1] इसका निर्देश **माता**

---

१. आदि प्राणियों की उत्पत्ति पृथिवी के गर्भ से हुई थी। विभिन्न आकार वाले प्राणियों के शरीरों की रचना भूमि के कितने अन्दर हुई थी, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मुझे नहीं मिला। मैंने एक दिन अपने गुरु भ्राता वैदिक विद्वान् एवं दूत नाड़ी विशेषज्ञ श्री सत्यदेव वासिष्ठ से इस विषय में पूछा तो उन्होंने तत्काल उत्तर दिया—प्रत्येक प्राणियों के मा[illegible]ओं के योनि का जो प्रमाण है (योनि के अन्त में गर्भाशय होता है) उतनी गहराई में तत्तत् प्राणियों के शरीरों की संरचना होती है। अन्त्येष्टि संस्कार में १ बीता (वितस्ति) भूमि खोदकर वेदि बनाने का विधान

**भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः** इस आथर्वणिक श्रुति (१२।१।१२) में मिलता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सम्भवतः इसी मन्त्र के आधार पर सर्गारम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति पृथिवी के गर्भ से दर्शाई है। यतः आदि मानव शरीर की उत्पत्ति पृथिवी माता के गर्भ से हुई है अतः उसका समापन भी पृथिवी के गर्भ में ही होना चाहिये। आर्य मृतक का समापन भूमि खोदकर वेदि बनाकर अन्त्येष्टि द्वारा करते हैं। **आर्येतर मतों में** मृत मानव शरीर को भूमि में दफनाने की परिपाटी है।[1] सम्भवतः इसके पीछे यही कारण प्रतीत होता है। प्रकारान्तर से हम यह भी कह सकते हैं कि मृत मानव शरीर को भूमि में गाड़ने का रिवाज यह घोषणा कर रहा है कि उसकी आदि उत्पत्ति भूमि के गर्भ से हुई थी। विकासवाद के अनुसार मानव का विकास किसी पूर्व वर्तमान प्राणी से नहीं हुआ था।

**भूमि से अन्यत्र जैविक सृष्टि नहीं**—प्रसंगतः हम यहाँ यह भी बताना आवश्यक समझते हैं कि प्राचीन आर्यों को यह रहस्य भी ज्ञात था कि हमारे सौरमण्डल के भूमि के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रह में प्राणिसृष्टि नहीं है। इसीलिये उन्होंने इस ग्रह के भूमि पृथिवी आदि स्त्रीलिङ्ग नाम रखे और अन्य सब ग्रहों के पुंल्लिङ्ग।[2] प्रत्येक प्राणी की मादा ही जनन कार्य सम्पन्न करती है, न कि नर। जिस प्रकार प्राणी मादाएँ भी रजस्वला होने पर (वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष) गर्भ धारण में समर्थ होती हैं, उसी प्रकार पृथिवी भी प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में रजस्वला होती है। उसके पश्चात् ही वह बहुविध कीट पतङ्गों और औषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति में समर्थ होती है। जो भाग वर्षा के योग से रजस्वला नहीं होता, वहाँ दुर्भिक्ष ही रहता है।

जिस समय यह लेख लिखा था इसका आधार ऋषि-मुनियों द्वारा

---

है—**वितस्त्यवाक्**। आश्व० गृह्य (४।१।९ तथा १०)। द्र०—संस्कारविधि, शताब्दी संस्करण, पृष्ठ ३११, ३१२ (रामलाल कपूर ट्रस्ट)। मानवी योनि का प्रायिक प्रमाण वितस्ति भर होता है।

१. दयानन्द सन्देश के सम्पादक ने प्रस्तुत ग्रन्थ की समालोचना में लेखक के अभिप्राय की अवहेलना करके लिखा है—"मुर्दों को भूमि में गाड़ने का वेद से अनुमोदन पुस्तक के १० पृष्ठ पर लेखक ने लिखा है।" बलिहारी है सम्पादक की कल्पना की!

२. इस विषय में वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, भाग २ में पृष्ठ ४०४ से ४०६ तक देखें।

गुणकर्मानुसार नाम रखने की शैली मात्र था । अब विवाह का एक मन्त्र भी इस बात का उद्बोधक उपलब्ध हो गया है, जिससे स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वी पर ही जैविक सृष्टि है । मन्त्र इस प्रकार है—

**"द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै । प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् ।"**

इस मन्त्र में वर अपने को द्यु लोक कहता है और पत्नी को पृथ्वी लोक बताता है कि वधू ही गर्भधारण द्वारा पुत्रादि को उत्पन्न करती है । इस तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि द्यु लोक के समान वर भी पुत्रादि की उत्पत्ति में सहायक है तथापि गर्भधारण रूप कर्म स्त्री का ही है । इससे यह स्पष्ट है कि हमारे सूर्य मण्डल में पृथिवी ही एक ग्रह ऐसा है, जो गर्भधारण द्वारा विविध प्रकार की जैवी सृष्टि को उत्पन्न करता है । इस मन्त्र में "तावेव विवहावहै" एकवचन का निर्देश है । इससे यह ज्ञापित होता है कि जैसे हमारे सौरमण्डल में द्यु लोक की एक ही पत्नी पृथ्वी है, इसी प्रकार मनुष्य समाज में एक पुरुष की एक पत्नी ही होनी चाहिए ।

# स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित ग्रन्थ

यद्यपि स्वामी दयानन्द सरस्वती का मूल उद्देश्य वेदोद्धार मात्र था; क्योंकि वे इस बात को समझते थे कि वेद-विद्या के विलुप्त होने से ही देश में अविद्या-अन्धकार बढ़ा है और वेदों का स्थान इतिहास-पुराण आदि नाम से कल्पित ग्रन्थों ने लेकर इस अविद्या अन्धकार को गहनाति-गहन कर दिया है। जब तक वेदरूपी सूर्य का उदय नहीं होगा तब तक यह अन्धकार विद्यमान रहेगा और साम्प्रदायिक चोर-उचक्के निरीह प्रजा को लूटकर अपना पेट-पालन करते रहेंगे। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूर्ण करने के लिए उन्हें **कण्टकेनैव कण्टकम्** की दृष्टि से कुछ ग्रन्थों का निर्माण करना पड़ा। यद्यपि **संस्कारविधि** की गणना इसमें नहीं की जा सकती; परन्तु पौराणिक पुरोहितों से पल्ला छुड़ाने के लिए इसकी रचना भी आवश्यक थी। **सत्यार्थप्रकाश** की भी स्थिति **अर्धजरतीय** है। दस समुल्लास केवल वेदोक्त धर्म के तत्त्वप्रकाशन में लिखे गए और अन्तिम चार समुल्लास जो पूरे ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग घेरे हुए हैं, विधर्मियों के मतों के खण्डन में लिखे गए।

नीचे हम कालक्रमानुसार उनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थों का विवरण नाममात्र रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिससे यह विदित होगा कि स्वल्पकाल में ही स्वामी दयानन्द ने शंका-समाधान, शास्त्रार्थ एवं वैदिक धर्म के तत्त्वों को समझाने के लिए और विरोधियों के वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों के खण्डन के लिए कितने ग्रन्थ लिखे।

(१) **सन्ध्योपासनविधि**—यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १९२० में पूज्य गुरुवर विरजानन्द सरस्वती से अध्ययन के बाद आगरा में लिखा। पण्डित लेखरामजी द्वारा लिखित जीवन-चरित में इसके पाँच-छह संस्करण प्रकाशित करने का उल्लेख है। परन्तु हमें मूलग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। जो दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, वे हमारी दृष्टि में जाली हैं, क्योंकि इनमें मृतकश्राद्ध और सत्यार्थप्रकाश का उल्लेख है।

(२) **भागवत-खण्डन** (द्वितीय ज्येष्ठ संवत् १९२३ वि०)—इस ग्रन्थ का लेखन भी स्वामी दयानन्द ने आगरा निवासकाल में ही किया था। इसे संवत् १९२४ के हरिद्वार के कुम्भ के मेले में बिना मूल्य बाँटा गया

था। इसका दूसरा नाम **वैष्णवमत खण्डन** भी है। पण्डित लेखरामजी ने इसका उल्लेख **पाखण्ड खण्डन** और **भड़वा भागवत** के नाम से किया है।

यह पुस्तक सात पृष्ठ की संस्कृत भाषा में भागवत-खण्डन विषय पर लिखी थी। इस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती परम्परानुसार **देवी-भागवत** आदि को प्रामाणिक मानते थे। इसकी उपलब्धि मामराजजी को हुई थी और उन्होंने पण्डित भगवद्दत्तजी को दे दिया था, परन्तु मूल-ग्रन्थ देश-विभाजन के समय पाकिस्तान में ही रह गया। संवत् २०१८ वैशाख मास में मैं काशी गया था, वहाँ रामलाल कपूर ट्रस्ट की पुरानी पुस्तकें टटोलते हुए इन्द्रप्रस्थ निवासी श्री विश्वेश्वरनाथ गोस्वामी नाम के पण्डित द्वारा लिखी हुई और मुरादाबाद के सुदर्शन यन्त्रालय में लिथो में छपी हुई एक पुस्तक उपलब्ध हुई। इसमें २०×२६ अठपेजी आकार के बासठ पृष्ठ थे। पुस्तक के लेखक ने स्वामी दयानन्द विरचित **भागवत खण्डन** को अक्षरशः उद्धृत करके उसका खण्डन किया है। इसलिए इस पुस्तक में से सम्पूर्ण **भागवत खण्डन** पुस्तक सुरक्षित उपलब्ध हो गई। मैंने भाषानुवाद सहित इसे संवत् २०१८ के हरिद्वार कुम्भ के अवसर पर प्रकाशित किया था।

(३) **काशी-शास्त्रार्थ कार्तिक संवत् १९२६ वि०**)—यद्यपि काशी-शास्त्रार्थ का उल्लेख शास्त्रार्थ संग्रहों में करना उचित है, फिर भी उनके जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना होने के कारण हम उसका निर्देश यहीं पर करते हैं। काशी-शास्त्रार्थ के विषय में पूर्व लिखा जा चुका है, उसे स्मरणार्थ यहाँ उल्लिखित किया है। काशी-शास्त्रार्थ का लेखन स्मृति अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया था और साथ ही उसका भाषानुवाद आज भी परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो रहा है। केवल अन्तर इतना है कि परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण में यत्र-तत्र टिप्पणियाँ दी गई हैं, जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्त्य हैं; क्योंकि उस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों को वेद ही मानते थे। किसी के मत को झुठलाने के लिए झूठी टिप्पणियाँ देना अनार्य कर्म है। हाँ, भूमिका में यह लिखा जा सकता था कि इस समय तक स्वामीजी ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों को वेद मानते थे। इसका जो प्र० सं० काशी से छपा था, उसका मुखपृष्ठ हम पूर्व (पृ० १२) दे चुके हैं। उसके ऊपर मुद्रणकाल १८६९ ई० छपा है।

दिसम्बर के बाद सन् बदल जाता है। **इससे यह स्पष्ट है कि काशी-शास्त्रार्थ के लगभग एक मास पश्चात् ही यह शास्त्रार्थ छपकर प्रकाशित हो गया था।** १ से २४ पृष्ठ तक काशी शास्त्रार्थ छपा है।

(४) **सद्धर्म-विचार**—काशी-शास्त्रार्थ के साथ ही उत्तरार्ध में **सद्धर्म-विचार** नाम से कुछ प्रश्नोत्तर छपे हैं। इनका हिन्दी अनुवाद भी है। इनमें कुछ विषय ऐसे हैं, जिनको स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उत्तरकाल में त्याग दिया था। सद्धर्म-विचार पृष्ठ १ से ४८ तक छपा है। लेखराम-कृत जीवनचरित में इसका **"सत्यधर्म विचार"** नाम से भी उल्लेख मिलता है। स्वामी दयानन्द के पत्र और विज्ञापन भाग १ में पृष्ठ ४४ से पृष्ठ ४७ तक जो विज्ञापन-पत्र स्वामी दयानन्द सरस्वती की सम्मति से छपा है, उसके २४वें प्रश्न के उत्तर में **"सत्यधर्मविचार"** नाम से इसी का उल्लेख है।

(५) **अद्वैतमत खण्डन**—**(ज्येष्ठ संवत् १९२७)**—यह पुस्तक काशी निवासकाल में श्री बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के **कविवचनसुधा** में भाषा-नुवाद सहित छपी थी। द्रष्टव्य—**कविवचनसुधा**, जिल्द १, संख्या १४-१५, (ज्येष्ठ सुदी १५ और आषाढ़ बुदी १५ संवत् १९२७)। यह हमें बहुत यत्न करने पर भी उपलब्ध नहीं हुई।

(६) **गर्दभतापिनी उपनिषद्**—**(आषाढ़ संवत् १९३१ से पूर्व)**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने रामतापिनी, गोपालतापिनी आदि पुस्तकों की तुलना में श्रोताओं के मनोरञ्जन के लिए एक गर्दभतापिनी उप-निषद् बनाई थी। बहुत प्रयत्न करने पर भी हमें इसकी कोई प्रति उप-लब्ध नहीं हुई। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती केवल योगी, गम्भीर विचारक ही नहीं थे, अपितु श्रोताओं के मनोरञ्जन में भी कुशल थे। इस विषय के अनेक दृष्टान्त उनके जीवन-चरित में उप-लब्ध होते हैं। एक बार बरेली में किसी धूर्त ने स्वामीजी के प्राण हरने के लिए काला नाग फेंका। स्वामीजी ने उसका मुँह दबोचकर कहा कि तुम्हारे नाग देवता की जब यह दशा हो गई तो तुम मेरा क्या बिगाड़ सकोगे?

(७) **सत्यार्थप्रकाश (प्रथम संस्करण संवत् १९३१ वि०, द्वितीय संस्करण संवत् १९३९)**—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में स्वामी दयानन्द को आर्यभाषा का यथावत् बोध न होने से तथा लेखकों की पोपलीला के कारण कुछ ऐसे विषय भी ग्रन्थ में सन्निविष्ट हो गए थे,

जिन्हें वे नहीं मानते थे; परन्तु संवत् १९३९ तक उसका विक्रय करते और विशिष्ट व्यक्तियों को भेंट करते रहे। संवत् १९३९ में जो संशोधित संस्करण तैयार किया, वह उनके जीवनकाल में ३६४ पृष्ठों तक छप चुका था। इसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती की आज्ञा से वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर मुंशी समर्थदान ने कुछ टिप्पणियाँ लिखीं और भाषा का संशोधन किया। यह संस्करण विना विशेष परिवर्तन के १०० वर्ष तक छपता रहा। १९९१ में इसका जो नया संस्करण छपा, वह प्रेस-कापी के बजाय रफ कापी से छापा गया है। उसमें स्वामीजी के आदेश से समर्थदान द्वारा लिखी गई टिप्पणियाँ और संशोधन निकाल दिए गए और स्थान-स्थान पर प्रेसकापी में स्वामीजी के दृष्ट-पाठ भी बदल दिए गए। इसके लिए हमारा लेख "वेदवाणी" फरवरी १९९२ के अङ्क में देखें। प्रथम संस्करण में किन्हीं कारणों से १३वाँ और १४वाँ समुल्लास लिखा हुआ होने पर भी नहीं छपा था।

(८) **ग्रथ सभाष्यसन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधि**—यह संवत् १९३१ में प्रकाशित हुआ। यह केवल संस्कृत भाषा में था। इसमें सूर्य को अर्घ्य देने का वर्णन है तथा मृतक श्राद्ध का सविस्तर खण्डन किया है। इस संस्करण के लेखन की समाप्ति आश्विन शुक्ला प्रतिपद रविवार संवत् १९३१ में हुई थी। इससे भी स्पष्ट है कि संवत् १९३१ के सत्यार्थप्रकाश में मृतकश्राद्ध का जो वर्णन है, वह पण्डितों के द्वारा मिलाया हुआ है।

(९) **वेदभाष्य का नमूना** (**कार्तिक १९३१ वि०**)—यह नमूना हमारे देखने में नहीं आया। विक्रयार्थ सूचीपत्र में इसका उल्लेख है।

(१०) **वेदविरुद्ध-मत-खण्डन** (**मार्गशीर्ष संवत् १९३१**)—जब स्वामी जी गुजरात प्रान्त में भ्रमणार्थ गए तो वहाँ वैष्णवों के वल्लभ मत के खण्डन में यह लघु ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसका दूसरा नाम **वल्लभाचार्य मत खण्डन** भी था।

(११) **वेदान्तिध्वान्त-निवारण** (**मार्गशीर्ष संवत् १९३१**)—यह ग्रन्थ नवीन वेदान्तियों के खण्डन में लिखा था।

(१२) **शिक्षापत्रीध्वान्त-निवारण** (**पौष सं० १९३१**)—गुजरात में स्वामिनारायण मत का बहुत प्रचार था। अतएव उन्होंने स्वामिनारायण मत के खण्डन में **शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण** नामक लघु ग्रन्थ प्रकाशित किया।

(१३) **आर्याभिविनय (चैत्र संवत् १९३२)**—इस ग्रन्थ में ऋग्वेद और यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों के अध्यात्मपरक अर्थ प्रकाशित किए हैं। यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया; क्योंकि इस ग्रन्थ की उपक्रमणिका में चारों वेदों के मन्त्रों का सङ्कलन चार अध्यायों में प्रकाशित करने का उल्लेख है। वैदिक यन्त्रालय के किसी संस्करण में चार वेदों के मन्त्रों के स्थान पर **दो वेद** पाठ बनाकर ऐतिहासिक अंश का लोप कर दिया।

(१४) **संस्कारविधि (प्रथम संस्करण मार्गशीर्ष १९३२; द्वितीय संस्करण वि० सं० १९४०)**—प्रथम संस्करण में प्रायः गृह्यसूत्रों के पाठ ही उद्धृत किए गए थे। उनसे संस्कार करानेवालों को बहुत कठिनाई उत्पन्न होती थी। अतः संवत् १९४० के संशोधित संस्करण में उसे आर्य-भाषा में लिखकर इस योग्य बना दिया कि अल्प पठित व्यक्ति भी उसके साहाय्य से संस्कार करा सके। द्वितीय संस्करण लिखे जाने से पूर्व संवत् १९३८ में श्री बालाजी विठ्ठल गांवस्कर ने **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—नाम का एक ग्रन्थ मराठी भाषा में लिखा। उसका शीघ्र ही गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हो गया। यही गुजराती अनुवाद संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण का उपजीव्य बना।

(१५) **चतुर्वेद-विषय-सूची (संवत् १९३३)**—वेदभाष्य लिखने से पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चारों वेदों की विषयसूची तैयार की थी। इसका लेखनकाल अज्ञात है। पर सम्भावना है कि संवत् १९३२ या ३३ में यह सूची तैयार की गई थी। इसमें चारों वेदों के प्रति वर्ग, प्रति अध्याय, प्रति अनुवाक, दशतयी तथा अनुवाकों की विषयसूची तैयार की थी। यद्यपि यह वेदभाष्य के लेखन में सहायक थी; परन्तु वेदभाष्य लिखते समय इसमें परिवर्तन भी किया गया था।

हमने किसी जीवनचरित में पढ़ा है कि स्वामी दयानन्द ने एक बार कहा था—हमने चार वेदों के प्रत्येक मन्त्र की परीक्षा की है। उसमें कोई भी ऐसा नहीं है, जो सृष्टिक्रम के विपरीत हो।

(१६) **वेदभाष्य का दूसरा नमूना (संवत् १९३३)**—यह नमूना काशी के लाजरस कम्पनी में छपवाया था। इसमें प्रथम सूक्त के पश्चात् प्रथम मन्त्र का कुछ संस्कृत भाग भी, जो २४ पृष्ठों तक समाविष्ट हो सकता था, समाविष्ट था। द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का अवशिष्ट संस्कृत भाष्य और हिन्द अनुवाद भी दो वर्ष पूर्व उपलब्ध हो गया। इसे

परोपकारिणी सभा ने छपवाया है। इस भाष्य में प्रत्येक मन्त्र के पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थ किए गये हैं। इस भाष्य में दोनों अर्थों के सम्बन्ध में जो प्रमाणों की तालिका प्रस्तुत की है, वह देखते ही बनती है। यदि सम्भव हुआ तो इस नमूने के साथ द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के भाष्य को भी छपवाने का प्रयत्न करेंगे, जिससे स्वामीजी का लेख पूर्णरूप से उपलब्ध हो जाय।

(१७) **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (संवत् १९३३ वि०)**—यद्यपि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है तथापि क्रियमाण वेदभाष्य के भूमिका स्वरूप है।

यह इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है कि यदि भूमिका में वर्णित विषय यथार्थ सिद्ध होते हैं, तो स्वामी दयानन्द सरस्वती का सम्पूर्ण वेदभाष्य प्रामाणिक सिद्ध होगा अन्यथा उसकी कोई स्थिति नहीं। यद्यपि यह चारों वेदों के भाष्य की भूमिका है, पुनरपि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है। सायणाचार्य द्वारा विरचित चारों वेदों की भूमिकाएँ इसके आगे नगण्य हैं। मैक्समूलर ने सत्य ही कहा है—

**"ऋग्वेदकाल से आरम्भ करके दयानन्द द्वारा सम्पादित ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका लिखे जाने के समय तक के साहित्य को दो भागों में बाँट सकते हैं। यहाँ यह भी बता देना समुचित ही होगा कि दयानन्द द्वारा लिखी गई ऋग्वेद की भूमिका भी कम रुचिपूर्ण नहीं है।"**

—हम भारत से क्या सीखें, पृष्ठ १०२

(१८) **वेदभाष्य (संवत् १९३४ से १९४० तक)**—वेदभाष्य के सम्बन्ध में हम यथाप्रसंग विस्तार से आगे लिखेंगे। यहाँ केवल गणनामात्र के लिए उल्लेख किया है।

(१९) **आर्योद्देश्यरत्नमाला (संवत् १९३४)**—इस लघु ग्रन्थ में आर्यों के सौ मन्तव्यों की संक्षिप्त व्याख्या लिखी है।

(२०) **भ्रान्ति निवारण (कार्तिक सुदी २, सं० १९३४)**—कलकत्ता के महेशचन्द्र न्यायरत्न ने स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य के नमूने पर कुछ आक्षेप किए थे। यद्यपि वेदभाष्य के नमूने पर अन्य व्यक्तियों ने भी आक्षेप किए थे; परन्तु महेशचन्द्र न्यायरत्न के आक्षेप अधिक प्रौढ़ होने के कारण स्वामीजी ने **भ्रान्ति-निवारण** के नाम से उनका उत्तर दिया था।

(२१) **अष्टाध्यायी-भाष्य (संवत् १९३५-३६)**—इसमें ऋषि दयानन्द ने अष्टाध्यायी के चार अध्यायों की व्याख्या लिखाई थी। वह रफ कापी

के रूप में ही थी। परोपकारिणी सभा के अधिकारियों ने मूर्खतावश रफ कापी से ही प्रथम और द्वितीय अध्याय छपवाया। इसमें अनेक प्रकार की भूलें हैं। तृतीय और चतुर्थ अध्याय को पूज्य गुरुवर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने महाभाष्य के अनुसार संशोधित कर परोपकारिणी सभा को दिया था, जिसमें से तृतीय अध्याय छप चुका है और चतुर्थ अध्याय की प्रेसकापी नष्ट हो गई है। सुना है सभा ने किसी पण्डित से इसकी प्रेसकापी तैयार करवाई है।

(२२) **आत्मचरित** (१९३६ श्रावण)—स्वामी दयानन्द ने अपना आत्मचरित लिखना आरम्भ किया था। तीन किश्तें लिखी थीं। पर समय के अभाव से वे लिख नहीं पाए। मैक्समूलर ने परोपकारिणी सभा के मन्त्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या को पत्र लिखा था कि मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित लिखना चाहता हूं। उसकी उचित सामग्री भिजवाइये। परन्तु पण्ड्याजी ने सामाजिक पत्रों में सूचना मात्र छपवा दी कि जिस किसी को स्वामीजी के विषय में कुछ ज्ञात हो, वह मैक्समूलर साहब को लिखकर भेजे। इस उदासीनता के कारण मैक्समूलर के पास कोई सामग्री नहीं पहुंची और इस प्रकार आर्य जनता एक अन्तर्राष्ट्रिय ख्यातिप्राप्त विद्वान् द्वारा लिखी जानेवाली जीवनी से वंचित रह गयी। स्वामीजी के जीवन के संबन्ध में आर्यों की यह उदासीनता बहुत खटकने वाली है। यदि पंजाब की प्रतिनिधि सभा पं० लेखरामजी को इस कार्य में न जुटाती और देवेन्द्र बाबू स्वयं अपनी लग्न से घर फूँक तमाशा न देखते तो स्वामी दयानन्द का जीवन-चरित अज्ञात अन्धेरे में ही पड़ा रहता।

इसी प्रकार स्वामी दयानन्द स्वयं पूना में आत्मवृत्तान्त का कथन न करते तो आदिम घटनाओं का ज्ञान किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होता।

(२३) **संस्कृत-वाक्य-प्रबोध** (फाल्गुन संवत् १९३६)—परस्पर सम्भाषण के लिए स्वामीजी ने विभिन्न विषयक संस्कृतवाक्यप्रबोध नामक ग्रन्थ लिखा था। और इसी के अन्त में नवनिर्धारित **मुक्ति से पुनरावृत्ति** विषय को विज्ञापित करने के लिए ग्रन्थ के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकरण जोड़ा था। मुक्ति से पुनरावृत्ति का निश्चय होने के पश्चात् प्रथम ग्रन्थ यही छपा था। स्वामीजी किसी भी सद्यःपरिज्ञात

विषय को प्रसारित करने में कितने दक्ष थे, यह उनके इस प्रयत्न से स्पष्ट है।

(२४) **व्यवहारभानु (फाल्गुन शु० १५, संवत् १९३६)**—आबाल-वृद्धजनों को व्यावहारिक विषय का ज्ञान कराने के लिये स्वामीजी ने व्यवहारभानु नामक एक लघु ग्रन्थ का निर्माण किया। इसके अन्त में **अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा** नामक प्रहसन का उल्लेख किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत **अन्धेर नगरी** नामक नाटक प्रसिद्ध है, परन्तु इसका निर्माण स्वामीजी के उक्त प्रहसन के दो वर्ष पश्चात् किया गया।

**दोनों में एक मौलिक भेद है**--"भारतेन्दु नाटक को वहीं समाप्त कर देते हैं, जहाँ लोग राजा को टिकटी पर खड़ा करते हैं; परन्तु स्वामीजी उसको फाँसी लग जाने बाद उसके छोटे भाई सुनीति को गद्दी पर बैठाते हैं और उसके 'सुराज' का वर्णन भी करते हैं।" (द्रष्टव्य—श्री विष्णु प्रभाकर द्वारा लिखित और साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तक "**भारतीय साहित्य के निर्माता स्वामी दयानन्द सरस्वती**" पृष्ठ ७८)।

(२५) **गोतम-अहल्या और इन्द्र-वृत्रासुर की सत्यकथा (चैत्र संवत् १९३७ से पूर्व)**—इसका निर्देश स्वामी दयानन्द के पत्र और विज्ञापन भाग—२ पृष्ठ ६०९ और ६१० (तृ० सं०) पर एक पत्र में मिलता है। इसका उल्लेख **काशी-शास्त्रार्थ** (हिन्दी-उर्दू) संवत् १९३७ में प्रकाशित पुस्तकों की सूची में भी विद्यमान है।

(२६-२७) **भ्रमोच्छेदन (आषाढ़ संवत् १९३७) अनुभ्रमोच्छेदन (फा० संवत् १९३७)**—काशी के राजा शिवप्रसाद "सितारा हिन्द" ने स्वामी जी के **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के खण्डन में **निवेदन** नाम से कुछ आक्षेप किए थे। उनका इसमें उत्तर दिया गया है। भ्रमोच्छेदन के अन्त में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा था कि जब तक स्वामी विशुद्धानन्द जी एवं पं० बालशास्त्री के हस्ताक्षर नहीं होंगे, तब तक किसी पत्र का उत्तर नहीं दिया जायेगा। राजा शिवप्रसादजी ने स्वामीजी के उत्तर में **दूसरा निवेदन** छपवाया, परन्तु उस पर स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्री के हस्ताक्षर न होने से इसका उत्तर तो स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा परन्तु अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इसे भीमसेन के नाम से प्रकाशित किया।

(२८) **गोकरुणानिधि (पौष १९३७)**—स्वामी दयानन्द ने गोहत्या बन्द कराने के लिए एक देशव्यापी विशाल प्रयत्न किया था। उनकी इच्छा थी कि दो करोड़ भारतीयों के—जिनमें सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे—हस्ताक्षर कराकर महारानी विक्टोरिया को आवेदन पत्र भेजा जाय। कार्य आरम्भ हो गया था। लक्षों लोगों के हस्ताक्षर संगृहीत हो गए थे। परन्तु यह परम उत्तम कार्य उनकी असामयिक मृत्यु के कारण पूर्णता को प्राप्त न हो सका। इस पुस्तक में बड़े रोचक ढंग से गोरक्षा के लाभ और गो हत्या के दोषों का वर्णन किया है। गोरक्षा का सम्बन्ध कृषि के साथ साक्षात् होने के कारण पुस्तक के उत्तरार्ध में **"गोकृष्यादिरक्षिणी सभा"** के नियमोपनियम भी प्रकाशित किए थे। आज से सौ वर्ष पूर्व कृषि की रक्षा की ओर स्वामीजी का जो ध्यान गया था, उसकी ओर भारतीय नेताओं का लगभग ७५ वर्ष बाद ध्यान गया। इसमें भी एक मौलिक भेद है। स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय कृषि की रक्षा भारतीय प्रयत्नों के द्वारा करना चाहते थे, जबकि आज के हमारे नेता और विज्ञानवेत्ता पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण करके करना चाहते हैं। भूमि में एक बार भरपूर गोबर का खाद देने से उसका असर तीन साल तक रहता है। इसका प्रमाण यह है कि बटाई पर खेती कराने वाले कृषक से तीन वर्ष तक आधी बटाई लेने का नियम रहा है। **यह बात मुझे इसलिए मालूम है कि मैं भी कृषक परिवार में उत्पन्न हुआ हूं।** परन्तु आजकल का कृत्रिम खाद जहाँ प्रतिवर्ष देना पड़ता है, वहाँ भूमि की उर्वरा शक्ति को भी समाप्त कर देता है।

(२९ से ४४) **वेदाङ्गप्रकाश (१९३७ से १९४० वि० सं० तक)**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों को संस्कृत का बोध कराने के लिए **"वेदाङ्ग-प्रकाश"** नाम से १६ भाग हिन्दी में प्रकाशित कराए, जिनमें **धातुपाठ** और **निघण्टु** मूल संस्कृत ग्रन्थ थे। उणादिकोश और आख्यातिक—दोनों ग्रन्थ क्रमशः उणादिसूत्रों की व्याख्या और धातु-पाठ की व्याख्या के रूप में थे। प्रथम ग्रन्थ संस्कृत में ही रचा गया था।

(४५) **शास्त्रार्थ**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन में शतशः विरोधी विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किए, उन सबका इतिवृत्त पूर्णतया सुरक्षित नहीं है। काशी-शास्त्रार्थ को (पहले वर्णन कर चुके) छोड़-

कर छः शास्त्रार्थ लिखित रूप में हुए थे। इनका सविस्तर वर्णन "**ऋषि-दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**" ग्रन्थ में देखें।

(४६) **प्रवचन**—स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल में संस्कृत और हिन्दी भाषा में सहस्रों प्रवचन किए। परन्तु दुर्भाग्यवश उनका कोई लेखाजोखा नहीं रखा गया। केवल पूना के १५ प्रवचनों का श्रीमान् महादेव गोविन्द रानाडे के सत्प्रयत्न से संक्षिप्त विवरण प्रतिदिन मराठी भाषा में प्रकाशित होता रहा। यही **उपदेशमञ्जरी** के नाम से हिन्दी भाषा में प्रचलित हुआ। परन्तु यह अनुवाद नितान्त भ्रष्ट है। अनुवादक ने अनेक स्थानों पर अनावश्यक लेख जोड़ दिया और आवश्यक प्रमाण आदि छोड़ दिए। २० वर्षों के सतत प्रयत्न से हमें इसकी मूल मराठी पुस्तिकाएँ प्राप्त हो गईं। उसके आधार पर हमने यथातथ रूप में उसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है।

बम्बई में स्वामी दयानन्द सरस्वती सन् १८८२ में कई मास रहे। उसमें उनके आर्यसमाज के अधिवेशन में लगभग २५ प्रवचन हुए। उनका संक्षेप तत्कालीन गुजराती भाषा की लिपि में लिखे गए रजिस्टर से हमें प्राप्त हो गया। इसका श्रेय श्री पं० दयाशंकरजी महोपदेशक काकड़वाड़ी आर्यसमाज बम्बई का है। उसमें से हमने उनको क्रमबद्ध करके **शास्त्रार्य और प्रवचन** नामक संग्रह में प्रकाशित किया है। यह सबसे नवीन संग्रह है। इसमें दो तीन प्रवचन अत्यन्त महत्त्व के हैं। एक प्रवचन योगविद्या पर हुआ था, परन्तु उस दिन लेखक के उपस्थित न होने से वह लिखा नहीं गया। रजिस्टर में कोरा पृष्ठ ही छोड़ दिया। यदि यह प्रवचन उपलब्ध होता तो योगविषयक अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यों पर प्रकाश पड़ सकता था। देशोन्नति पर जो व्याख्यान हुआ, वह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(४७) **पत्र और विज्ञापन**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के एक-एक अक्षर को सुरक्षित करने की भावना से श्री पं० भगवद्दत्तजी ने स्वामीजी के पत्र और विज्ञापनों का संग्रह आरम्भ किया था। यद्यपि इसका प्रथम श्रेय श्री पं० लेखरामजी को जाता है, जिन्होंने अपने जीवनचरित में पचासों पत्र, विज्ञापन एवं तत्कालीन पत्रों की कटिंगों का संग्रह किया था। ये ही पं० भगवद्दत्तजी के प्रयत्न के प्रेरक थे। यदि श्री पण्डित भगवद्दत्तजी को खतौली (मुजफ्फरनगर) के श्री मामराजसिंहजी का का सहयोग प्राप्त न होता तो वे इस कार्य में कहाँ तक सफल होते, यह

सन्दिग्ध है। श्री मामराजसिंहजी समस्त प्रकार के कष्टों को सहकर पत्रों के संग्रह में जिस प्रकार लगे रहे, उसका इतिवृत्त दो-तीन व्यक्तियों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। वर्षों तक वे इस प्रयत्न में लगे रहे। जहाँ-कहीं उन्हें स्वामीजी के पत्र की प्राप्ति की सम्भावना होती थी, वहाँ सब प्रकार का कष्ट सहकर भी उसे प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। यद्यपि मामराजजी का इतिवृत्त जनता के सामने नहीं आया, परन्तु उनका पत्र-व्यवहार का संग्रह ही उनका एकमात्र स्मारक है। प्रथम संस्करण में कुल पाँच सौ पत्र और विज्ञापन संगृहीत थे। द्वितीय संस्करण में, जिसका सम्पादन मैंने किया था, उसमें पूर्ण संख्या बढ़कर आठसौ चवालीस हो गई थी। तृतीय संस्करण में कुछ पत्रों को छोड़कर और नवीन पत्रों का तो संग्रह नहीं हो सका, पूर्ण संख्या ८७३ ही रही, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखे गए ५९७ पत्रों को जोड़कर उनकी संख्या १४७० (चौदह सौ सत्तर) हो गई थी। उसके पश्चात् भी पत्रों के अन्वेषण का कार्य चलता रहा। अब लगभग सौ पत्र नये उपलब्ध हो चुके, जिनको यथा-स्थान जोड़ कर नया संस्करण (चतुर्थ संस्करण) तैयार करने का प्रयत्न चल रहा है। स्वास्थ्य के अत्यन्त गिर जाने के कारण इसमें कितनी सफलता मिलती है, यह दैवेच्छा पर ही निर्भर है। सम्भव है, इस संस्करण में स्वामीजी के नाम लिखे गए पत्रों की संख्या जोड़कर लगभग सोलह सौ से ऊपर हो जाएगी।

## लेखन-कार्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विविध प्रकार के व्यस्त जीवन में लगभग अन्तिम दस वर्षों में जो लेखन-कार्य किया, वह बीस हजार फुलस्केप आकार के पृष्ठों से अधिक है। इतने बड़े कार्य को करने के लिए उनको कुछ पण्डितों का साहाय्य लेना पड़ा। परन्तु ये पण्डित जहाँ प्रायः अशिक्षित थे या अल्पशिक्षित थे, वहाँ साथ में धूर्त भी थे। इनके कारण स्वामीजी के ग्रन्थों में पदे-पदे अशुद्धियाँ मिलती हैं। इनका वर्णन हम आगे उदाहरण के तौर पर वर्गीकरणपूर्वक करेंगे।

## स्वा० द० स० के लिखित ग्रन्थों का वर्गीकरण

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जितने भी ग्रन्थ लिखे वा लिखवाये उन्हें प्रधानतया निम्न वर्गों में बांट सकते हैं—

(१) **वेदभाष्य**—चतुर्वेद-विषयसूची एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित ऋग्वेद, यजुर्वेद के भाष्य।

(२) **कर्मकाण्ड के ग्रन्थ**—प्राचीन अत्यन्त आवश्यक कर्मकाण्ड को प्रचलित करने के लिये लिखे गये ग्रन्थ। यथा—आर्याभिविनय पञ्चमहायज्ञविधि और संस्कारविधि।

(३) **व्याकरणविषयक ग्रन्थ**। यथा—पाणिनीय अष्टाध्यायी का भाष्य और वेदाङ्गप्रकाश के निघण्टु तथा धातुपाठ को छोड़कर शेष भाग।

(४) **खण्डन-मण्डन के ग्रन्थ**। यथा—भ्रमोच्छेदन, भ्रान्तिनिवारण वेदान्तिध्वान्तनिवारण, शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण, वेदविरुद्धमतखण्डन, भागवतखण्डन आदि। इनमें आरम्भ के दो ग्रन्थों का सम्बन्ध वेद-भाष्य के साथ है तथा अन्तिम ग्रन्थ प्रारम्भिक कृति है।

(५) **मण्डन प्रधान खण्डन ग्रन्थ**—वैदिक सिद्धान्तों के मण्डन और अवैदिक सम्प्रदायों के खण्डन में लिखा गया प्रमुख ग्रन्थ—सत्यार्थप्रकाश।

(६) **सामान्य जनों के लिये उपयोगी ग्रन्थ**। यथा—व्यवहारभानु, गोकरुणानिधि, आर्योद्देश्यरत्नमाला, संस्कृतवाक्यप्रबोध आदि।

(७) **कतिपय शास्त्रार्थ ग्रन्थ**। यथा—काशी-शास्त्रार्थ (सं० १९२६ वि०=नवम्बर १८६९), मेला चांदपुर आदि। इन शास्त्रार्थों का लेखन स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया था, यह इनकी अन्तः साक्षी से विदित होता है। काशी शास्त्रार्थ के प्रथम संस्करण (दिसम्बर सन् १८६९) के साथ 'सद्धर्मविचार' भी मुद्रित हुआ है।

(८) **आर्यसमाज के नियमों की व्याख्या**—बम्बई आर्यसमाज के सन् १८७५ में निर्धारित २८ नियमों की व्याख्या।

(९) **पत्र एवं विज्ञापन**। यद्यपि इनकी ग्रन्थों में गणना नहीं हो सकती, तथापि स्वयं स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित होने से इनका भी हमने यहां परिगणन किया है।

**अन्य प्रकार से ग्रन्थों का वर्गीकरण**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के मुद्रित ग्रन्थों को तीन विभागों में भी बाँटा जा सकता है। **प्रथम** वे जो उनके जीवन काल में छप गये। **द्वितीय** वे जो उनके द्वारा पुनः संशोधित प्रति के आधार पर उनके निधन के पश्चात् छपे। **तृतीय** वे हैं, जिन्हें

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृत वा आर्यभाषा में लिखा तो दिया परन्तु उसको पुनः देखकर वे संशोधित नहीं कर पाये अर्थात् रफ पाण्डु-लिपि के आधार पर छापे गये। **चौथे** विभाग में उन्हें रखा जा सकता है, जो अभी तक छपे ही नहीं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के समस्त मुद्रित ग्रन्थों की स्थिति यथावत् समझने के लिये उक्त विभागों का यथावत् ज्ञान होना आवश्यक है। इनमें उत्तरोत्तर अशुद्धियों का बाहुल्य भी उसी अनुपात से उपलब्ध है।

उक्त विभागों के अतिरिक्त मुद्रित ग्रन्थों का एक विभाग और भी है, जो पूर्वोक्त विभागों के अन्तर्गत होते हुऐ भी किञ्चित् पार्थक्य रखता है। वह है मूलरूप से संस्कृत में लिखे गये ग्रन्थ, जिनका भाषानुवाद सहयोगी पण्डितों ने किया है।

हमने स्वामी दयानन्द के उपरिनिर्दिष्ट समस्त ग्रन्थों को न केवल सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ा है अपितु इनके प्रामाणिक संस्करण सम्पादित एवं प्रकाशित किये हैं। इनमें सहस्रों टिप्पणियाँ और १०-१२ प्रकार के परि-शिष्टों में अत्यन्त उपयोगी विविध सूचियाँ भी दी हैं। ऋग्वेदभाष्य का थोड़ा सा भाग ही हम छाप सके। यजुर्वेदभाष्य पर पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने १५ अध्याय तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवरण लिखा (जो दो भागों में छपा है), उसमें भी मेरा बहुत सहयोग रहा।

इतना परिश्रम करने पर भी मैंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थस्थ लेखों को यथावत् समझ लिया है, यह कहना दुराग्रहमात्र होगा। स्वास्थ्य के अत्यन्त गिर जाने तथा साक्षात् कार्य करने के योग्य न होने पर भी उनके कई लेखों के स्पष्टीकरण की प्रक्रिया चालू है। मैं इतना कह सकता हूं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों पर जितना कार्य मैंने अकेले किया है, उतना किसी एकाकी व्यक्ति ने तथा आर्यसमाज की किसी मान्य संस्था ने नहीं किया।

मैंने स्वामी दयानन्द प्रदर्शित आर्षपाठविधि से वेदाङ्ग और उपाङ्ग पर्यन्त अपने-अपने विषयों के पारङ्गत गुरुजनों से १४ वर्ष अध्ययन किया है। अनुसन्धान कार्य में अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर ख्यातिप्राप्त प्रसिद्ध ऐतिह्यज्ञ श्री पं० भगवद्दत्तजी सदृश महानुभाव का मुझे चिरकालीन सान्निध्य प्राप्त हुआ है। सहस्रों मुद्रित तथा अमुद्रित ग्रन्थों का मैंने पारायण किया है। इनसे मुझे स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों को

समझने में अत्यन्त सहायता मिली है। इस दृष्टि में मैंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों को जिस रूप में समझा है, वह इस प्रकार है—

स्वामी दयानन्द ने स्वयं घोषणा की है कि मैंने जो कुछ लिखा है वह ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त (बौधायन पर्यन्त) ऋषि-मुनियों के प्रोक्त ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। इसलिये उन्होंने अपने वेदभाष्य आदि ग्रन्थों के लेखन में वेद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, मनुस्मृति, निरुक्त, अष्टाध्यायी और पातञ्जलमहाभाष्य आदि विविध ग्रन्थों की भरपूर सहायता ली है।

## स्वा० द० स० के मन्तव्य के विरुद्ध आचरण

कुछ वर्षों से आर्यसमाज के अनेक विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती को ठीक उसी प्रकार स्वीकार करने लगे हैं, जिस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वान् अपने सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य को प्रतिष्ठित करते हैं। यह स्वामी दयानन्द सरस्वती सदृश मनस्वी का जहाँ घोर अपमान है, वहाँ उसके मन्तव्य, आदेश तथा व्यवहार के भी विपरीत है। सम्प्रति तथाकथित दयानन्दभक्त विद्वान् प्राचीन वैदिक वाङ्मय और प्राचीन परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण तीन सहस्र ग्रन्थों को प्रामाणिक माननेवाले स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखों वा ग्रन्थों के सम्बन्ध में जब भी विचार करने का अवसर उपस्थित होता है, तब ये महानुभाव उनके ग्रन्थों तक ही सीमित रहते हैं। दूसरे शब्दों में वे दयानन्द को सर्वज्ञ और उनके लेखों वा ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण मान लेते हैं और विचार करने की आवश्यकता ही नहीं समझते।[1] इतना ही नहीं, विचार के लिये प्रस्तुत व्यक्ति को **दयानन्द द्रोही**[2] कहकर जहाँ अपने अज्ञान को

---

१. इस ग्रन्थ की समालोचना में "दयानन्द सन्देश" (वर्ष १९, अङ्क १, श्रावण, २०४८ में) के सम्पादक ने मेरे कथन को अनेक (संख्या ३ से ९ तक, पृष्ठ १२ से १४ तक) स्थान पर दयानन्द मत के विरुद्ध लिखकर शिष्टाचार निभाया है। क्योंकि उनमें यह शक्ति ही नहीं कि मेरे विचारों का शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में खण्डन कर सकें और न यह सामर्थ्य है कि वे दयानन्द के विचारों की पुष्टि कर सकें। ऐसी समालोचना पर दृष्टिपात तक मैं नहीं करता, जबतक समालोचक समालोचना में किसी अंश की अप्रामाणिकता व प्रामाणिकता सिद्ध न करे।

२. "दयानन्द सन्देश" के सम्पादक ने एक विस्तृत पत्र लिखा है कि मैंने

छिपाने की चेष्टा करते हैं, वहाँ समाज में अपने को दयानन्दभक्त प्रख्यापित कर पूजित बनने का ढोंग रचते हैं।

अब हम आर्यसमाज में स्वामीजी के मन्तव्य के विरुद्ध जो आचरण होते हैं, उनका निदर्शन कराते हैं—

(१) **यज्ञोपवीत**—स्वामीजी ने यज्ञोपवीत को विद्याधिकारी का चिह्न माना है। जैसे लोक में सरकारी अधिकारियों के पत्र और तमगे उनके अधिकारों के सूचक हैं, उसी प्रकार यज्ञोपवीत त्रैवर्णिकों के विभिन्न वर्णों की योग्यता के परिचायक चिह्न हैं। पञ्चमहायज्ञविधि में सन्ध्योपासन के अनन्तर **न तिष्ठति तु यः पूर्वाम्** (मनु० २।१०३) की व्याख्या में लिखा है—"जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्योपासना को नहीं करता, उसको शूद्र के समान समझकर द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिए, वह सेवा-कर्म किया करे। और उसके **विद्या का चिह्न** यज्ञोपवीत भी न रखना चाहिए।"

बोधायनधर्मसूत्र (२।४।२०) में लिखा है कि जो विप्र सायं-प्रातः सन्ध्योपासन नहीं करते उनको धार्मिक राजा शूद्रकर्म में नियुक्त करे—

**सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते।**
**कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत्॥**

शास्त्र-तत्त्व के न जाननेवाले मूर्ख पण्डित और पुरोहित नामधारी यज्ञोपवीत में यज्ञ शब्द का प्रयोग देखकर कल्पना करते हैं कि बिना यज्ञोपवीत के कोई यज्ञ आदि दैवकर्म नहीं हो सकता, अतः वे जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किया हुआ नहीं होता है, इनके गले में यज्ञोपवीत की फाँसी डाल देते हैं। ये मूर्ख इतना भी नहीं सोचते कि यहाँ से उठने के बाद ही ये लोग उसे निकाल फेंकेंगे। क्या यह यज्ञोपवीत का अपमान नहीं है?

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो शूद्रातिशूद्रों को भी यज्ञ का अधिकार दिया है। द्रष्टव्य—संस्कारविधि, सामान्य प्रकरण। प्राचीन स्मृतियों में भी **पञ्चयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते** द्वारा शूद्र, जिसका यज्ञोपवीत नहीं होता, उसे यज्ञ करने का अधिकार दिया है। आर्यसमाज में जब किसी को शुद्ध किया जाता है, तो उसे भी यज्ञोपवीत पहनाया जाता है। चाहे वह उसका अधिकारी हो वा न हो।

---

आपको **दयानन्दद्रोही** कभी नहीं कहा। हाँ, **दयानन्द विरोधी** जरूर कहा है। परन्तु यह विचारणीय है कि द्रोही और विरोधी में शब्दभेद के अतिरिक्त और क्या भेद है?

इतना ही नहीं, आजकल तो असवर्णों को सवर्ण का दर्जा देने के लिए गले में यज्ञोपवीत डाल दिया जाता है। टेलीविजन में अनेक बार अति-शूद्र (आदिवासियों) के कार्यक्रम में प्रायः देखा जाता है कि अनेक लोग यज्ञोपवीत पहने हुए होते हैं। यह सब आर्यसमाज की अविचारित रमणीय देन है। टेलीविजन में जिन पुरुषों को यज्ञोपवीत पहना हुआ देखते हैं, वह बड़ोदा राज्य के आदिवासी हैं, और श्री पण्डित आनन्दप्रियजी ने उनको यज्ञोपवीत पहनाया था।

**पुराकाल में यज्ञोपवीत का स्वरूप क्या था ?**—तैत्तिरीय संहिता २।५।११।१ में पढ़ा है—**निवीत मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणाम् उपवीतं देवानाम् उपव्ययते देवलक्ष्मनेव तत् कुरुते**। अर्थात् मानुष कार्य सभा आदि में निवीत धारण करे, पितृकर्म में प्राचीनावीत और देवकर्म में उपवीत। देवताओं का ही चिह्न करता है, जो उपवीत करता है। ऐसा ही विधान धर्मशास्त्रों में भी है। निवीत से अभिप्राय है, गले में लटकाना। प्राचीनावीत का अभिप्राय है, बायाँ हाथ बाहर निकालकर बाहर करना। देवकर्म में दाहिना हाथ बाहर निकालकर उपवीत का धारण करना।[1] यह वचन मीमांसा ३।४।१ में विचारणीय रूप से पठित है। मीमांसा पढ़ाते समय गुरुवर्य श्री चिन्न स्वामीजी शास्त्री ने बताया था कि प्राचीन काल में सम्प्रति सूत्रात्मक जो यज्ञोपवीत का स्वरूप है, वह नहीं था; अपितु जिस प्रकार दाक्षिणात्य लोग दुपट्टे को तह करके कंधे पर डालते हैं, उस प्रकार से वस्त्रमय उपवीत होता था। जब मनुष्य सभा-सोसाइटियों में जाता था, तो उसको गले में डालकर दोनों छोर लटकाए जाते थे और पितृकर्म में बायें हाथ के नीचे का भाग दायें कंधे पर डाला जाता था। इसी प्रकार यज्ञकर्म के समय दक्षिण हाथ के नीचे का भाग बायें कंधे पर डाला जाता था। यतः वस्त्रात्मक उपवीत के अन्तिम भाग कर्म में बाधा न पहुंचायें इसलिए यह व्यवस्था की गई थी। जहाँ तक मुझे स्मरण है, गोभिल गृह्यसूत्र में **पटं वा सूत्रं वा** सूत्र में पट के साथ सूत्र का उल्लेख है। मैंने किसी धर्मशास्त्र में भी पढ़ा है (संप्रति स्मरण नहीं) कि यदि विप्र के पास शरीर पर धारण करने के लिए चादर न हो तो दूसरा

---

१. उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीनमावीती निवीती कण्ठसज्जने॥
—मनुस्मृति २।६३॥

यज्ञोपवीत धारण करे। चादर का कार्य सूत्रात्मक यज्ञोपवीत पूर्ण नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, १८ अप्रेल सन् १९८२ के "नवभारत टाइम्स" में सूर्यदेव की एक प्रतिमा का चित्र छपा था, उसमें यज्ञोपवीत के स्थान पर तह किए हुए दुपट्टे जैसा वस्त्र स्पष्ट दिखाई देता था। कार्यों से निवृत्त होने के पश्चात् इसे खूँटी पर टाँग दिया जाता था। वर्तमान समय के अनुरूप सदा धारण नहीं किया जाता था; क्योंकि यह विभिन्न कार्यों का प्रतीक था। सम्प्रति दिन-रात यज्ञीय कार्य में व्यवह्रियमाण उपवीतवत् ही धारण करते हैं। वह भी प्राचीन परम्परा के विपरीत है। क्योंकि उपवीत केवल देवकार्य में ही प्रयुक्त होता है।

इतना ही नहीं, महाभारत में लिखा है—"**श्वेतयज्ञोपवीतवान् शुशुभे च पितामहः।**" इसी प्रकार द्रोणाचार्य के विषय में कहा है—**ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्। शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः॥**(महा०, आदि पर्व १३४।१९; नीलकण्ठी टीका, पृष्ठ २३६)। सूत्रात्मक यज्ञोपवीत शुक्लवस्त्र के ऊपर शोभायमान नहीं होगा, अपितु छिप जायेगा। इस दृष्टि से साम्प्रतिक यज्ञोपवीत बनाने की विधि भी कल्पना-प्रसूत ही है। वेदभाष्यकारों ने **गतानुगतिको लोकः** कहावत के अनुसार सूत्रात्मक यज्ञोपवीत का ही वर्णन किया है।

सम्प्रति द्विजों में शौचकर्म और लघुशङ्का के समय कान पर यज्ञोपवीत लपेटने की रीति है। इस पर जयपुर के श्री मधुसूदनजी ओझा के साथ जो बात-चीत हुई थी, उसका उल्लेख आत्मपरिचय, संस्करण २, पृष्ठ १८५, १८६ पर देखें। उसमें सिवाय **ब्रह्मप्राण** की कल्पना के अतिरिक्त कुछ सार नहीं है। इसकी अपेक्षा यदि यह समाधान किया जाय कि शौचादि के समय पुरुष अपवित्र होता है, अपवित्र अवस्था में बातचीत करना वर्जित है, इसलिए अपवित्रता के द्योतन के लिए कान पर यज्ञोपवीत धारण करना उचित कहा जा सकता है।

(२) **श्रौत-स्मार्त यज्ञ**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारों की अधिक उपयोगिता समझकर "संस्कारविधि" नामक ग्रन्थ लिखा, इसके द्वितीय संशोधित संस्करण के सामान्य प्रकरण में चरु[1] बनाने के प्रकरण में लिखा है—"जितनी आहुति देनी हो, प्रत्येक आहुति के लिए चार-

---

१. अन्तर ऊष्म सिद्ध चावल चरु कहा जाता है, अर्थात् बिना माँड निकाले पका हुआ चावल।

चार मुट्ठी चावल आदि लेके (**ओम् अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि**) अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवे।"

यह एक आहुति के लिए चार मुट्ठी द्रव्य परिमाण श्रौतयज्ञों में चरु और पुरोडाश आदि बनाने के सम्बन्ध में है। प्रत्येक आहुति के लिए जो पुरोडाश आदि बनाया जाता है, उसमें से दो अंगुष्ठपर्व मात्र द्रव्य ही आहुति के लिए देय होता है। उसकी विधि यह है कि जुहू संज्ञक स्रुच में एक स्रुवा भरकर पहले घी डाला जाता है। पश्चात् दो अंगुष्ठ पर्वमात्र हव्य द्रव्य स्रुच में रखा जाता है। तदनन्तर एक स्रुवा भर घृत स्रुच में डाला जाता है। यह चतुरवत्त आहुति कहाती है, जामदग्न्य गोत्र के यजमान पञ्चावत्त आहुति देते हैं। तदनन्तर स्विष्टकृत् आहुति से बचा हुआ समस्त पुरोडाश वा चरु यजमान व याज्ञिकों के द्वारा भक्षणीय होता है। इसी के लिए गीता में कहा है—**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः**। (गीता ३।१३)

(३) **यज्ञपात्र लक्षण और पात्रों के चित्र**—सामान्य प्रकरण में ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिन पात्रों के लक्षण लिखे हैं और चित्र दिए हैं, वे सब पात्र दर्शपौर्णमास नामक श्रौतयज्ञ में प्रयुक्त होते हैं।

(४) समित्, इध्म बर्हि आदि के परिमाणादि का जो उल्लेख किया है, वह श्रौत-स्मार्त यज्ञों में सामान्यरूप से प्रयुक्त होते हैं।

(५) **अग्न्याधेय-दक्षिणा**—इसी प्रकरण के अन्त में जिस अग्न्याधेय की दक्षिणा का विधान है, वह श्रौत अग्न्याधान सम्बन्धी ही है।

(६) **आदित्येष्टि की दक्षिणा**—आदित्येष्टि की धेनु दक्षिणा कही है। धेनु उस गौ को कहते हैं, जो बछड़े को दूध पिलाती है। अर्थात् दूध देनेवाली।

इन कतिपय प्रमाणों से स्पष्ट है कि स्वामीजी अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त सभी यज्ञों को यथावत् स्वीकार करते थे। इस विषय में **"स्वामी दयानन्द सरस्वती और कर्मकाण्ड"** शीर्षक में विस्तार से लिखा जायेगा। आर्यसमाजियों ने स्वामी दयानन्द सरस्वती सम्मत अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त[1] कर्मकाण्ड का उच्छेद करके अपनी मति से नित नये

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो अश्वमेध को अन्तिम यज्ञ के रूप में लिखा है परन्तु मूर्ख आर्यसमाजियों ने अश्वमेध को आदियज्ञ मान लिया है। यज्ञ प्रार्थना में नित्य पढ़ते हैं—"अश्वमेधादिक रचाएँ यज्ञ पर उपकार को।" प्रार्थनालेखक

यज्ञों की कल्पना की है। उदाहरण के रूप में सत्यार्थप्रकाश लिखने के सौ साल पूरे होने पर उदयपुर में जो शताब्दी समारोह किया गया, उसमें आर्यसमाज के एक कर्मकाण्डज्ञानविहीन संन्यासी ने **सत्यार्थभूत्** नामक यज्ञ कराया था।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि, सत्यार्थप्रकाश आदि में चार प्रकार के यज्ञीय द्रव्य लिखे हैं—**सुगन्धित, पुष्टिकारक, मिष्ट, रोग-नाशक**। इन द्रव्यों के कुछ उदाहरण भी दिये हैं। स्वामीजी का तात्पर्य इतना ही है कि यज्ञों में चार प्रकार के द्रव्य प्रयुक्त होते हैं, परन्तु आधुनिक सामग्री निर्माता लोगों ने इसे भी अपने व्यापार का विषय बना लिया और अनेक द्रव्यों को कूटपीट कर शुष्क काढ़े जैसा द्रव्य यज्ञसामग्री के नाम से बेचना चालू कर दिया। सारी संस्कारविधि में घृत, चावल और खिचड़ी आदि के अतिरिक्त किसी यज्ञीय द्रव्य का उल्लेख नहीं है, अर्थात् इस तथाकथित सामग्री से आहुति देने का उन्होंने कहीं उल्लेख नहीं किया। शास्त्रकारों का कथन है—**यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नः तस्य देवता**। अर्थात् पुरुष जिस वस्तु का भक्षण करता है, वही वस्तु देवता के लिए देय होती है। आर्यसमाजियों ने यज्ञ में डालने के लिए ऐसे द्रव्य की कल्पना की, जिसे मनुष्य तो क्या पशु भी भक्षण नहीं कर सकता, परन्तु अपने भक्षण के लिए हलुआ आदि बनाकर उससे एक स्विष्टकृत् आहुति देकर यज्ञशेष की कल्पना कर ली।

श्रौत-स्मार्त यज्ञों में उक्त चार प्रकार के द्रव्यों का ही प्रयोग हुआ है, अतः दयानन्द का संकेत श्रौत-स्मार्त यज्ञों में उल्लिखित द्रव्यों की ओर है। श्रौतयज्ञों में एक सर्वमेध यज्ञ भी है, जिसमें सभी ओषधियों के छोड़ने का विधान मिलता है। रोगनाशक द्रव्यों का विधान शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न रोगों की निवृत्ति के लिए भी किया है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान आर्यसमाज स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्य के विरुद्ध आचरण कर रहा है और उसे इसमें कुछ लज्जा का अनुभव भी नहीं होता।

---

को यह भी ज्ञात नहीं कि अश्वमेध सार्वभौम राजा का करणीय यज्ञ है और प्रार्थनाकार ने सबको करने का विधान कर दिया। ज्ञान तो तब हो जब शास्त्रों का अनुशीलन किया जाय। दयानन्द के ग्रन्थ तो शास्त्रों के सम्यक् बोध में सहायक ग्रन्थ हैं, न कि वे ही अन्तिम प्रमाण हैं।

## स्वा० द० स० के जीवन का एकमात्र लक्ष्य
## सत्य का अनुसन्धान

स्वामी दयानन्द सरस्वती के समस्त जीवन को हम चार भागों में बाँट सकते हैं। १—**बाल्यकाल**—पितृ-गृह निवासपर्यन्त। २—**साधना-काल**—घर छोड़ने के अनन्तर मथुरा पहुंचने से पूर्व का काल। इसमें योग का शिक्षण एवं अभ्यास ही प्रमुख रहा है। ३—**आगम और स्वाध्याय काल**—गुरुवर विरजानन्द के चरणों में उपस्थित होने से लेकर सं० १९३१ (सन् १८७४) तक। इसमें गुरुवर से अध्ययन, स्वाध्याय और मनन प्रमुख रहा। साथ में अपने को भावी कार्य के योग्य बनाने के लिये वे कठोर तपश्चर्या भी करते रहे। ४—**व्यवहारकाल**—इस अन्त्य चरण में ग्रन्थ लेखन, प्रवचन, शास्त्रार्थ तथा मानवोपयोगी गो-रक्षा आदि विविध कार्यों की प्रमुखता रही। परन्तु इन चारों कालों में एक अन्तः सूत्र सदा विद्यमान रहा। वह है—**सत्य का अनुसन्धान** अर्थात् 'सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिये सदा उद्यत रहना'। मेरे विचारानुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती का समस्त जीवन इसी एक सूत्र की क्रियात्मक व्याख्यारूप है।

# स्वामी दयानन्द सरस्वती
## की
# ग्रन्थ-लेखन-शैली

स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में यत्र-तत्र दृश्यमान अशुद्धियों का विवरण हम आगे प्रस्तुत करेंगे। उससे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि उनकी ग्रन्थ-लेखन-शैली किस प्रकार की है; क्योंकि उसके ज्ञान से अशुद्धियों की सम्भावना पर भी प्रकाश पड़ता है।

**काल-भेद से ग्रन्थ-लेखन वा प्रवचन-शैली में अन्तर**—प्राचीन कालीन आर्षयुग में जितने प्रकार के भी ग्रन्थ लिखे गये, उनका वर्गीकरण पाणिनि ने पाँच भागों में किया है। (१) **दृष्ट**, (२) **प्रोक्त**, (३) **उपज्ञात**, (४) **कृत**, (५) **व्याख्यान**।

**दृष्टादि शब्दों का अर्थ**—पाणिनि ने प्राचीन वाङ्मय के विभागीकरण के लिये जिन दृष्ट प्रोक्त उपज्ञात कृत और व्याख्यान शब्दों का व्यवहार किया है, उनका अभिप्राय इस प्रकार है—

१—**दृष्ट**—दृष्ट शब्द का अर्थ है—देखा गया। इस विभाग में पाणिनि ने उस वाङ्मय का निर्देश किया है, जो न किसी के द्वारा कृत है और न प्रोक्त। अर्थात् पूर्वतः विद्यमान वाङ्मय के विषय में ही किन्हीं विशेष विषयों का जो विशिष्ट दर्शन है, वह दृष्ट के अन्तर्गत समझा जाता है।

२—**प्रोक्त**—प्रोक्त का शब्दार्थ है—प्रकर्ष रूप में उक्त=कथित। इस विभाग में वह सारा वाङ्मय आता है, जो पूर्वतः विद्यमान स्व-स्व-विषयक वाङ्मय को ही देश-काल की परिस्थिति के अनुसार ढालकर विशेष रूप में शिष्यों को पढ़ाया जाता है। इस विभाग में सम्पूर्ण शास्त्रीय वाङ्मय का अन्तर्भाव होता है।

३—**उपज्ञात**—उपज्ञात शब्द का अर्थ है—ग्रन्थप्रवक्ता द्वारा स्व-मनीषा से विज्ञात। इसके अन्तर्गत प्रोक्त ग्रन्थों के वे विशिष्ट अंश संगृहीत होते हैं, जिन्हें पूर्व ग्रन्थों का देशकालानुसार प्रवचन करते हुए प्रवक्ता

ने अपनी अपूर्व मेधा के आधार पर सर्वथा नए रूप में सन्निविष्ट किया हो।

४—**कृत**—इसका सामान्य अर्थ है—बनाया हुआ। इस विभाग में वह वाङ्मय संगृहीत होता है, जिनकी पूरी वर्णानुपूर्वी ग्रन्थकार की अपनी हो।

५—**व्याख्यान**—इसका भाव स्पष्ट है। समस्त टीका टिप्पणी और व्याख्या ग्रन्थ इसके अन्तर्गत आते हैं।[1]

उत्तरकाल में वेदविद्या के लोप से और अविद्या के प्रसार से जब नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई तो उन्होंने **परमत-खण्डन और स्वमत मण्डन** शीर्षक एक नयी विद्या को जन्म दिया। यह शैली इतनी व्यापक हुई कि उसने प्राचीन आर्ष साहित्य को भी खण्डन-मण्डन के घेरे में घेर लिया और शास्त्रों का वास्तविक तात्पर्य लुप्त हो गया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जिस काल में अवतरित हुए थे, उस काल में वेदबाह्य एवं वैदेशिक सम्प्रदायों का भी भारत में प्रचलन हो चुका था। अतः उनको देश-काल के अनुरूप प्राचीन आर्षयुगीन ग्रन्थलेखन-शैली में परिवर्तन करना पड़ा। कुछ ग्रन्थ प्राचीन-शैली में लिखे गए और कुछ ग्रन्थ नवीनशैली में, जिसमें मतमतान्तरों का खण्डन और स्वमत का मण्डन हो। इसके अतिरिक्त इस युग में परमत के प्रत्याख्यान के लिए शास्त्रार्थ और प्रवचनों का भी आश्रय लेना पड़ा। इस दृष्टि से हम उनके ग्रन्थों का वर्गीकरण पूर्व ४१ पृष्ठ पर कर आए हैं। वेद का जो स्वरूप स्वामी दयानन्द सरस्वती को ज्ञात हुआ, वह उपज्ञात कहा जा सकता है—**यथेमां वाचं कल्याणीम्** (यजु० २६।२) के विशिष्ट अर्थ का दर्शन दृष्ट का उदाहरण है। संस्कारविधि को प्रोक्त विभाग में रखा जा सकता है। **वेदभाष्य, अष्टाध्यायीभाष्य** आदि कतिपय प्रमुख ग्रन्थ व्याख्यान-शैली के अन्तर्गत आते हैं। **वेद-विरुद्ध-मत खण्डन** आदि कुछ ग्रन्थ खण्डन-मण्डन कोटि में रखे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन समास-व्यास

---

१. इन शब्दों के अर्थों में सम्प्रति कुछ अन्तर हो गया है। प्रोक्त जो प्राचीन प्रवचन शैली थी, उस प्रवचन का अर्थ सम्प्रति व्याख्यान है। इसी प्रकार व्याख्यान के लिये सम्प्रति 'व्याख्या' शब्द का व्यवहार होता है। प्रवचन और व्याख्यान का सम्प्रति अर्थ है, जनता के सम्मुख मौखिक भाषण देना।

शैली अथवा सूत्र-भाष्य शैली का भी अपने ग्रन्थों में अनेकत्र प्रयोग किया है।

तीसरापक्ष, सिद्धान्तपक्ष, अन्योक्ति निदर्शन तथा एकदेशीय समाधान को भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में समाहित किया है।

अब हम इन तीनों शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

(१) **समास एवं व्यास**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में कई स्थानों पर कुछ विषय संक्षेप और विस्तार दोनों प्रकार से लिखे गए हैं। यथा—

(क) पञ्चमहायज्ञविधि के आरम्भ में स्नान के पश्चात् संध्या का संक्षेप से **मार्जन प्राणायाम और गायत्री मन्त्र से शिखाबंधन** के रूप में उल्लेख करने के पश्चात् सन्ध्या की सर्वाङ्गपूर्ण विधि लिखी है।

यदि इसे समास व्यास शैली से लेखन न माना जायेगा तो मार्जन, प्राणायाम और गायत्री मन्त्र के पाठ का पुनरुक्ति दोष उपस्थित होगा।

(ख) संस्कारविधि में प्रायः अनेक संस्कारों के विधिभाग के प्रारम्भ में सामान्यरूप से सामान्य प्रकरण के पृष्ठाङ्क निर्देश सहित सम्पूर्ण विधि का संकेत करने के अनन्तर तत्तत् संस्कार में क्रियमाण सामान्य प्रकरण-स्थ विधियों का पृष्ठाङ्क निर्देशपूर्वक विस्तार से उल्लेख किया है।

यहाँ भी समास व्यास द्विविध लेखन-शैली का दर्शन होता है।

**द्विविध लेखन-शैली का कारण**—भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने महाभारत में वर्ण्यमान इतिहास आरम्भ में संक्षेप से निदर्शन करके उसका आगे सविस्तर वर्णन किया है। समास व्यासरूपी द्विविध-शैली क्यों अपनाई जाती है, इसका उत्तर स्वयं वेदव्यास ने इस प्रकार दिया है—

**इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्।**

(महा० आदिपर्व १।५१)

अर्थात् लोक में विद्वानों को किसी भी विषय का समास या व्यासरूप से धारण करना इष्ट होता है। कोई व्यक्ति समास (संक्षेप) को पसन्द करता है तो कोई विस्तार को।

भगवान् पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण को लक्षित करके लिखा है—

**ते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च।**

**केवलं लक्षणं केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति ।**
(महाभाष्य २।१।५, ६।३।१४)

वे विधियाँ सरलता से गृहीत होती हैं अर्थात् समझ में आती हैं, जिनका लक्षण (संक्षेप से निर्देश) और प्रपञ्च (विस्तार) से विधान होता है। केवल लक्षण वा केवल प्रपञ्च उस प्रकार का नहीं होता अर्थात् सरलता से गृहीत नहीं होता।

(२) **सूत्र एवं भाष्य**—संस्कृत वाङ्मय में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं, जिनके लेखकों ने प्रथम सूत्रों का प्रणयन किया तत्पश्चात् स्वयं उन पर भाष्य लिखा। साहित्य के ग्रन्थों में वामनीय काव्यालंकार, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण सदृश ऐसे ग्रन्थ प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों में तीन ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका प्रारम्भिक भाग सूत्ररूप है और उत्तर सम्पूर्ण ग्रन्थ उनका भाष्यरूप। यथा—कौटिल्य अर्थशास्त्र, वात्स्यायन कामशास्त्र और यास्कीय निघण्टु निरुक्तशास्त्र।

कौटिल्य अर्थशास्त्र और वात्स्यायन कामशास्त्र के प्रथम अध्यायों में उन सूत्रों का संकलन है, जिन पर स्वयं शास्त्रकार ने भाष्य लिखा है। आचार्य चाणक्य ने तो कौटिल्य अर्थशास्त्र के अन्त में स्पष्ट लिखा है—

**दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा सूत्रभाष्यकाराणाम् ।**
**स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च ॥**

सम्प्रति निघण्टुनाम से उपलब्ध पञ्चाध्यायी ग्रन्थ सूत्रात्मक है और **समाम्नायः समाम्नातः** से लेकर अन्त तक सम्प्रति निरुक्त नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी निघण्टुरूप सूत्रात्मक ग्रन्थ का भाष्य है।[1] निघण्टु भाग के लिए सूत्र शब्द का प्रयोग अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यथा--

'**अग्निर्नये** (३।१३) **इत्यस्य निघण्टुसूत्रस्य दुर्मदासो न सुरायाम्** (निरुक्त १।४) **इत्यनेनैव गतार्थता**···।' दुर्गवृत्ति ३।१४॥

सम्प्रति निरुक्त नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ के प्राचीन व्याख्याकार दुर्गाचार्य एवं स्कन्द स्वामी आदि इसका **निरुक्तभाष्य** शब्द से व्यवहार करते हैं और **समाम्नायः समाम्नातः** से आरब्ध ग्रन्थ की अध्याय संख्या में

---

१. यास्क के **समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः** इस समानकर्तृक प्रयोग से समाम्नाय निघण्टु और उसका भाष्य, जो सम्प्रति केवल निरुक्त नाम से जाना जाता है, स्पष्ट है कि दोनों व्याख्येय (निघण्टु) तथा व्याख्यारूप ग्रन्थ एक ही व्यक्ति के द्वारा प्रोक्त हैं।

निघण्टु के पाँच अध्यायों की गणना करके अपनी निरुक्तभाष्यवृत्ति में षष्ठाध्याय से अष्टादश अध्याय संख्या का निर्देश करते हैं। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—

(क) निघण्टु का ही दूसरा नाम **निरुक्त** है। अतएव उसकी व्याख्या होने से **समाम्नायः समाम्नातः** आदि ग्रन्थ **'निरुक्तभाष्य'** है। कौषीतकि गृह्य की व्याख्या (१।२१।६) में भवत्रात लिखता है—**सुवर्णनामधेयेषु लोहशब्द आम्नातो निरुक्ते—लोहं कनकं काञ्चनम् इति**। सायणाचार्य ने भी ऋग्भाष्योपक्रमणिका में निघण्टु के लिये निरुक्त शब्द का व्यवहार माना है। कौत्सव्य का जो प्राचीन निघण्टु उपलब्ध है, उसके अन्त में निघण्टु के साथ निरुक्त पद भी उपलब्ध होता है।

(ख) दुर्गाचार्य प्रभृति प्राचीन व्याख्याकारों द्वारा निघण्टु के पाँच अध्यायों को सम्मिलित करके निरुक्त भाष्य के अध्यायों का निर्देश करना इस बात का प्रमाण है कि ये व्याख्याकार सम्प्रति दो विभिन्न ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत दोनों को एक ही व्यक्ति द्वारा प्रोक्त मानते हैं। जैसे कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं वात्स्यायन कामशास्त्र। इसके विपरीत विशाल संस्कृत वाङ्मय में एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता, जिसके सूत्रभाग और भाष्यभाग के रचयिता पृथक्-पृथक् न हों और भाष्यभाग के अध्यायों की सख्या के साथ सूत्रभाग के अध्यायों की संख्या जोड़कर अध्यायों की गणना की गई हो।

चरक एवं सुश्रुत आदि में प्रति अध्याय के आरम्भ का वचन सूत्ररूप है। यथा—

**अथातो दीर्घजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।**

(चरक सूत्रस्थान १।१)

**अथातो व्याधितरूपीयविमानं व्याख्यास्यामः।**

(चरक निदान ७।१)

**अथातो वेदोत्पत्तिनामाध्यायं व्याख्यास्यामः।**

(सुश्रुत सूत्रस्थान १।१)

**अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।**

(सुश्रुत सूत्रस्थान २।१)

इन सूत्रात्मक वचनों के अनन्तर पूरा अध्याय उसी की व्याख्या रूप है, यह प्रत्येक आयुर्वेदज्ञ जानता है। ऐसे कुछ अन्य ग्रन्थ भी हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रसिद्ध रचना सत्यार्थप्रकाश के प्रत्येक

समुल्लास के आरम्भ में संस्कृत में निर्दिष्ट **अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः, अथाध्ययनाध्यापनविधिं वक्ष्यामः** आदि वचन सूत्ररूप हैं[1] और तत्तत् समुल्लास का सम्पूर्ण लेख इन्हीं सूत्रों का भाष्यरूप है। संस्कारविधि में भी प्रति संस्कार के आरम्भ में निर्दिष्ट **अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः** आदि संस्कृत वाक्य सूत्ररूप हैं और अगला समस्त प्रकरण उसकी व्याख्यारूप है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विषयनिर्देश का सूत्र है और नीचे विवृत उसका व्याख्यान है। वेदभाष्य में तो प्रतिमन्त्र जो '**···इत्युपदिश्यते**' आदि पंक्ति मिलती है, वह सूत्रवत् है और पदार्थ अन्वयभावार्थ उसका व्याख्यान है।

(३) **सिद्धान्तपक्ष अन्योक्तिनिदर्शन एवं एकदेशीय समाधान**— स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस शैली का **सत्यार्थप्रकाश** के लेखन में विशेष उपयोग किया है। संस्कारविधि में भी इस शैली का स्वल्परूप में दर्शन होता है।

पतञ्जलि ने महाभाष्य की रचना में इस शैली का प्रमुखता से प्रयोग किया है। सम्पूर्ण महाभाष्य को हम तीन विभागों में बाँट सकते हैं। **एक** भाग वह है, जिसमें पतञ्जलि ने **सिद्धान्तपक्ष** को प्रमुखता दी है। **दूसरा** भाग वह है, जिसका पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी व्याकरणान्तरों के वचनों में निर्दिष्ट विषय के उपयोगी होने से संग्रह किया है। यथा—

**इष्णुच इकारादित्वमुदात्तत्वात्कृतं भुवः।**
**नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुचः ॥३।२।५७॥**

पाणिनीय व्याकरण में ३।२।५७ में इष्णुच् प्रत्यय नहीं है, 'खिष्णुच्' है।

इसी प्रकार महाभाष्य ४।३।६० में तीन कारिकाएँ पठित हैं—

**समानस्य तदादेश्च अध्यात्मादिषु चेष्यते।**
**ऊर्ध्वं दमाच्च देहाच्च लोकात्तरपदस्य च ॥१॥**

**मुखपार्श्वतसोरीयः कुग्जनस्य परस्य च।**
**ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ चापि प्रत्ययौ ॥२॥**

---

१. प्रथम समुल्लास के आरम्भ में ऐसा सूत्ररूप वचन उपलब्ध नहीं होता। इसका कारण हमें ज्ञात नहीं।

**मध्य मध्यं दिनण्चास्मात् स्थाम्नो लुगजिनात्तथा ।**
**बाह्यो दैव्यः पाञ्चजन्यो गाम्भीर्य च ञ्य इष्यते ।।३।।**

महाभाष्य में अन्य व्याकरण की उद्धृत इन कारिकाओं में कुछ अंश ऐसे हैं, जिनका पाणिनीय व्याकरण में संग्रह है, परन्तु अधिकाँश भाग पाणिनीय तन्त्र में संगृहीत नहीं है ।

तीसरा भाग है **एकदेशीय समाधान** । महाभाष्य में पचासों स्थानों पर एकदेशीय समाधान दिये हैं । वैयाकरण ऐसे समाधानों के लिए प्रौढोक्ति प्रौढिवाद का प्रयोग करते हैं । ऐसा समाधान प्रायः शङ्का करने वालों का मुँह बन्द करने के लिए किया जाता है । ये उत्तर सिद्धान्तरूप नहीं होते । इन्हें सिद्धान्तरूप उत्तर मानने पर अन्यत्र स्वीकृत सिद्धान्त-पक्ष में दोष आता है ।

सत्यार्थप्रकाश के पूर्वार्ध में सिद्धान्तपक्ष का बाहुल्य है । इस भाग की रचना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदादि सत्यशास्त्रों के आधार पर की है और इन विषयों को सिद्धान्तरूप में अर्थात् स्वमन्तव्य के रूप में उपस्थापित किया है । किन्तु इस ग्रन्थ में अनेक उद्धरण ऐसे भी दिये हैं, जिन्हें ग्रन्थकार सर्वांश में स्वीकार नहीं करते । यथा—

**गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।**
**प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ।।**

मनुस्मृति ५।६५ का श्लोक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रकृत में केवल **प्रेत** शब्द का अर्थ दर्शाने के लिए उद्धृत किया है । पितृमेध= अन्त्येष्टि के अनन्तर 'दशरात्रि में शुद्धि होती है' इसको स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वीकार नहीं करते । उन्होंने अपनी संस्कारविधि के अन्त्येष्टि संस्कार में केवल अस्थिचयन के दिन तक अशुद्धि का प्रतिपादन किया है ।

संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में गर्भाधान एवं अन्नप्राशन संस्कार में ग्रन्थकार ने मांसभक्षण विधायक कतिपय वचन उद्धृत किये हैं । वहाँ इन्हें **एकदेशीयमत** माना है । (द्रष्टव्य पृष्ठसंख्या ११, ४२) ।

इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक विज्ञापन भी प्रकाशित किया था । उसमें उन्होंने लिखा था—

**'सबको विदित हो कि जो-जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं, उनको मैं मानता हूं, विरुद्ध बातों को नहीं । इससे जो-जो मेरे बनाये**

सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे हैं, वे उन-उन ग्रन्थों के मतों को जनाने के लिये लिखे हैं। उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूं।'

(ऋषि द० स० के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, पूर्ण संख्या—१०१,तृ०स०; १७१, च० सं०)।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेक स्थानों पर एकदेशीय समाधान भी दिये हैं। यथा—

**प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय, तो उसके माँ बाप की सेवा कौन करेगा? और वंशच्छेदन भी हो जायेगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिये?**

**उत्तर—न किसी की सेवा का भंग, और न वंशच्छेदन होगा। क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की ओर से मिलेंगे। इसलिये कुछ भी अव्यवस्था न होगी।** (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास)

इस उत्तर में ग्रन्थकार ने अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य अन्य पुत्र-पुत्रियों की प्राप्ति का उल्लेख किया है। अर्थात् यहाँ पुत्र-परिवर्तन का विधान किया है।

पुत्र-परिवर्तन वेद के विरुद्ध है। ऋग्वेद (७।४।८) का मन्त्र है—

**नहि गृभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।**[1]

इस मन्त्र में अत्यन्त सुखदायी पर सन्तान को न केवल स्वीकार करने का निषेध है अपितु अन्य के पुत्र को मन से भी अपना न मानने का निर्देश है।

इसी प्रकार प्रथम समुल्लास में वेदादि सच्छास्त्रप्रतिपादित ईश्वर के नामों की व्याख्या में नवग्रहान्तर्गत शनैश्चर केतु और राहु की भी जो ईश्वरपरक व्याख्या की है, वह मेरे विचार में प्रौढोक्ति मात्र है।

प्रौढोक्ति अर्थात् जबरदस्ती के एकदेशीय समाधान को स्वामी दयानन्द सरस्वती अवसर पड़ने पर अयुक्त नहीं मानते थे। सत्यार्थप्रकाश समु० ११ में शङ्कराचार्य के मत के सम्बन्ध में लिखा है—

१. न हि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुखतमोऽपि। अन्योदर्यो मनसाऽपि न मन्तव्यः ममायं पुत्र इति। निरुक्त ३।३॥

**'अब इसमें विचारना चाहिये कि जो जीव ब्रह्म की एकता, जगत् मिथ्या शंकराचार्य का निज मत था, तो वह अच्छा मत नहीं। जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत को स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।'**

यहाँ 'जो जैनियों के खण्डन के लिए उस मत को स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है' लेख से स्पष्ट है कि आवश्यकता के समय प्रौढोक्ति का आश्रय लेना स्वामी दयानन्द सरस्वती अनुचित नहीं मानते थे। पुत्र-परिवर्तन सम्बन्धी जो मत है, वह भी प्रश्नकर्त्ता के गुणकर्मानुसार पुत्र के अन्य वर्ण का हो जाने पर **'माँ-बाप की सेवा कौन करेगा'** तथा **'वंशच्छेदन हो जायेगा'** शंका के निरासन मात्र के लिए उपस्थापित किया है।

**तृतीयशैली की दृष्टि से विशेष अध्ययन**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का आजतक इस दृष्टि से अध्ययन ही नहीं हो पाया कि किस ग्रन्थ में कौन-कौन से भाग सिद्धान्तरूप से लिखे गये हैं तथा कौन से उद्धरण केवल तत्तद् ग्रन्थों के मतों का निर्देश करने की दृष्टि से संकलित किये गये हैं और कौन-कौन से लेख प्रौढोक्ति मात्र हैं अर्थात् न वे ग्रन्थकार के स्वमत हैं और न अन्य ग्रन्थकारों के हैं।

हमारे विचार में सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के प्रकरणों का इस प्रकार का विभागीकरण अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा दयानन्द के अनुयायियों को **ब्रह्मवाक्यं जनार्दन** के समान प्रत्येक अक्षर पंक्ति को स्वामी दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्त मानने पर बाधित होना पड़ता है और पड़ेगा। हमें स्मरण है कि बहुत वर्ष पहले एक विद्वान् (नाम स्मरण नहीं) ने पुत्र-परिवर्तन को भी वेदानुकूल सिद्ध करने के लिए एक पुस्तिका लिखी थी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थ प्रमुखतया सत्यार्थप्रकाश उक्त तृतीय शैली में लिखे गये हैं, इसकी प्रतीति कुछ मास पूर्व इस लेख के लेखन काल में ही हुई। यदि 'सत्यार्थप्रकाश उक्त तृतीय शैली में लिखा गया है' की प्रतीति कुछ वर्ष पूर्व हो जाती तो मैं अपनी मति के अनुसार सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न रूप में लिखे गये अंशों का विभागीकरण कर सकता था। अब तो अस्वस्थता के कारण यह कार्य करने में असमर्थ हूं।

# स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित
# ग्रन्थों के आधारभूत ग्रन्थ

वेदभाष्य के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के आरम्भ में लिखा है—मनुष्यों के हित के लिए सत्य अर्थ और ईश्वर के अनुग्रह से यह वेदभाष्य करता हूं। प्राचीन ऋषि-मुनियों की जो सनातनी व्याख्यान रीति है, उसका आश्रयण कर मैं मन्त्रों के अर्थों का विधान करूंगा। मेरे इस प्रयत्न से आधुनिक भाष्य और टीकाओं से जो दूषित अर्थ हैं, वो सब नष्ट होवें और वेदों का जो सनातन सत्यार्थ है, वह प्रकाशित होवे ॥[1]

इसी प्रकार वेदभाष्य के सम्बन्ध में संवत् १९३३ में संस्कृत में जो विज्ञापन दिया था, उसमें लिखा था—"यह वेदभाष्य अपूर्व होता है; क्योंकि महाविद्वान् पूर्वजों के यथावत् वेदार्थ को जाननेवाले आप्त, धर्मात्मा सर्वलोकोपकारक बुद्धिवाले, वेदवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, परमयोगी ब्रह्मादि व्यास पर्यन्त ऋषि-मुनियों की कृति सनातन वेद-वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ ब्राह्मणादि, पूर्वमीमांसा शास्त्रादि, वेदोपनिषद् शाखान्तर मूल वेदादि सत्यशास्त्र के वचन प्रमाण संग्रह लेखन योजन तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण युक्ति के साथ रचा जाता है।"[2]

---

१. मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥४॥
आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥६॥
येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः।
दोषा सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥७॥
सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः।
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥८॥

२. इदं वेदभाष्यमपूर्वं भवति। कुतः? महाविदुषामार्य्याणां पूर्वजानां यथावद्वेदार्थविदामाप्तानामात्मकामानां धर्म्मात्मनां सर्वलोकोपकारबुद्धीनां श्रोत्रियाणां ब्रह्मनिष्ठानां परमयोगिनां ब्रह्मादिव्यासपर्य्यन्तानां मुन्यृषीणामेषां कृतीनां सनातनानां

इत्यादि वचनों से ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने वेदभाष्य की रचना में प्राचीन ऋषि-मुनियों के शतशः ग्रन्थों का आश्रय लिया था। "भ्रान्ति निवारण" में वे एक स्थान पर लिखते हैं—**"मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेके पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूं।"** इससे पता चलता है कि तीन सहस्र ग्रन्थों को प्रमाण माननेवाले व्यक्ति ने कितने सहस्र ग्रन्थों का अवलोकन और मनन किया होगा।

गृहपरित्याग के पश्चात् लगभग बीस वर्ष के भ्रमणकाल में वे जहाँ भी जाते थे, नये-नये ग्रन्थों के अध्ययन की उत्सुकता प्रकट करते थे। यह उनके आत्मवृत्त से स्पष्ट विदित होता है। इतना ही नहीं, अन्तिम दस वर्षों में जब वे विविध कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहते थे, तब भी नये दुर्लभ ग्रन्थों की खोज में लगे रहते थे। इसी काल में हम बनेड़ा राज्य (राजस्थान) के पुस्तकालय में स्वामी दयानन्द सरस्वती को सामवेदसंहिता की प्रतिलिपि कराते हुए पाते हैं (पण्डित लेखराम कृत जीवनचरित, हिन्दी संस्करण, पृष्ठ ५९०)। सम्भवतः बनेड़ा में ही अथर्ववेदसंहिता—जिस पर स्वर चिह्न लगे हुए नहीं थे—लगाने का निर्देश पाते हैं और इसी पुस्तकालय के सरस्वती भण्डार से स्वामीजी ने अपने निघण्टु को मिलाया था और याज्ञवल्क्य शिक्षा की प्रतिलिपि की थी। (वही; पृष्ठ ५९१)।

ऐसे ग्रन्थान्वेषी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य के अपूर्व होने में जो युक्तियाँ दी हैं, वे निश्चय ही परम सत्य हैं।

ऊपर विज्ञापन का जो हिन्दी अनुवाद दिया है, उसमें लिखा है—**"ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त।"** इस लेख में ऐतिहासिक दृष्टि से एक महती विप्रतिपत्ति आती है। ब्रह्माजी सृष्टि के आरम्भ में हुए और व्यास मुनि द्वापर के अन्तिम चरण में। सम्प्रति महाभाष्य में जिन ११३१ सशाख वेदों का वर्णन है, वह सब कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के

---

वेदाङ्गानामैतरेय-शतपथसामगोपथब्राह्मणपूर्वमीमांसादिशास्त्रोपवेदोपनिषच्छाखान्तर-मूलवेदादिसत्यशास्त्राणां वचनप्रमाणसंग्रहलेखयोजनेन प्रत्यक्षादिप्रमाणयुक्तया च सहैव रच्यते ह्यतः।

—द्रष्टव्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन; भाग-१, पृष्ठ ६८, तृतीय संस्करण; पृ० ९५, च० सं०।

शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त है। इससे पूर्व वेदों का अनेक बार लोप हुआ है और विभिन्न काल में कृष्णद्वैपायन के अतिरिक्त सत्ताईस वेदव्यासों ने वेदों का पुनरुद्धार किया है। ऐसी अवस्था में कृष्णद्वैपायन व्यास से पूर्व प्रोक्त वैदिक ग्रन्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती को उपलब्ध ही नहीं हो सकते। फिर उन्होंने ऐसी असम्भव प्रतिज्ञा क्यों की? सम्प्रति जो वैदिक ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें केवल ऐतरेयब्राह्मण ही वेदव्यास से कई सौ वर्ष पूर्व प्रोक्त है; परन्तु उसका जो सम्प्रति पाठ उपलब्ध होता है, वह शौनक द्वारा पुनः प्रोक्त है।

यह समस्या हमें वर्षों तक तंग करती रही। दयानन्द जैसा सत्यप्रिय व्यक्ति कभी मिथ्या नहीं लिख सकता; यह भावना भी हमारे मन में विद्यमान थी; परन्तु इस समस्या का हल बहुत वर्षों तक हमारी समझ में नहीं आया। व्याकरण का इतिहास लिखते समय जब हमने पाणिनीय-निर्दिष्ट प्रोक्त-विभाग को समझने का यत्न किया और चरक संहिता का निम्न वचन हमारी दृष्टि में आया—

**विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।**
**संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥**

—सूत्रस्थान अध्याय १

इससे यह स्पष्ट हुआ कि ऋषि लोग जिन ग्रन्थों का प्रवचन करते थे, उनमें पुरातन सामग्री भी सुरक्षित रहती थी। स्वयं पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस प्रकार के अनेक प्रसङ्ग हैं, जो यथातथ रूप में प्राचीन शास्त्र से ले लिये हैं। (द्रष्टव्य—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २४६, संस्करण ४, अष्टाध्यायी में प्राचीन सूत्रों का उद्धार प्रकरण)।

इस दृष्टि से कृष्णद्वैपायन व्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में आदिकालीन वेदार्थ के संकेत विद्यमान हो सकते हैं। यदि कोई मेधावी विद्वान् इस कार्य को करे तो उसे प्राचीनकालीन अनेक अंश इन ग्रन्थों में मिल सकते हैं।

उदाहरण के लिए हम शतपथब्राह्मण के प्रारम्भ का एक प्रकरण लिखते हैं। ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य ने शतपथब्राह्मण १।१।२।२,५ में लिखा है—**तस्मादनस एव गृह्णीयात्·····तस्माद् अनस एव यजूंषि सन्ति न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै, भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तद्वृषीन्प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुस्तान्येतर्हि प्राकृतानि···॥७॥**

महर्षि याज्ञवल्क्य अपने समय के विशिष्ट सम्पन्न ऋषियों में अन्यतम थे। उन्होंने दर्शपौर्णमास की दो-दो आहुतियों के लिए चार-चार मुट्ठी, अर्थात् आठ मुट्ठी व्रीहि वा यव ग्रहण करने के लिए शकट का वर्णन किया है। अर्थात् यज्ञशाला के समीप में गाड़ी भरकर अन्न लाया जाय और उसमें से आठ मुट्ठी यज्ञीय भाग ग्रहण किया जाय, उन्होंने बलपूर्वक कहा है कि **अनस एव यजूंषि सन्ति** (अर्थात् जिन मन्त्रों से हवि ग्रहण करनी हैं, वे अनस अर्थात् गाड़ी सम्बन्धी हैं; न कुम्भी के मन्त्र हैं, न कोष्ठ =कुठाली के)। इतना लिखने के पश्चात् वे लिखते हैं—"अति प्राचीन-काल के ऋषि लोग भस्त्रा से अर्थात् मोटे कपड़े के थैले से ही हवि का ग्रहण करते थे। उनके लिए ये ही हवि के ग्रहण मन्त्र भस्त्रा के लिए थे। इसलिए ये यज्ञ प्राकृत हैं अर्थात् सामान्य हैं।"

यहाँ पर यह विशेष ध्यान देना चाहिए कि भस्त्रा से हविर्ग्रहण उस काल के ऋषि-मुनि करते रहे होंगे, जो धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार दो-चार दिन से अधिक का सामान नहीं रखते थे। इसी तथ्य को याज्ञ-वल्क्य ने भी **पुरा ह स्म ऋषयः** शब्दों से द्योतित किया है। अनः के स्थान पर पात्री से भी हवि-ग्रहण का वर्णन प्रायः मिलता है।

इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट हैं कि प्रोक्त ग्रन्थों में अतिप्राचीनकालीन यज्ञीय विधियों का निर्देश यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। उसके लिए विशेष सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है। इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती का कथन **"ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त"** सम्यक् उपपन्न होता है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि याज्ञवल्क्य ने हविर्ग्रहण-मन्त्रों को अनः सम्बन्धी कहकर भी प्राकृत अर्थात् सामान्य कहा है। इसलिए किसी भी वस्तु से हवि का ग्रहण उक्त मन्त्रों द्वारा किया जा सकता है। हमारे अध्ययन में ऐसे अनेक स्थल आये हैं, जो प्राचीन मन्त्रार्थ की ओर संकेत करते हैं।[1]

## आधारभूत ग्रन्थों में महाभाष्य की प्रमुखता

प्राचीन वाङ्मय में पातञ्जल महाभाष्य एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसका

---

१. प्राचीन वेदांग-उपांगादि सूत्रग्रन्थों में अनेक ऋषियों के ऐसे मत उद्धृत हैं, जो शाखा-प्रवर्तक रहे होंगे अथवा तत्सम्बद्ध किन्हीं सूत्र-ग्रन्थों के रचयिता। हमने "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के अध्याय २ के अन्त में लगभग ६० आचार्यों के नाम उद्धृत किए हैं।

सम्बन्ध पाणिनीय व्याकरण के साथ होता हुआ भी अनेक विषयों का प्रतिमानभूत ग्रन्थ है। इसीलिए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में लिखा है—

**कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।**
**सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धनम् ॥२।४८६॥**

अर्थात् पतञ्जलि मुनि ने सब न्याय-बीजों का महाभाष्य में संग्रह किया। अर्थात् व्याकरण के सिद्धान्तों के अतिरिक्त लौकिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का भी महाभाष्य में यथास्थान संग्रह मिलता है। यदि हम यह कहें कि पतञ्जलि मुनि ने लौकिक न्यायों और कथानकों (=संवादों) का आश्रय लेकर व्याकरण के दुरूह अंशों की बड़ी सरलता से हृदयंगम व्याख्या की है, तो यह अत्युक्ति न होगी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महाभाष्य के इसी स्वरूप को समक्ष रखते हुए, अपने ग्रन्थों में महाभाष्य को प्रमुख आधार बनाया। उन्होंने वेदभाष्य से लेकर जितने ग्रन्थ लिखे, उनमें तो महाभाष्य का आश्रय लिया ही; इसके अतिरिक्त व्याख्यान शास्त्रार्थ और पत्र-व्यवहार आदि में भी महाभाष्य के वचनों को यथास्थान उद्धृत करके स्वकथन के मन्तव्य को संपुष्ट किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जितने ग्रन्थ लिखे, शास्त्रार्थ और प्रवचन किये, समय-समय पर पत्र-व्यवहार और विज्ञापन प्रकाशित किए, उन सबका संक्षिप्त निर्देश हम पूर्व (पृष्ठ ३०-४०) कर चुके हैं। इन ग्रन्थों का जो विशेष परिचय प्राप्त करना चाहें वे मेरे **"ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास"** नामक ग्रन्थ का अवलोकन करें। यहाँ पर हम निदर्शनार्थ महाभाष्य के वचनों का किस ग्रन्थ में किस रूप में उपयोग किया है, कतिपय उदाहरण उपस्थित करते हैं।

**वेदार्थ में महाभाष्य के वचनों का उपयोग**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में महाभाष्य के अनेक वचन उद्धृत किये हैं। उन सबका यहाँ निर्देश सम्भव नहीं है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'व्याकरण-नियमविषय' में अष्टाध्यायी के सूत्रों के साथ महाभाष्य के अनेक वचन उद्धृत किये हैं। उनमें से निदर्शनार्थ हम कुछ वचन उद्धृत करते हैं। यथा—

(१) **अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः, अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते। ॥१।१।४४॥**

अर्थात्—अर्थ का बोध कराने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थ का बोध कराऊँगा, इस विचार से शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस वचन की तुलना वैशेषिकदर्शन के **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (६।१) अर्थात्—वेद की रचना बुद्धिपूर्वक की गई है, के साथ करें।

(२) **प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति। न काञ्चित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। तत्र यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या ॥१।१।५५॥**

अर्थात्—प्रातिपदिक का निर्देश अर्थ की प्रधानता को लेकर किया जाता है, वे किसी विभक्ति का प्रधानरूप से आश्रय नहीं करते। वहाँ (=व्यवहार में) जिस-जिस विभक्ति को आश्रय करने की बुद्धि उत्पन्न होती है, उसका आश्रयण करना चाहिये।

इस वचन की वैयाकरणों के **'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्'** (पा० म०—४।१।९२) अर्थात्—सूत्र में लिङ्ग और वचन गौण हैं, के साथ करें।

उक्त दोनों महाभाष्य के वचनों को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवत् १९३३ में छपवाये अपने ऋग्वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में प्रथम मण्डल के द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में भी पृष्ठ २४ पर उद्धृत किया है।

(३) **अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते ॥४।१।२७॥**

अर्थात्—अचेतन पदार्थों में भी चेतन के समान व्यवहार देखा जाता है।

इस वचन का निर्देश स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९३२ में प्रकाशित पञ्चमहायज्ञविधि के अन्त में मुद्रित लक्ष्मीसूक्त के ५,७,१२ संख्याक मन्त्रों के भाष्य में **'अचेतनेष्वपि चेदनवदुपचाराद् अदोषः'** के रूप में किया है।

लोक में अचेतन में चेतनवद् व्यवहार प्रायः देखा जाता है। वहाँ उस अचेतन द्रव्य में किसी अधिष्ठात्री आदि देवता की कोई कल्पना नहीं करता, परन्तु वेद में अग्नि, वायु आदि अचेतन द्रव्यों के चेतनवत् सम्बोधनादि को देखकर मध्ययुगीन वेदभाष्यकारों ने **अधिष्ठात्री देवता** की कल्पना कर ली। अचेतन द्रव्य में चेतनवत् व्यवहार—**'कूलं पिपतिषति'** नदी का किनारा गिरना चाहता है। यहाँ अचेतन में इच्छा का अभाव होने से इसका तात्पर्य होता है—**'किनारा गिरने वाला है।'**

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मध्ययुगीन अधिष्ठात्रीदेवतावाद से छुटकारा दिलाने के लिये **'वायवा याहि दर्शत'** (ऋ० १।२।१) आदि के भाष्य में इसका चेतनवद् व्यवहार के सम्बोधन के रूप में व्याख्यान न करके तात्पर्यनिदर्शक **'वायुरायाति'** (=वायु आता है) के रूप में किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में अचेतन पदार्थों के साथ सम्बोधन विभक्ति का प्रथमाविभक्त्यन्त और मध्यमपुरुष के क्रिया पद का प्रथम पुरुष के रूप में किया गया अर्थ देखकर अनेक विद्वान् नाक भौं सिकोड़ते हैं और इसे मनमानी कल्पना मानते हैं। ऐसे लोगों को **'कूलं पिपतिषति'** के 'किनारा गिरनेवाला है' इस तात्पर्यार्थ रूप में कोई सन्देह नहीं होता।

सांख्यदर्शनकार ने कहा है—**'लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः'** (= लोकव्यवहार में व्युत्पन्न पुरुष को ही वेद के मूल तात्पर्य की प्रतीति होती है)। इसी बात को ध्यान में रखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः' में लिखा है—

**व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यम्—जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव [तस्य] प्रयोजनमिति।**

**इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।'**

अर्थात् व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष अपनी-अपनी जगह होते हैं। जड़ पदार्थों में प्रथम ही, चेतन में मध्यम वा उत्तम ही होते हैं। यह लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। वहाँ यह भी जानना चाहिये कि ईश्वर ने जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे उपकार लेना जनाया है, अन्य प्रयोजन नहीं है।

इस नियम को न जानकर सायणाचार्य आदि भाष्यकारों, तथा उन्हीं के बनाए हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा का अन्यथा वर्णन किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मध्यकाल में आश्रित अन्वयपूर्विका मन्त्र व्याख्या लेखन का परित्याग करके प्राचीन आर्षकालीन परम्परानुसार स्ववेद भाष्य में यथाक्रम मन्त्रपदों की व्याख्या की है। यास्कीय निरुक्त में भी यथाक्रम मन्त्रपदों की व्याख्या मिलती है, परन्तु उसमें दूर पठित उपसर्ग को क्रियापद के साथ जोड़कर ही मन्त्रार्थ दर्शाया है। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रतिमन्त्र पदार्थ में क्रिया से साक्षात् असम्बद्ध व्यवहित उपसर्गों का यथास्थान यथाक्रम व्याख्यान किया है। इस व्याख्या का आधार है पातञ्जलमहाभाष्य का निम्न वचन—

(४) **'उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची पदं श्रूयते तत्र क्रियाविशेषमाहुः। यत्र हि न श्रूयते तत्र ससाधनां क्रियामाहुः।'**

(महा० ५।२।२८)

अर्थात्—उपसर्गों का यह स्वभाव है कि जहाँ क्रियावाची शब्द प्रयुक्त होता है, वहाँ वे क्रिया की विशेषता को कहते हैं और जहाँ क्रियावाची शब्द प्रयुक्त नहीं होता वहाँ वे साधन (कारक—कर्त्ता, कर्म आदि) सहित क्रिया को कहते हैं अर्थात् ससाधन क्रिया को अध्याहृत करते हैं।

मन्त्रों में प्रायः क्रियापदों और सम्बोधनों के दो प्रकार के स्वर उपलब्ध होते हैं। जहाँ ये पद पाद के आदि में प्रयुक्त होते हैं, वहाँ ये उदात्त होते हैं और जहाँ ये पाद के मध्य वा अन्त में प्रयुक्त होते हैं, वहाँ ये अनुदात्त होते हैं। उदात्तपद की वाक्यार्थ में प्रधानता होती है और अनुदात्त पद की अप्रधानता। अतः मन्त्रपदानुसार व्याख्या करने पर उदात्त क्रियापद और सम्बोधन के अर्थ की प्रधानता यथावत् रहती है। अन्वय करने पर क्रियापद को अन्त में जोड़ना पड़ता है। इससे उसके अर्थ का वैशिष्ट्य नष्ट हो जाता है। यथा—

**आ त्वा कण्वा अहूषत, गृणन्ति विप्र ते धियः।**
**देवेभिरग्न आगहि।** (ऋ० १।१४।२)

पदक्रमानुसार अर्थ होगा—सब ओर से तुझे कण्व बुलाते हैं, स्तुति करते हैं हे विप्र! तुम्हारी बुद्धियों की। देवों के साथ हे अग्ने! आओ।

इस मन्त्र में द्वितीय पाद के आरम्भ में होने से **गृणन्ति** पद उदात्त

है। अतः यहाँ स्तुति क्रिया की प्रधानता द्योतित होती है।[1] अन्वय में **गृणन्ति** पद को अन्त में ले जाने पर वह स्वरशास्त्र के नियम से अनुदात्त होगा और उसका अर्थ गौण हो जायेगा[2]। इसी प्रकार तृतीय पाद में **'अग्ने'** पद मध्य में आने से अनुदात्त है। अतः यहाँ संबोधन होने पर भी अकेले अग्नि के आगमन की अप्रधानता और पाद के आरम्भ में **देवेभिः** का निर्देश होने से देवों के साथ आगमन की प्रधानता द्योतित होती है।

लोक में भी क्रिया पद के आदि वा अन्त में बोलने पर विशिष्टार्थ की प्रतीति होती है। यथा—

**गच्छ ग्रामम्** = जा गाँव को।
**ग्रामं गच्छ** = गाँव को जा।

इन दोनों में प्रथम वाक्य में **गच्छ** क्रिया की प्रधानता जानी जाती है। उससे **'तत्काल गाँव जा'** यह अर्थ ध्वनित होता है। द्वितीय वाक्य में **गच्छ** की प्रधानता न होने से तात्कालिक गमन अभिप्रेत नहीं होता, केवल गाँव जाने का आदेशमात्र जाना जाता है।

वाक्यरचना में पदक्रम निर्देश भी विशेष महत्त्व रखता है। हनुमान् सीता को खोजकर जब लौटकर राम के पास जाते हैं तो वे कहते हैं—

**दृष्टा सीता मया राम !**

हनुमान् को आता हुआ देखकर राम के मन में प्रथम भाव पैदा होता है—सीता कहीं दिखाई पड़ी भी या नहीं ? अतः हनुमान् कहते हैं—**दृष्टा** = देखी है। सीता को देखा या अन्य स्त्री को ? इस संशय की निवृत्ति के लिये हनुमान् कहते हैं—**सीता**। स्वयं देखी वा अन्य ने देखी ? इस संशय के निवृत्त्यर्थ हनुमान् कहते हैं—**मया**।

अब यदि इसे अन्वयपूर्वक कहें—**हे राम ! मैंने सीता को देखा**, तो इससे राम के मन में क्रमशः उत्पन्न होनेवाले भावों का यथाक्रम समाधान नहीं होता। अतएव महाभाष्यकार ने कहा है—

**यथेष्टं प्रयोगो भवति आहर कुम्भम्, कुम्भमाहर (१।१।१)।**

सामान्यतया यह समझा जाता है कि संस्कृत भाषा में वाक्यरचना में पदों को चाहे किसी क्रम से रख दो, अर्थ समान ही होगा, परन्तु यह

---

१. तीव्रार्थतरमुदात्तम् (निरु० ४।२)।

२. अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् (निरु० ४।२५)।

धारणा पूर्णतया सत्य नहीं है। वेद में तो क्रिया पद तथा सम्बोधन पद के पाद के आरम्भ में आने पर उनके उदात्त होने से अर्थ का वैशिष्ट्य तो जाना ही जाता है, परन्तु अन्य पदों के अर्थ में भी स्थान या क्रम के कारण कुछ-न-कुछ वैशिष्ट्य जाना जाता है। जैसे ऊपर उद्धृत मन्त्र के **'देवेभिरग्न आगहि'** में **देवेभिः** के प्रारम्भ में पठित होने से उनके सहित अग्नि का आगमन इष्ट है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य की विशेषता पदार्थ में है। हाँ; जिन लोगों को काव्य, साहित्य अन्वयपूर्वक पढ़ने-पढ़ाने का स्वभाव बन चुका है, वे बिना अन्वय के पदार्थ समझने में असमर्थ होते हैं। अतः ऐसे मध्यम कोटि के व्यक्तियों के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य में अन्वय की भी व्यवस्था की है और जो साधारण जन हैं, उनको भी मन्त्र का कुछ तात्पर्य समझ में आ जाये, इसलिये मन्त्र का भावार्थ भी दर्शाया है।

**मन्त्रोक्त पुंल्लिङ्ग पद का स्त्रीलिङ्ग रूप में भी अर्थनिर्देश**—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'ऊह' के प्रसङ्ग में वेदार्थविषयक एक विशिष्ट तत्त्व का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

**(५) ऊहः खल्वपि—न च सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिः वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते च यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः।**

(महा० १।१। आ० १)

अर्थात् वेद में सब लिङ्गों और सब विभक्तियों से युक्त मन्त्र नहीं पढ़े हैं। उनकी यज्ञों के प्रसङ्ग में यथातथ ऊहा कर लेनी चाहिये।

इस प्रसङ्ग में पूर्वोक्त वैयाकरण नियम **'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्'** का सम्बन्ध भी जान लेना चाहिये।

इस वचन में केवल लिङ्ग और वचनों के विषय में कहा है, परन्तु यज्ञों में प्रातिपदिक का भी ऊह होता है। जैसे—पौर्णमासेष्टि प्रकरण में हवि के निर्वाप के दो मन्त्र पढ़े हैं—

**अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि, अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं निर्वपामि।**

(यजु० १।१३)

अर्थात्—मैं अग्नि देवता के लिये हवि को ग्रहण करता हूं, अग्नि सोम देवताओं के लिये हवि को ग्रहण करता हूं। यदि किसी को सौर्येष्टि के लिये हवि का निर्वाप करना हो तो मन्त्र पढ़ा जायेगा—**'सूर्याय त्वा जुष्टं**

निर्वपामि', इन्द्राग्नी देवताक यज्ञ में मन्त्र पढ़ा जायेगा—**इन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं निर्वपामि**।

महाभाष्य के उपर्युक्त वचन में **"न सर्वैर्लिङ्गैः"** पाठ है। पाणिनीय वैयाकरण लिङ्ग शब्द से पुमान्, स्त्री और नपुंसक का निर्देश मानते हैं, परन्तु कातन्त्र व्याकरण (जो पाणिनि से प्राचीन है) में लिङ्ग शब्द से प्रातिपदिक का निर्देश किया जाता है। यथा—

**लिङ्गे किमिति (चि) ति विभक्तौ एतं नाम।**[1]

काशकृत्स्नव्याकरण का यह सूत्र भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में उद्धृत किया है। ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में इसके व्याख्याता वृषभदेव ने इसे काशकृत्स्न का सूत्र कहा है। (द्रष्टव्य—लाहौर संस्करण, पृष्ठ ४०-४१)।

कातन्त्र व्याकरण में भी **धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गम्** (कातन्त्र २।१।१) में भी लिङ्ग शब्द पाणिनीय प्रातिपदिक संज्ञा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

प्रातिपदिक किसी-न-किसी लिङ्ग से युक्त होता है, अतः महाभाष्य के उक्त वचन में लिङ्ग शब्द से लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिक का ग्रहण करना उचित है। अन्यथा विकृति यागों में प्रातिपदिक का ऊह किस आधार पर होगा।

**पुत्र-पुत्री समान**—स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक मतानुसार पुत्र और पुत्री का समान अधिकार मानते थे। यास्कीय निरुक्त में एतद्विषयक स्वायम्भुव मनु का एक श्लोक उद्धृत है—

**अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।**
**मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥** निरुक्त ३।४॥

वर्तमान मनुस्मृति में भी लिखा है—

**यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।**
**तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥**

—मनु० ९।१३८॥

---

१. इस सूत्र के पाठ के विषय में 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' का भाग २ का 'काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्र' लेख पृष्ठ १२५ पर देखें। काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों की संस्कृत में व्याख्या 'काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्' के उपोद्घात में देखें।

गृह्यसूत्रों के विवाह प्रकरण में वर के प्रतिज्ञामन्त्र पढ़े हैं। परम्परानुसार इन मन्त्रों से वर ही वधू से प्रतिज्ञा करवाता है, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में प्रतिज्ञामन्त्रों का अर्थ करते समय वधू के द्वारा वर से प्रतिज्ञापरक अर्थ भी किया है। यह अर्थ **'यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः'** वचन के अनुसार **मया पत्या** के स्थान पर **मया पत्न्या, पत्नी त्वमसि** के स्थान में **पतिस्त्वमसि** आदि का विपरिणाम स्वीकार करके दर्शाया है। वैदिक विवाह की सप्तपदी के अनुसार विवाह्यमान स्त्री को सखा का दर्जा दिया है—**सखे सप्तपदी भव**। जैसे पुरुषों के पुरुष मित्र परस्पर समान अस्तित्व रखते हैं, कोई किसी से छोटा या बड़ा नहीं होता, उसी प्रकार पति सप्तपदी के मन्त्र में विवाह्यमान नारी को सखा कहकर समानता का दर्जा देता है। इसलिये विवाह प्रकरण के प्रतिज्ञामन्त्रों के द्वारा दोनों का प्रतिज्ञाबद्ध होना आवश्यक है।

(६) संस्कारविधि की रचना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गृह्यसूत्रों के आधार पर की है। उसमें जिन मन्त्रों के अर्थ स्वयं ग्रन्थकार ने लिखे हैं, उनमें महाभाष्य का आधार स्पष्ट प्रतिभासित है। यथा—प्रतिज्ञा मन्त्रों के अर्थ।

(७) विवाह प्रकरण में विवाह के अनन्तर **उसी रात्रि में गर्भाधान करने का** तथा **तीन दिन ब्रह्मचर्य पालन के उपरान्त** चतुर्थ रात्रि में गर्भाधान का विधान किया है। ये दोनों विधियाँ परस्पर विरुद्ध सी प्रतीत होती हैं। इस विरोध का निवारण **"पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति"** (महा० १।१ ऋलृक्) के अनुसार ही किया जा सकता है[1]।

इसलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पाणिनीय अष्टाध्यायी के समान महाभाष्य को भी वेदार्थ में विशेष सहायक माना है—

**मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम् ॥**

(द्र०—पठन-पाठन विधि)

**(८) महाभाष्य के पाठ को बिना उद्धृत किये उसके आधार पर व्याख्या करना**—पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न के द्वारा निरुक्त के **अग्निः**

---

१. इस पर विशेष विचार हमने रा० ला० क० ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित संस्कारविधि के शताब्दी संस्करण के अन्त में किया है।

**पृथिवीस्थानः** (७।१४) को उद्धृत करके 'अग्नि का अर्थ ईश्वर नहीं हो सकता' आक्षेप का भ्रान्तिनिवारण ग्रन्थ में जो उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दिया है, वह अष्टाध्यायी १।१।८ सूत्र के महाभाष्य में उल्लिखित 'प्रासादवासी-न्याय' के अनुसार है। महाभाष्य में लिखा है—

**"तद्यथा—केचित् प्रासादवासिनः, केचिद् भूमिवासिनः, केचिदुभयवासिनः। तत्र ये प्रासादवासिनः गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनो गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। ये तूभयवासिनः गृह्यन्त एव ते प्रासादवासिग्रहणेन, भूमिवासिग्रहणेन च।"** महा० १।१।१८॥

इसी प्रकार जो ब्रह्म पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में सर्वत्र व्यापक है, वह **पृथिवीस्थान** के ग्रहण से गृहीत होता है। (द्र०—भ्रान्तिनिवारण, दयानन्दीय लघुग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ २१३)।

(९) **पठनपाठनविधि का मूल—पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते।** —महा०, पस्पशाह्निक

(१०) अब हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के उन ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं, जिनमें उन्होंने महाभाष्य के उद्धरण दिये हैं—

(क) **सत्यार्थप्रकाश** (क्रमशः ६१, १०२, ५२३)—

**सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।**
**लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥** महा० ८।१।८॥
**श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।** —महा० अ० १, पा० १, आ० १॥
**आद्यन्तविपर्ययश्च।** महा० ३।१।१२३॥

(ख) **भ्रमोच्छेदन** (क्रमशः पृष्ठ १४९, २५४[1])—

**एकतिङ्वाक्यम्।** महा० २।१।१॥
**क्वास्ताः क्व निपतिताः।** महा० १।२।९॥

(ग) **भागवतखण्डन** (पृष्ठ ४६९)[1]।

---

१. यह पृष्ठ संख्या रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह' के अन्तर्गत छपे तत्तत् ग्रन्थों की है।

**वसिस्संप्रसारिणी**।[1] द्र०—महा० ७।२।१०॥

(घ) **व्यवहारभानु** (क्रमशः पृष्ठ ५०३,५०६)[2]—

**चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्याय-कालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति।**

महा० अ० १, पा० १, आ० १॥

**सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।**
**लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥**

—महा० ८।१।८॥

**(११) स्वप्रयोग के प्रामाण्य के लिये महाभाष्य को उद्धृत करना**—

(क) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृत-वाक्य-प्रबोध में दो वाक्य लिखे हैं—**सभाशब्दस्य कः पदार्थः, चक्रवर्तीशब्दस्य कः पदार्थः**। इसे पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'अबोधनिवारण' में अशुद्ध बताया है। इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महाभाष्य के **'अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः'** पाठ उद्धृत किया है—

(ख) **येन शरीरात् श्रमो न क्रियते** में अम्बिकादत्त व्यास ने पञ्चमी विभक्ति को अशुद्ध बताया था। इसके उत्तर में महाभाष्य का **ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्** वचन उद्धृत किया है। इसका उदाहरण है—**प्रासादात् प्रेक्षते प्रासादमारुह्य प्रेक्षते**।[3]

(१२) **पत्र आदि में महाभाष्य के उद्धरण**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महाभाष्य का विविधरूप से आश्रय केवल अपने ग्रन्थों की रचना में ही नहीं लिया, अपितु पत्रों, शास्त्रार्थों, प्रवचनों एवं आर्यसमाज के नियमों की व्याख्या तक में महाभाष्य के आवश्यक उद्धरण दिये हैं। यथा—

(क) **पत्रों में**—

जोधपुराधीश यशवन्त राव को लिखे गये पत्र में "**प्रधानाप्रधानयोः**

---

१. महाभाष्य में **'वसिः प्रसारिणी'** पाठ है।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ, टि० १।

३. द्र०—ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन भाग १, पृष्ठ ३६०, ३६१ (तृ० सं०)। यह उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'एक पण्डित' के नाम से दिया था।

**प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः—महाभाष्य**" पाठ उद्धृत है। (द्र०—ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन भाग-२, पृष्ठ ७४४, सं० २०३८)।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृत पाठशाला जयपुर के पण्डितों को जो पत्र लिखा, उसमें निम्न दो प्रश्न थे—

(१) **कल्म च किं भवति**[1]—(ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, भाग-२, पृष्ठ ८१४, तृतीय संस्करण)।

(२) **येन कर्मणा सर्वे धातवः सकर्मका भवन्ति किं तत् कर्म ?**[2] (वही, पृष्ठ ८१४)।

देशहितैषी पत्र के सम्पादक के नाम लिखे समीक्षा पत्र में '**गौण-मुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' यह व्याकरण महाभाष्यकार का वचन है**' पाठ उपलब्ध होता है। (द्र०—वही, पृष्ठ ५९५)॥

(ख) **शास्त्रार्थ में—**

**व्याकरणे कल्मसंज्ञा क्वापि लिखिता नवेति।**

यह प्रश्न स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९२९ के काशी शास्त्रार्थ में किया था (द्र०—ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पृष्ठ ४१)। इस शास्त्रार्थ को पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी स्वीय **प्रत्नकश्मनन्दिनी** पत्रिका में छापा था, वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है—

**'कल्म संज्ञा कस्य ? (गर्जन्) वद ! वद !'** (वही पृष्ठ २२९)।

(ग) **प्रवचनों में—**

**धावतः स्खलनं न दोषाय भवति।** महाभाष्य।

पूना प्रवचन (८) (द्र०—ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन पृष्ठ ३६६)। हमें यह वाक्य महाभाष्य में नहीं मिला।

**ब्राह्मणेन [निष्कारणो धर्मः] षडङ्गो वेदोऽध्ये[यो ज्ञे]यश्चेति।**

महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥ (वही पृष्ठ ३७८)।

(घ) **आ० स० के नियमों की व्याख्या**[3] **में—**

---

१. विपरीतं तु यत्कर्म तत् कल्म कवयो विदुः। महाभाष्य १।४।५१॥

२. द्र०—महाभाष्य १।४।५२॥

३. सन् १८७५ में बम्बई में प्रथम स्थापित आर्यसमाज के २८ नियमों की व्याख्या छपने का उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवत् १९३२ चैत्र के पत्र में किया था (द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ २३ पं० २-३)।

**व्याख्यान—जैसा "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे·····"** (नियम १७)

इन प्रमाणों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के समस्त ग्रन्थ लेखन कार्य तथा पत्रों शास्त्रार्थों और प्रवचनों तक में पातञ्जल महाभाष्य व्याप्त है। दूसरे शब्दों में उनके समस्त लेखन कार्य को महाभाष्य पर आश्रित कह सकते हैं। वस्तुतः महाभाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के रग-रग में व्याप्त था। आवश्यकता पड़ने पर वे उसके किसी भी वचन का कहीं भी प्रयोग करने में पूर्ण सक्षम थे।

---

ये नियम और उनकी व्याख्या 'मुम्बई समाज नो इतिहास' में छपे हैं। उक्त इतिहास के लेखक श्री दामोदरदास सुन्दरदास को एक कापी प्राप्त हुई थी। इस पर व्याख्या लेखक का नाम नहीं था। नियम १७ की व्याख्या में महाभाष्य के **असिद्धं बहिरङ्ग-मन्तरङ्गे** वचन के निर्देश से यह प्रमाणित होता है कि नियमों की उक्त व्याख्या स्वामी दयानन्द सरसवती की लिखी हुई है। अन्य को तो महाभाष्य के उक्त वचन का स्वप्न में भी ध्यान नहीं आ सकता था।

# स्वामी दयानन्द सरस्वती का ग्रन्थ-लेखनरूप महत् कार्य दुर्दशाग्रस्त हुआ

स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय पूर्व दिया चुका है। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में वेदभाष्य जैसे महत्तम ग्रन्थ से लेकर आर्योद्देश्य-रत्नमाला तक जितने ग्रन्थ लिखे, उनका प्रणयन करने के लिए अनेक सहयोगी व्यक्तियों का सहयोग लेना पड़ा। इन व्यक्तियों के पाण्डित्य एवं चरित्र के सम्बन्ध में स्वामीजी के अनेक पत्रों से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यथा—

(१) [भीमसेन ने] कई पद के अर्थ छोड़ दिये, कई पद अन्वय में छोड़ दिये, कई आगे-पीछे कर दिये। ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ६६६, पं० २४-२५।

(२) ज्वालादत्त पोपलीला न घुसेड़ दे। वही, पृष्ठ ७२६, पं० २२।

(३) ज्वालादत्त नई (=संस्कृत से भिन्न) भाषा बनाता है। गोल-माल देवता शब्द रख दिया। वही, पृष्ठ ७२६, पं० १५-२१।

(४) पदार्थ कुछ और है और [ज्वालादत्त ने] भाषा कुछ और बनाई आदि। वही, पृष्ठ ७६६, पं० १२-१३।

इन ग्रन्थों में अनेक स्थान ऐसे भी हैं, जिनके संस्कृत भाग में ग्रन्थकार ने संशोधन कर दिया, परन्तु भाषानुवाद में पण्डितों ने संशोधन नहीं किया अर्थात् भाषानुवाद पूर्व संस्कृत का ही विद्यमान है। द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (रा० ला० कपूर ट्रस्ट, संस्करण २) सम्पादकीय वक्तव्य, पृष्ठ ५-६।

इससे स्पष्ट है कि उन्हें कोई योग्य श्रद्धालु व्यक्ति लेखन कार्य के लिए नहीं मिला अतः **अन्धेषु काणः श्रेयः** की किम्वदन्ती के अनुसार इन साधारण व्यक्तियों से ही लेखन से लेकर मुद्रण तक का समस्त कार्य लेना पड़ा।[1] अतः इन व्यक्तियों के अज्ञान, प्रमाद और आलस्य के कारण

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखन कार्य में तीन व्यक्तियों का विशेष सहयोग रहा है। वे हैं—भीमसेन, ज्वालादत्त एवं दिनेश राम। इनकी अयोग्यता एवं

स्वामीजी के ग्रन्थों के प्रकाशन में विविध प्रकार की अशुद्धियाँ बहुलता से मिलती हैं। इस कारण उनके ग्रन्थों की जो दुर्दशा हुई, उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना भी कठिन है। स्वामीजी के निधन के पश्चात् परोपकारिणी सभा ने भी इस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। किसी-किसी ग्रन्थ में तो उत्तरोत्तर संस्करण पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अधिक अशुद्ध छपे। उनके ग्रन्थों में किस प्रकार की अशुद्धियाँ हुई हैं, उनका वर्गीकरण करके नीचे हम एक-एक उदाहरण दे रहे हैं।

**अशुद्धियों का वर्गीकरण**—'हस्तलेखों के आधार पर ग्रन्थ संपादन करनेवाले विद्वानों ने हस्तलेखों में लिपिकर आदि के कारण होनेवाली अशुद्धियों का वर्गीकरण करके उन्हें लगभग १५ वर्गों में बाँटा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का लेखन और मुद्रण जिन स्थितियों में हुआ है, उसके आधार पर ये लगभग २०-२५ प्रकार की हैं। उनमें से हम कतिपय प्रमुख अशुद्धियों का नीचे उल्लेख करते हैं –

**१—पण्डितों की असावधानता से उत्पन्न**—यथा ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में ऋग्वेद के प्रतिमण्डल प्रतिसूक्त मन्त्र संख्या का कोष्ठकों में निर्देश करके प्रति कोष्ठक के नीचे उस मण्डल के सूक्तों और मन्त्रों की संख्या लिखी है। अन्त में समस्त मण्डलों की ऋचाओं की गणना दी है। इस प्रकरण में **तीन भूलें** हुई हैं—(१) अष्टम मण्डल के २०वें सूक्त में २६ मन्त्र हैं, परन्तु कोष्ठक में भूल से ३६ संख्या लिखी गई। इस कारण इस मण्डल की समस्त ऋचाओं की गणना में १७१६ मन्त्र संख्या के स्थान में १७२६ योग लिखा गया अर्थात् १० संख्या की वृद्धि हो गई। (२) नवम मण्डल की जो प्रतिसूक्त मन्त्र संख्या दी है, उसमें दो सूक्तों की ११ मन्त्र संख्या है। समस्त मण्डल के मन्त्रों की गणना करते समय ११ संख्या वाले दो सूक्तों में से दृष्टि दोष से किसी सूक्त की ११ संख्या योग करने में छूट गई। इस कारण इस मण्डल के ११०८ मन्त्रों के स्थान में १०९७ मन्त्र संख्या दी गई। (३) प्रति मण्डल जोड़ी गई मुद्रित संख्याओं का

---

प्रमाद के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेक पत्रों में उल्लेख किया है। द्र०—स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, तृतीय संस्क०, भाग २ के आरम्भ में पृष्ठ १८ पर 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के लेखकों के विषय में उनकी सम्मति'।

योग १०५२१ होता है, परन्तु संस्कृत और भाषा में यह योग १०५८९[1] लिखा है।

२— **स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा परिशोधित संस्कृत के अनुसार भाषानुवाद में शोधन न करना**—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उत्तरोत्तर परिशोधित एवं परिबृंहित ६ हस्तलेख हैं। भूमिका के दैवत प्रकरण में मूर्त अमूर्त देवत विभाग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भूमिका की चतुर्थ कापी में पूर्वलिखित संस्कृत पाठ का संशोधन किया था (यही पाठ सम्प्रति मुद्रित ग्रन्थ में उपलब्ध होता है)। परन्तु सम्प्रति जो भाषानुवाद छपा मिलता है, वह भूमिका की तृतीय कापी के अनुसार चतुर्थ कापी में प्रतिलिखित पूर्व संस्कृत के अनुसार है। वर्तमान में भूमिका में हिन्दी अनुवाद और उस पर जो छपी टिप्पणी मिलती है, वह न केवल लेखक द्वारा संशोधित पाठ के अनुकूल नहीं है अपितु दार्शनिक सिद्धान्त के विपरीत भी है। वर्तमान में उपलब्ध भाषानुवाद तथा उस पर दी गई टिप्पणी इस प्रकार है—

**'और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र ये मूर्ति रहित देव हैं। तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बिजुली, और विधि यज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं।'**

इस पाठ के 'हैं' पद पर चिह्न देकर टिप्पणी दी है—

**'इन्द्रियों की शक्ति रूप द्रव्य अमूर्तिमान् और गोलक मूर्तिमान् तथा विद्युत् तथा विधियज्ञ में जो-जो शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान् जानना चाहिये।'**

चतुर्थ हस्तलेख का संशोधित संस्कृत पाठ इस प्रकार है—

**एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुर्विधियज्ञौ सशरीराशरीरे स्तः।**

वैदिक यन्त्रालय से छपी भूमिका के सभी संस्करणों में उक्त संशोधित पाठ ही छप रहा है और भाषानुवाद तृतीय हस्तलेख के अनुसार चतुर्थ कापी में पूर्वलिखित अर्थात् संशोधन से पूर्व के संस्कृत पाठ का है। तथा वर्तमान में छप रही हिन्दी की टिप्पणी भी इस लेख में नहीं है।

---

१. श्री पं० जयदेवजी मीमांसातीर्थ चतुर्वेद भाष्यकार के मत में घसीट (अस्पष्ट) में लिखी गई १०५२१ संख्या के १ को ९ और २ का ८ पढ़ लेना स्वाभाविक है। इसी कारण १०५२१ के स्थान में पूर्ण मं० सं० १०५८९ बन गई।

३—**हस्तलिखित पाठों में पण्डितों द्वारा परिवर्तन**—ऋग्वेद के १।१।२ के मन्त्रभाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निरुक्त (१।१०) का **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः** इत्यादि पाठ उद्धृत किया है। उसके **इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च** भाग की व्याख्या में ऋग्वेदभाष्य की पाण्डुलिपि और प्रेस कापी दोनों में **समाम्नासिषुः** का अर्थ **सम्यगभ्यासं कारितवन्तः** किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के **'प्रश्नोत्तरविषय'** प्रकरण में भी यह प्रमाण उद्धृत किया है और वहाँ भी उसका अर्थ **सम्यगभ्यासं कारितवन्तः** किया है। दुर्ग आदि टीकाकारों के लेख से अभिभूत किसी पण्डित ने सम्भवतः मुद्रण के समय पाठ बदलकर **सम्यगभ्यासार्थं रचितवन्तः** छापा है। यह परिवर्तन ग्रन्थकार के वेदविषयक अपौरुषेयता मन्तव्य के विपरीत है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **समाम्नासिषुः** पद को अन्तर्भूत णिजर्थ वाला मानकर 'सम्' पूर्वक **म्ना अभ्यासे** धातु के धात्वर्थ के अनुसार अर्थ किया है। निरुक्त की एक दुर्लभ प्राचीन व्याख्या, जो केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य ने की है, में **समाम्नासिषुः** का अर्थ **वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गान्यपि यत्नतः** (निरुक्तश्लोकवार्तिक अ० १, पाद ६, श्लोक २०४) किया है। यहाँ भी धात्वर्थ को प्रधान मानकर ही व्याख्या की। दोनों में अन्तर केवल शुद्ध धात्वर्थ और अन्तर्भूत णिजर्थमात्र का है।

४—**पदपाठ के लेखन में पदों का अन्यथा लेखन**—यजुर्वेद के पदपाठ की यह शैली है कि जो दो वा दो से अधिक पद समुदाय उत्तरमन्त्रों में पुनः पठित हों तो उनको पदकार पदपाठ में छोड़ देते हैं (इन्हें गलित पद कहा जाता है)। स्वामी दयानन्द सरस्वती यजुर्वेद का भाष्य लिखवाने से पूर्व पण्डितों से मन्त्रपाठ और पदपाठ लिखवा लेते थे। परन्तु जो पद उस मन्त्र के पदपाठ में गलित होते थे, उन्हें पण्डित लोग पदपाठ के नियमों का ज्ञान न होने से पदपाठ के नियमों के अनुसार लिखने में असमर्थ होने के कारण, उन्हें मन्त्रपाठ के अनुरूप ही लिख देते थे। कहीं-कहीं प्रमादवश पदपाठ में पदलेखन छूट भी जाता था। उन्हें मुद्रणकाल में पं० भीमसेन मन्त्र देखकर पूरा कर देता था।[1] अजमेर मुद्रित यजुर्वेद भाष्य के पदपाठ में कहीं-कहीं स्वराङ्कन से रहित पद भी छपा हुआ मिलता है। अतः यजुर्वेदभाष्य के अजमेर

---

१. द्र०—ऋ० द० के पत्र विज्ञापन, भाग ३, पूर्ण संख्या २०४, पृष्ठ १९७, पंक्ति १२-१४।

मुद्रित संस्करणों के पदपाठ में इस प्रकार की अशुद्धियाँ बहुतायत से उपलब्ध होती हैं। ऋग्वेद के पदपाठ के नियम सरल होने से यजुर्वेद-भाष्य के पदपाठ की अशुद्धियों की अपेक्षा ऋग्वेदभाष्य में छपे पदपाठ में अशुद्धियाँ न्यून हैं।

५—**हस्तलेख में आगे-पीछे लिखे गये पाठ के शुद्धीकरण के नियम के अज्ञान से हुई भूलें**—प्रायः हस्तलिखित ग्रन्थों में किसी कारणवश कोई पद समुदाय वा वाक्य आगे-पीछे लिखे गये हों, तो उनको शुद्धरूप में पढ़ने वा उससे प्रतिलिप्यन्तर करनेवाले को शुद्ध रूप में लिखने के लिये आगे-पीछे लिखे गये भागों के आदि और अन्त के अक्षरों पर २—२, १—१ के अङ्कों का निर्देश करदिया जाता है। तदनुसार आगे लिखित १—१ से संकेतित पाठ पहले पठनीय वा लेखनीय समझा जाता है और पूर्वलिखित २—२ से संकेतित पाठ पश्चात् पठनीय वा लेखनीय होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के हस्तलेखों में भी कतिपय स्थानों में ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं। यथा—यजुर्वेदभाष्य अ० १, मं० ५ के अन्वय का पाठ 'ख' हस्तलेख (=प्रेस कापी) में इस प्रकार लिखा मिलता है—

**हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मेश्वर यदिदमनृतात् पृथग् वर्तमानं सत्यं व्रतमाचरामि [२]तन्मे भवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यतां' [१]यदुपैमि प्राप्नोमि तच्चानुष्ठातुं शकेयम्[१]।**

इस पाठ में २—२ से संकेतित पाठ '**तन्मे ·····संसेध्यताम्**' पाठ को आगे १—१ से संकेतित '**यदुपैमि·····शकेयम्**' पाठ के अनन्तर जानना चाहिये। आगे-पीछे करनेवाले संकेतों से युक्त पाठों को मुद्रण काल में आगे-पीछे छापना चाहिये था, परन्तु कम्पोजीटर तथा प्रूफ-संशोधक को इस प्रकार के संकेतों के तात्पर्य का ज्ञान न होने से २—२ तथा १—१ से संकेतित पाठों को आगे-पीछे बिना किये ही यथालिखित पाठ ही छाप दिया गया।[१]

६—**पण्डितों का संशोधन में प्रमाद**—यजुर्वेदभाष्य अ० ८ के १४वें मन्त्र में **त्वष्टा** पद है। लेखक प्रमाद से वह मन्त्रपाठ और पदपाठ में **त्वष्ट्रा** तृतीयान्त लिखा गया। उसी के आधार पर पदार्थ में **त्वष्ट्रा** का

---

१. द्र०—श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु विरचित और रा० ला० कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित यजुर्वेद भाष्य विवरण, भाग १, पृष्ठ ४२ (द्वि० सं०)।

अर्थ **तनूकर्त्रा** किया गया। यही अशुद्धि संस्कृत अन्वय तथा भाषार्थ में भी हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रेस में कापी भेजने से पूर्व मन्त्रपाठ और पदपाठ में **त्वष्ट्रा** को शोध कर **त्वष्टा** बना दिया था। उन्होंने यह सोचकर कि इस संशोधन को देखकर लेखक पण्डित लोग पदार्थ अन्वय और भाषा में भी यथावत् संशोधन कर देंगे, स्वयं संशोधन नहीं किया। परन्तु प्रेसकापी जैसी की तैसी प्रेस में भेज दी गई। जब यह अंश छपा हुआ प्रेस कापी के साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास पहुंचा तो उन्होंने खिन्न होकर प्रेस कापी के पृष्ठ १०२ के हाशिये पर लिखा—

**सर्वत्र त्वष्टा ही है। इसको मन्त्र और पद [पाठ] में त्वष्ट्रा को ही शोध के त्वष्टा बना ही दिया। जिस [काम] को हम करते हैं, वह तो ठीक होता है, जो दूसरों से कराते हैं, वही गड़बड़ होता है। हमने मन्त्र और पद [पाठ] शोधवाया था सो शुद्ध है, बाकी पण्डितों से शोधवाया था, वही अशुद्ध रहा।**[1]

ठीक ऐसा ही एक स्थल यजुर्वेदभाष्य अ० १२ मन्त्र ४७ का है। अजमेर से छपे संस्करणों में मन्त्र और पदपाठ में **सहस्त्रियम्** पद शुद्ध छप रहा है। परन्तु पदार्थ में '**(सहस्त्रियम्) भार्यया सहितम्**' अन्वय में '**सहस्त्रियम्**' तथा भाषार्थ में '**(सहस्त्रियम्)** भार्या के साथ' पाठ छपा हुआ मिलता है।[2]

७—**अधूरा संशोधन**—सं० १९३२ (सन् १८७५) की छपी पञ्च-महायज्ञविधि में अघमर्षण मन्त्रों की व्याख्या के पश्चात् पृष्ठ ५ पर सूर्य को अर्घ्य देने का विधान छपा था। सूर्य को अर्घ्य सूर्योदय के पश्चात् ही

---

१. हमने इस पाठ को अत्यन्त उपयोगी समझकर प्रेस कापी पर ही लिखा रहने से विद्वानों की दृष्टि से ओझल न रहे, इस विचार से ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन के तृतीय संस्करण में भाग २, पूर्ण संख्या ८६८, पृष्ठ ८४४ पर छाप दिया है।

२. यजुर्वेद भाष्य भास्कर के सम्पादक पं० सुदर्शनदेव शास्त्री ने वैदिक यन्त्रालय के अशुद्ध पाठ को ही यथावत् छाप दिया है। क्या सम्पादक का यही कर्तव्य है कि आँखों से देखते हुए भी मक्खी इसलिये निगल लें कि कोई पाठ शोधन के कारण ऋषि दयानन्द को द्रोही न कहे, जैसे कि वे और उनके साथी पं० राजवीर शास्त्री पाठशोधन के कारण मुझे 'ऋषि दयानन्द का द्रोही' कहते और पत्रों में लिखते रहते हैं।

दिया जाता है। अघमर्षण मन्त्र पर्यन्त सन्ध्या की क्रिया यदि सूर्योदय से पूर्व पूर्ण हो जावे तो सूर्योदय तक उपासक क्या करे? इसके लिये अघमर्षण मन्त्रों की व्याख्या के अन्त में लिखा था—

**ततः सूर्योदयात् प्राक् तिष्ठन् सन् अर्थविचारपूर्विकां गायत्रीं जपेत् पुनः सूर्योदये सति परमार्थस्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा गायत्रीमन्त्रेणार्घ्यत्रयं सूर्याभिमुखं प्रक्षिप्य परं ब्रह्म प्रार्थयेत्।**

इस लेख के पश्चात् सूर्य परिक्रमा के मन्त्र दिये थे।

सं० १९३४ में जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पञ्चमहायज्ञविधि का संशोधित संस्करण छापा, तो उस में सूर्य को अर्घ्य देने के तथा सूर्य परिक्रमा के मन्त्र हटाकर **मनसा परिक्रमा** शीर्षक से अथर्ववेद के छ मन्त्र रख दिये। इस प्रसङ्ग में सूर्य के अर्घ्य देने और सूर्य की परिक्रमा से साक्षात् संबद्ध पूर्व छपा संस्कृत भाग काट दिया, परन्तु अर्घ्य प्रदान से सम्बद्ध अंश जैसे का तैसा शेष बच गया अर्थात् उसे काटना रह गया। यह पाठ आजकल के तथाकथित दयानन्द-भक्तों के लिये सिर दर्द बना हुआ है। अर्थात् अघमर्षण मन्त्रों के और मनसा परिक्रमा मन्त्रों के मध्य छपे पाठ के अनुसार सन्ध्या का क्रमभङ्ग करके गायत्र्यादि मन्त्रों से ब्रह्म का चिन्तन करें या नहीं? यदि मुद्रित पाठ के अनुसार मध्य में ब्रह्म का चिन्तन करते हैं, तो सन्ध्या का क्रमभङ्ग होता है और नहीं करते हैं तो दयानन्द के लेख को त्याज्य मानना पड़ता है। अर्थात् सं० १९३४ की पञ्चमहायज्ञविधि में अघमर्षण मन्त्र की व्याख्या के पश्चात् छपी पंक्तियाँ तथाकथित दयानन्द भक्तों के लिये **उभयतः पाशा रज्जुः** बनती हैं।

८—**पण्डितों को यज्ञशास्त्र का परिज्ञान न होने से उन द्वारा पाठ परिवर्तन**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि के सामान्य-प्रकरण में यज्ञीय पात्रों के आकार प्रकार तथा अग्न्याधान की दक्षिणा का उल्लेख किया है। अन्त में अग्न्याधानान्तर्गत **आदित्येष्टि** की दक्षिणा 'एक धेनु' (=दुग्धवती गौ) का विधान किया है (कात्या० श्रौत ४।१०।१४)। इसका उल्लेख करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **आदित्येष्टौ धेनुः** ऐसा पाठ लिखवाया था। परन्तु लेखक ने **आदित्येष्टौ** में **आदित्य+इष्टौ** इस प्रकार शुद्ध पदच्छेद और गुण सन्धि न समझकर **'ष्टौ'** से पूर्व लुप्त अकार के निर्देश के लिये लौकिक भाषा में प्रयुक्त होनेवाले चिह्न 'ऽ'

का निर्देश कर दिया।[1] तदनुसार द्वितीय संशोधित संस्करण छपते समय संशोधक ने **अष्टौ** संख्या के साथ एकवचनान्त **धेनुः** पाठ को अशुद्ध समझकर **धेनवः** बहुवचनान्त के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह अशुद्ध पाठ वैदिक यन्त्रालय में छपी संस्कारविधि के २४ संस्करणों तक छपता रहा। जब हमने सन् १९७४ में संस्कारविधि का प्रथम संस्करण छापा तो हमने इसे शुद्ध करके नीचे टिप्पणी दी। हमारे संस्करण के पाठ और उसकी टिप्पणी को देखकर वैदिक यन्त्रालय के २५वें संस्करण में **आदित्येष्टौ धेनुः** के रूप में पाठ शुद्ध कर दिया गया। अब यही शुद्ध पाठ छप रहा है।

**९—पण्डितों को विभिन्न पञ्चाङ्गों का ज्ञान न होने से उनके द्वारा पाठ-परिवर्तन**—भारत वर्ष में अनेक प्रकार के पञ्चाङ्ग प्रचलित हैं।[2] संस्कारविधि का निर्माण और प्रथम मुद्रण बम्बई में हुआ था। इस कारण प्रथम संस्करण के आरम्भ में ग्रन्थलेखन काल का जो श्लोक मिलता है, वह इस प्रकार है—

**चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यान्तिमे दले।**
**अमायां शनीवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया॥**

---

१. वैदिक संहिताओं और पदपाठ आदि में जहाँ दो स्वर एक साथ प्रयुक्त होते हैं, वहाँ मध्य में ऽ चिह्न लगाया जाता है। इस चिह्न का नाम है—**विवृतकरण**।

२. विन्ध्याचल के उत्तर में विक्रम संवत् का आरम्भ चैत्र सुदि १ से होता है और उत्तर भारत के महीने भी पूर्णिमा पर ही समाप्त होते हैं, परन्तु विन्ध्य के दक्षिण में कार्तिक शुक्ला १ से नये वर्ष का आरम्भ होता है और मास भी अमान्त होता है। इससे कृष्ण पक्ष के पूर्व मास का उत्तर पक्ष होने से मास का नाम भी बदल जाता है। यथा उत्तर भारतीय जिसे चैत्र का कृष्ण पक्ष मानते हैं, वह दक्षिण भारत में अमान्त मास गिनने से फाल्गुन का कृष्ण पक्ष माना जाता है। पञ्चाङ्गों में चाहे उत्तर भारत के हों अथवा दक्षिण के, पूर्णिमा का निर्देश १५ संख्या से किया जाता है और अमावास्या का ३० संख्या से। इससे अमान्त मास ही कभी समस्त भारत में प्रयुक्त होता था, यह विदित होता है। दक्षिण में शालिवाहन शाके का आरम्भ चैत्र शुक्ला १ से होता है। पंजाब नेपाल और बंगाल में सौर संवत् चलता है। इसका आरम्भ वैशाखी से होता है (इनमें भी १ दिन का अन्तर देखा जाता है)। इनके यहाँ भी धार्मिक कृत्य में चान्द्र वर्ष ही स्वीकार किया जाता है।

अर्थात् सं० १९३२ के कार्तिक मास के अन्तिम पक्ष (कृष्ण पक्ष) में अमावास्या शनीवार के दिन मैंने ग्रन्थ का आरम्भ किया।

द्वितीय संस्करण के हस्तलेख में भी ग्रन्थारम्भ के निर्देश श्लोक का यही पाठ विद्यमान है, परन्तु द्वितीय संस्करण छापने के समय किसी प्रूफ संशोधक पण्डित[1] का ध्यान श्लोक के द्वितीय चरण की ओर गया। उसने सोचा कि कार्तिक के अन्तिम पक्ष में तो पूर्णिमा होती है, अमावास्या तो पूर्वपक्ष में आती है। अतः उसने **कार्तिकस्यान्तिमे दले** का **कार्तिक स्यासिते दले** के रूप में परिवर्तन कर दिया।

यद्यपि यह पाठपरिवर्तन आपाततः शुद्ध प्रतीत होता है, परन्तु उत्तर भारतीय पञ्चाँग के अनुरूप बदले पाठ के अनुसार सं० १९३२ के कार्तिक मास की अमावास्या के दिन **शनिवार** नहीं था, शुक्रवार था। वस्तुतः संस्कारविधि की रचना बम्बई में होने से उसमें दाक्षिणात्य पञ्चाङ्ग के अनुसार संवत् मास पक्ष तिथि और वार का निर्देश किया गया था। संस्कारविधि के अजमेर मुद्रित संस्करणों में यही परिवर्तित अशुद्ध पाठ २२वें संस्करण तक छपता रहा। २३वें संस्करण में स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने इसे पुनः पूर्ववत् बनाया। संभवतः वे दाक्षिणात्य (गुजराती) पञ्चाङ्ग से परिचित थे।

ऊपर हमने स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में उनके सहयोगी पण्डितों के अज्ञान, आलस्य वा प्रमाद के कारण हुई प्रमुख अशुद्धियों के अन्तर्गत एक-एक अशुद्धि का संक्षिप्त निदर्शन कराया। अब हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा ही देशकाल और परिस्थिति विशेष आदि कारणों से जो अशुद्धियाँ हुईं, उनका संक्षेप से निदर्शन कराते हैं—

१—**शरीर का स्वस्थ न होना**—सं० १९३८ में **संस्कृतवाक्यप्रबोध** ग्रन्थ जब प्रथम वार वैदिक यन्त्रालय काशी में छपकर प्रकाशित हुआ था, तो उसमें बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई थीं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अज्ञान का प्रदर्शन कराने के लिये काशी के पं० अम्बिकादत्त व्यास[2] ने **अबोधनिवारण** नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की थी। विरोध में

---

१. द्वितीय संस्करण के मुखपृष्ठ पर संशोधक के रूप में भीमसेन और ज्वालादत्त का नाम छपा है।

२. अबोधनिवारण पुस्तक पं० अम्बिकादत्त व्यास, जो काशी के प्रसिद्ध पण्डित थे, ने ही लिखी थी, परन्तु उन्होंने इसे अन्य के नाम से छपवा कर प्रसिद्ध किया

लिखी गई इस पुस्तक को वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक ने अवलोकनार्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास भेजा। इसको देखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रबन्धकर्ता वैदिक यन्त्रालय को जो पत्र लिखा, उसका निम्न अंश विशेष ध्यान देने योग्य है—

**जो संस्कृतवाक्यप्रबोध पर (काशी के पण्डितों ने) पुस्तक छपवाया है सो बहुत ठिकानों में उनका लेख अशुद्ध[1] है और के एक ठिकानों में संस्कृतवाक्यप्रबोध में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के तीन कारण हैं।**

---

था। इन्हीं पं० अम्बिकादत्त व्यास ने कालान्तर में **शिवराज-विजय** नाम की पुस्तक लिखी, जो बहुत प्रसिद्ध हुई।

१. अबोधनिवारण के लेखक को संस्कृत व्याकरणादि शास्त्रों का यथोचित ज्ञान न होने के कारण उसने स्वामी दयानन्द सरस्वती के शुद्ध लेख को भी कई स्थानों पर अशुद्ध ठहराया था। उनमें से तीन प्रमुख अशुद्धियों का उत्तर **'एक पण्डित'** के नाम से उसी समय **आर्यदर्पणपत्र** के मई १८८० के अङ्क में पृष्ठ १२० पर छपवाया था। शेष अशुद्धियों का उत्तर सं० २०२६ तक आर्यसमाज के किसी भी विद्वान् ने नहीं दिया। अबोधनिवारण के प्रकाशित होने के लगभग दो वर्ष तक उत्तर न दिये जाने पर 'मुन्नालाल मिश्र' नाम के एक व्यक्ति ने १० अक्टूबर १८८२ को लाला कालीचरण (फर्रुखाबाद) के नाम एक पत्र लिखा जो इस प्रकार है—

ओं २१-१०-८२ ई०

**नमस्ते महाशय लाला कालीचरण साहिब आपके यहाँ का अंक इस महीने का आजतक नहीं आया, कारण मालूम नहीं और जो अबोधनिवारण पुस्तक काशी के पण्डित ने स्वामीजी के 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' की अशुद्धियाँ व्याकरण की रीति से विदित की हैं, उसके उत्तर में न स्वामीजी वा उनके किसी विद्यार्थी ने कोई पुस्तक नहीं बनाया इससे अनुमान होता है कि जो काशी के पण्डित ने बनाया है सो ठीक है। आप इसका उत्तर कृपा करके भेज दीजिये। अग्रे किमधिकम्।**

**ह० मुन्नालाल मिश्र सा अफजलगढ़**
**जिला बिजनौर**

हमने स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के शुद्ध संस्करण प्रकाशित करने के प्रयत्न के प्रसङ्ग में जब सं० २०२६ में संस्कृतवाक्यप्रबोध छापा, तो उसके अन्त में अबोधनिवारण के लेखक ने अपने अज्ञान से संस्कृतवाक्यप्रबोध के जिन शुद्ध पाठों को भी अशुद्ध बताया था, उन सबके उत्तर परिशिष्ट संख्या २ में दिये हैं।

**एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन के अधीन शोधन का होना और मेरा न देखना न प्रूफ का शोधन करना। तीसरा छापेखाने में उस समय कोई भी कम्पोजीटर बुद्धिमान् न होना, लैम्पों की न्यूनता होनी। इसके उत्तर में जो-जो सच्ची बात है सो-सो शोधक और छापा का दोष रहेगा।**[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृतवाक्यप्रबोध में अशुद्धियाँ होने के तीन कारण गिनाये हैं, उनमें पहला कारण है **मेरा चित्त स्वस्थ न होना।**

इस लेख के परिप्रेक्ष्य में यह चिन्तनीय है कि यदि संस्कृतवाक्यप्रबोध जैसी छोटी पुस्तक के लेखन में शरीर के अस्वस्थ होने के कारण अशुद्धियाँ हो सकती है,तो ६-१० वर्ष के सुदीर्घ लेखनकाल में उनके अनेक बार अस्वस्थ होने के कारण वेदभाष्य, सत्यार्थप्रकाश आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में कितनी अशुद्धियाँ हुई होंगी? इस पर आज तक किसी ने ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के एक-एक अक्षर को प्रमाण मानने वाले अनेक तथाकथित विद्वान् विद्यमान हैं और इससे अपने अज्ञान को छुपाने का एक सरल उपाय मानने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है।

२—**सहायक ग्रन्थों के कारण अशुद्धियाँ होना**—प्रत्येक व्यक्ति ग्रन्थ लिखते समय पुराने ग्रन्थों का सहारा[आश्रय] लेता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसके अपवाद नहीं थे। अतः आश्रयभूत ग्रन्थों में विद्यमान अशुद्धियाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं। यथा—

ऋग्वेद मं० १ सूक्त १ का ७वाँ मन्त्र है—**उप त्वा अग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि।** इस मन्त्र के भाष्य में **दोषावस्तः** पद की जो व्याख्या उपलब्ध होती है, वह स्वरशास्त्र एवं पदपाठ के विपरीत है। स्वरशास्त्र की दृष्टि से द्वितीय पाद के आरम्भ में आद्युदात्त **दोषावस्तः** पद सम्बुद्ध्यन्त है, और पदपाठ की दृष्टि से यहाँ द्वन्द्व समास नहीं माना जा सकता। क्योंकि पदकार द्वन्द्व समास में अवग्रह

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (तृतीय संस्क०) पूर्ण-संख्या ३२९, भाग १, पृष्ठ ३६७-३६८।

नहीं करते, परन्तु यहाँ 'दोषावस्तः' में अवग्रह उपलब्ध होता है।[1] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **दोषावस्तः** का अर्थ किया है—**अहर्निशम्। दोषेति रात्रिनामसु पठितम्** (निघं० १।७) **रात्रेः प्रसंगाद् वस्त इति दिननामात्र ग्राह्यम्।**

इस व्याख्या में अशुद्धि का कारण भाष्यलेखन के समय सायणभाष्य का सम्मुख विद्यमान होना है। सायण ने अपने ऋग्वेद के भाष्य में इसी प्रकार का अर्थ किया है और मन्त्र में विद्यमान आमन्त्रित आद्युदात्त स्वर सिद्धि के लिये कठिन प्रयास किया है।

इस विषय में एक किंवदन्ती सुनी जाती है कि मैक्समूलर से किसी व्यक्ति ने कहा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती आपके द्वारा किये गये वेदार्थ का विशेषरूप से खण्डन करते हैं। इसके उत्तर में मैक्समूलर ने कहा—स्वामी दयानन्द सरस्वती मेरा कितना ही खण्डन करें, परन्तु ऋग्वेद का भाष्य करते समय उनकी मेज पर मेरे द्वारा सम्पादित सायण-भाष्य सदा विद्यमान रहता है और उसका आश्रय लिये विना वे वेदभाष्य नहीं कर सकते।[2]

यहाँ **उपत्वा अग्ने** मन्त्र यजुर्वेद अ० ३ की २२वीं कण्डिका में भी मिलता है। वहाँ पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **दोषावस्तः** पद में तत्पुरुषसमास और सम्बोधन मानकर शुद्ध व्याख्या की है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि यजुर्वेद के भाष्य लेखन काल में बैबर द्वारा सम्पादित महीधर भाष्य उनके सामने रहा होगा। महीधर ने **दोषावस्तः** पद का शुद्ध अर्थ किया है।

---

१. अनेक विद्वान् यहाँ कह सकते हैं कि पदपाठ स्वतः प्रमाण नहीं है। यह है, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य में बहुत्र पदपाठ का विरोध दर्शाकर सायणाचार्यादि की आलोचना की है। यथा—

(क) अत्र सायणाचार्येण यातुरिति पूर्वपदं मत्वानित्युत्तरपदं चाविदित्वा यातुमपदात् मतुप् कृतः, तदिदं पदपाठाद्विरुद्धत्वादशुद्धम् (ऋ० १।३६।२०)।

(ख) अत्र महीधरेण या उ इत्यशुद्धं व्याख्यातम् (पदपाठविरोधादिति शेषः) ओदन्तोऽयं निपातः। यजु० ५।६॥

२. यह किंवदन्ती हमने श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० (लाहौर) से सुनी थी।

एक ही मन्त्र में आये **दोषावस्तः** पद की द्विविध व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेदभाष्य के समय सायणभाष्य और यजुर्वेदभाष्य लिखते समय महीधर का भाष्य उनके सामने रहता था। इसी कारण एक ही **दोषावस्तः** पद की ग्रन्थभेद से द्विविध व्याख्या उपलब्ध होती है।[1]

३—**ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद के योरोपीय संस्करणों के आश्रय के कारण अशुद्धियाँ होना**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस समय ग्रन्थ लेखन कार्य किया, उस समय चारों वेदों की संहिताएँ योरोपीय विद्वानों द्वारा ही संपादित होकर प्रकाशित हुई थीं। यद्यपि भारत में इनके सहस्रशः हस्तलेख विद्यमान थे, परन्तु ग्रन्थ लेखन के समय हस्तलिखित पत्रात्मक ग्रन्थों की अपेक्षा मुद्रित ग्रन्थों का आश्रय लेना सुकर होता है। इसलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ग्रन्थ लेखन समय में चारों वेदों के योरोप मुद्रित संस्करणों का ही आश्रय लिया। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को इनके सम्पादकों पर अविश्वास भी नहीं था। योरोपीय संस्करणों में सम्पादकों के अज्ञान के कारण अनेक स्थानों पर अशुद्ध मुद्रण हुआ है। यथा—

(क) ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर **स्यन्द्राः** पाठ है। मैक्समूलर ने ऋग्वेद के मूल तथा सायणभाष्य में **स्यन्द्राः** के स्थान पर **स्पन्द्राः** पाठ छापा है।[2] यकार और पकार के लेखन में सूक्ष्म अन्तर होने के कारण सम्भवतः मैक्समूलर से यह भूल हुई होगी। **स्पन्द्राः** और **स्यन्द्राः** की मूल धातुएँ क्रमशः **स्पदि किञ्चिच्चलने** और **स्यन्दू प्रस्रवणे** हैं। यदि मोक्षमोलर सायणभाष्य में दर्शाये अर्थों पर ध्यान देता तो ये अशुद्धियाँ टाली जा सकती थीं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य के तत्तन्मन्त्रों में मोक्षमूलरीय पाठ को ही प्रमाण मानकर **स्पन्द्राः** की ही व्याख्या की है। वैदिक संशोधन मण्डल पुणे से जो सायणभाष्य छपा है, उसके प्रथम भाग में **स्पन्द्राः** अशुद्ध पाठ ही छपा है। आगे के भागों में **स्यन्द्राः** शुद्ध पाठ छपा है। (द्र०—प्रथम संस्करण)।

---

१. इस प्रकरण को पढ़कर तथाकथित दयानन्द भक्त चाहे कुछ भी कहें, परन्तु दोषावस्तः पद के अर्थ में जो अशुद्धि हुई है, उसका वे शास्त्रीय समाधान नहीं कर सकते। तथा ऋग्वेद यजुर्वेदभाष्यों के प्रणयन के समय क्रमशः सायण और महीधर का आश्रय लिया था, इस सत्य का अपलाप भी नहीं किया जा सकता।

२. द्र०—पं० सातवलेकर द्वारा सम्पादित मूल ऋग्वेद की भूमिका।

(ख) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पञ्चमहायज्ञविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के बलिवैश्वदेव प्रकरण में एक मन्त्र उद्धृत किया है –

**अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने।**
**रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ।।**

इस मन्त्र का पता दिया है—अ० १९।५५।७।। उपर्युक्त मन्त्र का पाठ और पता राथङ्क्विटनी के संस्करण के अनुसार है। इस मन्त्र का उत्तरार्ध अथर्ववेद के हस्तलेखों में नहीं मिलता। अथर्ववेदी इस सूक्त में ६ ही मन्त्र पढ़ते हैं। पूर्वार्ध पर उनका छठा मन्त्र पूर्ण हो जाता है। राथङ्क्विटनी ने इस सूक्त के मन्त्र १-२ के उत्तरार्ध में पठित अंश को प्रकृत मन्त्र के उत्तरार्ध में जोड़कर तथा मन्त्र विभाग में परिवर्तन करके ६ मन्त्रों के स्थान में ७ मन्त्र बना दिये हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जहाँ कहीं भी अथर्ववेद के पाठ उद्धृत किये हैं, वे सब राथङ्क्विटनी के संस्करण के अनुसार ही हैं। अथर्ववेदियों के मन्त्र पाठ में कई स्थानों पर पाठभेद वा न्यूनाधिकता देखी जाती है।

(ग) स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्वेदभाष्य में ऋङ्मन्त्र गणना के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति उपलब्ध होती है, उसका कारण पण्डितों की भूल के साथ मैक्समूलर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद के संस्करण का आश्रय लेना भी है।

ऋग्वेद में १४० ऐसी द्विपदाएँ हैं जो यज्ञकाल में द्विपदा के रूप में विनियुक्त होती हैं, परन्तु अध्ययन तथा व्याख्याकाल में दो-दो द्विपदाओं को मिलाकर अर्थात् चतुष्पदा के रूप में स्वीकार की जाती हैं। इसलिये ये १४० द्विपदाएँ ७० बन जाती हैं। अतएव इन १४० द्विपदाओं को नैमित्तिक द्विपदा कहते हैं। मैक्समूलर ने अपने ऋग्वेद के संस्करण में प्रथम मण्डल के सूक्त ६५-७० की ६० द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा बनाकर छापा, पाँचवें मण्डल के २४वें सूक्त की ४ द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर मुद्रित किया, परन्तु प्रथम चतुष्पदा के अन्त में १।२ संख्या और द्वितीय चतुष्पदा के अन्त में ३।४ संख्या दी। इसके आगे ऋग्वेद में पठित शेष ७६ द्विपदाओं को द्विपदा रूप में ही मुद्रित किया। इससे ऋग्वेद की मन्त्रगणना में न केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती से ही भूल हुई, अपितु वर्तमानकाल के प्रायः सभी विद्वान्, जो ऋग्वेद की ऋग्गणना में प्रवृत्त हुए, उनसे ऋग्गणना में बहुविध भूलें हुईं।

वस्तुतः इन १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदा गिनने पर ऋग्वेद की सम्पूर्ण ऋक्संख्या १०५५२ होती है और इन्हें चतुष्पदा बनाकर ७० गिनने पर ऋक्संख्या १०४८२ होती है। ऋक्संख्या की गणना में किन-किन विद्वानों से कैसी-कैसी भूलें हुई हैं, इसके परिज्ञान के लिये हमारा 'ऋग्वेदस्य ऋक्संख्या' निबन्ध देखें।

**४—आधारभूत ग्रन्थ के अशुद्ध होने के कारण हुई अशुद्धियाँ**—संस्कारविधि के संशोधित द्वितीय संस्करण का आधारग्रन्थ था श्री बालाजी विट्ठल गांवस्कर विरचित **वेदोक्तसंस्कारप्रकाश** का गुजराती संस्करण।[1]

संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में **आधार** एवं **आज्यभाग** आहुतियों के मन्त्र आगे-पीछे हैं। आधार के **अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा** मन्त्रों के स्थान पर **प्रजापतये स्वाहा इन्द्राय स्वाहा** छपने चाहियें। ये ही आधार आहुतियों के मन्त्र हैं। इसी प्रकार **प्रजापतये स्वाहा इन्द्राय स्वाहा** मन्त्रों के स्थान में **अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा** मन्त्र छपने चाहिये। ये ही आज्यभाग आहुतियों के मन्त्र हैं।

इस भूल का कारण **वेदोक्तसंस्कारप्रकाश** है। उसमें विपरीत क्रम से आधाराहुति और आज्यभागाहुति के मन्त्र पठित हैं। इस वेदोक्तसंस्कार-प्रकाश के कारण संस्कारविधि के संशोधित संस्करण में अन्य भी कई अशुद्धियाँ हुई हैं।

कभी-कभी ग्रन्थ में लेखक वा मुद्रण दोष से हुई अशुद्धियाँ घूम फिर कर उसके ग्रन्थ में पहुंच जाती हैं। इसका एक रोचक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

---

१. संस्कारविधि के संशोधित संस्करण की वेदोक्तसंस्कारप्रकाश (मराठी) के गुजराती संस्करण की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सामान्य प्रकरण में तो समानता कुछ कम है, परन्तु बहुत स्थानों पर दोनों की बहुत समानता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि की कर्णवेध पर्यन्त ही संशोधित कापी तैयार की थी। आगे का भाग (अन्त्येष्टि छोड़कर) वेदोक्तसंस्कारप्रकाश के आधार पर तैयार की गई, पाण्डुलिपि के आधार पर छपा है। अतः उस भाग में बहुत समानता है। द्र०—ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, संस्कारविधि प्रकरण, पृष्ठ १११-११२ (द्वितीय संस्करण)।

संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में पृष्ठ २६ पर मन्त्रसंख्या ३-५ का पाठ इस प्रकार छपा है—

**ओं राकामहᳬसुहवाᳬसुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु ।**
**उपागहि सहस्रपोषᳬसुभगे रराणा ॥३॥**
**ओं किं पत्मना सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरᳬशतदाय-**
**मुक्थ्यम् ॥४॥**
**ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।**
**ताभिर्नो अद्य सुमना श्यसि प्रजां पशून्**
**सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥५॥**

इन मन्त्रों का शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

**ओं राकामहᳬसुहवाᳬसुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।**
**सीव्यत्वपः सूच्या छिद्यमानया ददातु वीरᳬशतदायमुक्थ्यम् ॥**
**ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।**
**ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषᳬसुभगे रराणा ॥**
**किं पश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः ॥**

यहाँ तीसरे मन्त्र के **बोधतु** के आगे चतुर्थ मन्त्र का उत्तरार्ध का **उपागहि·····रराणा** भाग और पाँचवें के आरम्भ का **'किं प'** भाग और उसके आगे तीसरे मन्त्र के **'बोधतु'** के आगे का **त्मना** अंश अर्थात् **किं पत्मना** के रूप में अस्थान में जुड़ गये हैं। पाँचवें मन्त्र के **श्यसि** का संबन्ध **किं पश्यसि** के साथ स्पष्ट है।

संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में हुई अशुद्धि **वेदोक्तसंस्कारप्रकाश** में पहुंची।[1] वेदोक्त संस्कारप्रकाश में संस्कारविधि के प्रथम संस्करण, पञ्चमहायज्ञविधि के सं० १९३४ के संस्करण और सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण से सहायता ली गई थी। संस्कारविधि के संशोधित द्वितीय संस्करण में वेदोक्तसंस्कारप्रकाश (गुजराती अनुवाद) को आधार बनाने के कारण संस्कारविधि के प्रथम संस्करण की मन्त्रपाठ की अशुद्धि पुनः संशोधित द्वितीय संस्करण में आ गई। और यह अशुद्धि संस्कारविधि के १७वें संस्करण तक मुद्रित होती गई।[2]

---

१. द्र०—वेदोक्तसंस्कारप्रकाश, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १२९, १३०।

२. द्र०—रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित सन् १९६६ संस्क० तथा शताब्दी संस्करण।

**पण्डितों के प्रमाद के कारण अशुद्ध पूर्वपाठों की विद्यमानता से रहस्यों का उद्घाटन**—पण्डितों के प्रमाद आदि कारणों से पूर्व अशुद्ध पाठों की उपलब्धि से कभी-कभी ऐसे रहस्य प्रकट होते हैं, जो किसी अन्य प्रकार से नहीं जाने जा सकते। यहाँ हम इस प्रकार के दो उदाहरण उपस्थित करते हैं--

(क) हम अनुपद ही एक ऐसा उद्धरण देंगे, जिसमें बतायेंगे कि वैदिक यन्त्रालय से छपे यजुर्वेदभाष्य के अ० २७ के ४७वें मन्त्र का शक्वरी छन्द मिलता है। शक्वरी छन्द में ५६ अक्षर होते हैं। वर्तमान में ४७वें मन्त्र में जो दो द्विपदाएँ छपी हैं, उनमें ३७ अक्षर ही हैं। यदि वर्तमान में छपे ४८वें मन्त्र की प्रथम द्विपदा के अक्षरों की गणना साथ में करें, तो पूरे ५६ अक्षर होते हैं। इस अशुद्धि से, जो वर्तमान पाठ के अनुसार शुद्ध नहीं की गई, यह हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि भाष्य के लेखन से पूर्व जब प्रतिमन्त्र अक्षर गणना की गई थी, तब ४७वें मन्त्र में तीन द्विपदाओं का ही पाठ माना गया था, जो वैदिक परम्परा के अनुसार है।

(ख) सन्ध्या के अनन्तर चारों यज्ञों का जो पाठ पञ्चमहायज्ञविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उपलब्ध होता है, वह प्रायः समान है। इस कारण हमें एक बार सन्देह हुआ कि इन दोनों में से किस ग्रन्थ का चार यज्ञों का पाठ पहले छपा और उससे दूसरे ग्रन्थ में यथावत् सम्मिलित कर लिया गया।

**निर्णयात्मक अशुद्धि**—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अग्निहोत्र के प्रामाण्य में चार मन्त्र दिये हैं। इन पर और उनकी व्याख्या पर क्रमशः १-२-३-४ संख्या छपी है। वे चार मन्त्र हैं—

**समिधाग्निं दुवस्यत**···॥१॥ **अग्निं दूतं वृणीमहे**···॥२॥
**सायंसायं गृहपतिर्नो**···॥३॥ **प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो**···॥४॥

पञ्चमहायज्ञविधि में इस प्रकरण में प्रारम्भ के दो मन्त्र और उनकी व्याख्या नहीं है। पञ्चमहायज्ञविधि के वैदिक यन्त्रालय से छपे जो १-१० संस्करण उपलब्ध होते हैं, उनमें केवल **सायंसायं** तथा **प्रातःप्रातः** दो ही मन्त्र और उनकी व्याख्या छपी उपलब्ध होती है। दोनों मन्त्रों पर शुद्ध १।२ संख्या छपी है, परन्तु इनकी व्याख्या के अन्त में ३।४ संख्या ही उपलब्ध होती है, जो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रकरण में ठीक थी। यहाँ मन्त्रवत् उसे शोधकर १।२ बनाना चाहिये था। पण्डितों के इस

प्रमाद से यह हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गया कि चार यज्ञों का प्रकरण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से पञ्चमहायज्ञविधि में लिया गया है।

हमने वैदिक यन्त्रालय से छपी पञ्चमहायज्ञविधि के ११वें संस्करण में इस अशुद्धि को दूर किया था।

**५—परम्परा से प्रसिद्धि के कारण**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में कुछ अशुद्धियाँ परम्परा से प्राप्त प्रसिद्धि के कारण भी हुई हैं। यथा—

सं० १९२६ के काशी के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के समय प्रतिपक्ष के द्वारा 'मनुस्मृति के प्रामाण्य में वेद का प्रमाण' पूछे जाने पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **यद्वै किञ्चन मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायै** वचन उद्धृत किया था। यह वचन ताण्ड्य ब्राह्मण २३।१६।७ का है। इसी विषय में उक्त वचन से मिलते-जुलते पाठ तै० सं० २।२।१०; मैत्रा० सं० २।१।६; काठक सं० ११।१५ में भी मिलते हैं। सर्वत्र यह पाठ ऋग्वेद मं० ८ के ३१वें सूक्त के मन्त्रों से सम्बद्ध है। इस सूक्त का ऋषि वैवस्वत मनु है। मनुस्मृति के आद्य प्रवक्ता **स्वायम्भुव** मनु थे, यह मनुस्मृति से ही स्पष्ट है। इसलिये वैवस्वत मनु के सम्बन्ध में कहे गये वचन को स्वायम्भुव प्रोक्त मनुस्मृति के प्रामाण्य में उद्धृत करना ठीक नहीं है।

इस भूल का कारण यही है कि विद्वत्समाज में हजारों वर्षों से उक्त वचन मनुस्मृति की प्रामाणिकता के लिये निर्दिष्ट होता रहा है। स्वामी शङ्कराचार्य ने भी वेदान्त दर्शन के अ० २, पाद २, सूत्र १ के भाष्य में इसी वचन को मनुस्मृति (१२।९१) के प्रामाण्य-निदर्शक रूप में उद्धृत किया है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना उचित होगा कि मनुस्मृति के प्रामाण्य में वेद का प्रमाण पूछे जाने पर जो ब्राह्मण वचन उद्धृत किया है, उससे स्पष्ट है कि उस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती परम्परा की प्रसिद्धि के अनुसार ब्राह्मण को भी वेद मानते थे।[1]

---

१. काशी-शास्त्रार्थ के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ब्राह्मण उपनिषदों के वचन वेद के नाम से उद्धृत किये थे। वैदिक यन्त्रालय से छपे 'काशी शास्त्रार्थ' पुस्तक में ऐसे सभी स्थानों पर 'पण्डितानां मतेन' 'पण्डितों के मतानुसार' टिप्पणियाँ छपी हुई उपलब्ध हुई हैं। ये टिप्पणियाँ उस समय जोड़ी गईं जब यह शास्त्रार्थ वैदिक यन्त्रालय में प्रथम वार छपा। काशी-शास्त्रार्थ का जो पुस्तक

५—**स्मृति के आधार पर लिखने के कारण**—लेखक प्रायः करके लिखते समय ग्रन्थान्तरों के पाठ अपनी स्मृति के आधार पर लिखता है। वह प्रति उद्धरण मूलग्रन्थ से नहीं मिलाता। इस कारण उद्धरणों के पाठों में स्मृतिजन्य अशुद्धियाँ प्रत्येक ग्रन्थकर्त्ता के ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के सत्यार्थप्रकाश आदि में भी उद्धृत वचनों में ऐसी भूलें बहुत्र उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार की भूलों के निदर्शनार्थ हम यजुर्वेदभाष्य का एक विशेष स्थल उद्धृत करते हैं—

(क) यजुर्वेद में चार द्विपदाएँ ऐसी हैं, जो दो-दो मिलाकर दो चतुष्पदा के रूप में अ० ३ के २५-२६ मन्त्रों (कण्डिकाओं) में पठित हैं। यथा—

**अग्ने त्वन्नो ऽ अन्तम ऽ उ त त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।**
**वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥२५॥**

**तन्त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।**
**स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्याणो ऽअघायतः समस्मात् ॥२६॥**

यजुर्वेद के अ० १५, मं० ४० में तथा अ० २५ मं० ४७ में अन्तिम द्विपदा (स नो बोधि) को छोड़कर आरम्भिक तीन द्विपदाएँ एक मन्त्र (कण्डिका) के रूप में पठित हैं। भाष्यलेखन से पूर्व जब प्रतिमन्त्र अक्षर गणना करके छन्द लिखे गये, तब अ० २५ के ४७वें तीन द्विपदात्मक मन्त्र (कण्डिका)में ५६ अक्षर होने से इस मन्त्र का **शक्वरी** छन्द लिखा गया।[1]

---

शास्त्रार्थ के एक मास के भीतर ही काशी से प्रकाशित हुआ था, उसमें ऐसी कोई टिप्पणी नहीं है। वस्तुतः काशी-शास्त्रार्थ के समय स्वामी दयानन्द ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद मानते थे, इस सत्य को स्वीकार न करके उसे छिपाने के लिये इस प्रकार की टिप्पणियाँ देना सर्वथा अनार्यजुष्ट कार्य है।

१. अ० २५, मं० ४७ के भाष्य में शक्वरी छन्द छपा है। इसकी जानकारी हमें पं० सत्यानन्द वेदवागीश ने दी थी।

छन्दों के निर्देश में अक्षरगणना को प्रधान माना गया है। ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि में प्रतिमन्त्र जिन छन्दों का निर्देश किया गया है, वे याज्ञिक सम्प्रदायानुसार हैं। उनमें बहुत से कृत्रिम छन्द हैं (द्र०—वैदिक छन्दोमीमांसा, अ० १८)। भाष्यकरण काल में याज्ञिक सम्प्रदायानुसारी लिखित छन्द उपयोगी नहीं होते, अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद और यजुर्वेद के भाष्य में प्रत्येक मन्त्रों के अक्षरों

भाष्यलेखन काल में सम्भवतः अन्यत्र (यजुः ३।२५-२६) इसी आनुपूर्वी से पठित दो मन्त्रों के रूप में चार द्विपदाएँ स्मृतिपटल पर उपस्थित हो जाने से इस स्थान (अ० २५) में भी चारों द्विपदाओं का दो मन्त्रों के रूप में भाष्य लिखा गया। इस प्रकार इस अध्याय में ४७ मन्त्रों के स्थान में ४८ मन्त्र हो गये। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेदभाष्य के आरम्भ में कोष्ठक में जो प्रत्यध्याय मन्त्र-संख्या लिखी है, उसमें २५वें अध्याय में ४७ मन्त्र ही दर्शाये हैं।

इस भूल के साथ ही मूलतः तीन द्विपदात्मक ४७वें मन्त्र (कण्डिका) का जो **शक्वरी** छन्द लिखा गया था और छपा उपलब्ध है, वह भी अशुद्ध हो गया, क्योंकि ४७वें मन्त्र में दो द्विपदा का भाष्य मिलता है। इन दो द्विपदाओं में ४७ अक्षर हैं। भाष्यकाल में ४८वें मन्त्र की दो द्विपदाओं की अक्षर गणना करके **भुरिग्बृहती** नया छन्द लिखा गया।

यहाँ भी ध्यान देने योग्य है कि यजुर्वेदभाष्य के २२वें अध्याय से आगे जो भाष्य छपा है, वह ऐसी पाण्डुलिपि (रफ कापी) से छापा गया है, जिस पर किसी व्यक्ति के हाथ का अतिस्वल्प संशोधन है।[1] इस भाग की भाषा और प्रेस कापी स्वामी दयानन्द सरस्वती के निधन के पश्चात् बनाई गई थी।

(ख) ऋ० १।१।२ के भाष्य में निरुक्त का एक पाठ उद्धृत है—**ऋषिप्रशंसा चैवमुच्चावचै**……। आगे इस वाक्य की इसी रूप में व्याख्या भी की है।

निरुक्त ७।३ में पाठ है—**एवमक्षनिन्दा कृषिप्रशंसा च। एवमुच्चावचै** ……।

---

की गणना कराकर तदनुसार छन्दोनिर्देश किये हैं। अनेकत्र अक्षरगणना में गणक द्वारा भूल हो जाने से तदनुसार लिखे गये छन्द अशुद्ध भी हैं। गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने अपने यजुर्वेदभाष्य विवरण में गणना की अशुद्धि के कारण भाष्य में अशुद्ध लिखे गये छन्दों का संशोधन कर दिया है। मैंने भी ऋग्वेदभाष्य के जो तीन खण्ड (मं० १, सूक्त १-१०५) छापे हैं, उनमें भी अशुद्ध छपे छन्दों का संशोधन कर दिया है।

१. द्र०—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १५६, ३१७ (द्वितीय संस्क०)। ऋग्वेद का भाष्य भी प्रथम मण्डल के सूक्त ११४ के आगे जो छपा है, वह असंशोधित पाण्डुलिपि के आधार पर ही छपा है। द्र०—ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १४६, ३१५ (द्वि० सं०)।

यह पाठ की अशुद्धि सम्भवतः स्मृति के आधार पर लिखाने के कारण हुई है।

यहाँ एक और भी सम्भावना है कि यह पाठ की अशुद्धि राथ द्वारा सम्पादित योरोप में छपे सांस्करण के कारण हुई हो। उसमें 'कृ' अक्षर की बनावट 'ऋ' से बहुत मिलती है।[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में जिन-जिन कारणों से भूलें हुई हैं, उनके कुछ उदाहरण हमने ऊपर निदर्शित किये। इस विषय में जो व्यक्ति अधिक जानना चाहें वे हमारा 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' और हमारे द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के सम्पादकीय लेखों का अवलोकन करें।

## वैदिक यन्त्रालय से छपे उत्तरवर्ती संस्करणों में परिवर्तन

अब हम ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के वैदिक यन्त्रालय द्वारा जो उत्तरवर्ती सांस्करण छपे हैं, उनमें जो परिवर्तन हुए, उनका निदर्शन कराते हैं। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि **जिस ग्रन्थ के जितने अधिक संस्करण छपे हैं, उसमें उतने ही अधिक परिवर्तन हुए हैं।**

१—**संस्कारविधि में पाठ-परिवर्तन**—हमने संस्कारविधि के सम्पादन के समय तक वैदिक यन्त्रालय से छपे २४ सांस्करणों में से २० संस्करणों[2] के पाठ मिलाये थे। उससे ज्ञात हुआ कि वैदिक यन्त्रालय से छपे उत्तरवर्ती संस्करणों में किन्हीं व्यक्तियों द्वारा पर्याप्त पाठ बदल गये। परिवर्तित पाठों का वर्गीकरण हमने अपने सम्पादकीय में इस प्रकार किया है।

१. उद्धरणों के पते देनेवाले व्यक्तियों द्वारा परिवर्तन।

२. मूल पाठ में परिवर्तन।

३. टिप्पणियों में परिवर्तन।

४. परिवर्तित पाठ का स्वा० द० स० के अन्य ग्रन्थों से विरोध।

५. द्वितीय संस्करण के अन्त में दिये गये संशोधन-पत्र के अनुसार तृतीय संस्करण में शोधन न करना।

६. २५वें संस्करण में संशोधक द्वारा स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों का अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य से उद्धृत करना (जो प्रसङ्ग के भी अनुरूप नहीं है)।

---

१. यह संस्करण हमने परोपकारिणी सभा के वैदिक पुस्तकालय में लगभग ३५-४० वर्ष पूर्व देखा था। ऊपर हमने अपनी स्मृति के आधार पर ही सम्भावनान्तर का उल्लेख किया है।

२. ये प्रायः सभी संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय में विद्यमान है।

इन सब के उदाहरण हमने स्वसम्पादित संस्कारविधि के सम्पादकीय में दिये हैं। इन्हें जो पाठक देखना चाहें वह हमारे सम्पादकीय में देखें।

संस्कारविधि के किन-किन संस्करणों का पाठ परस्पर मिलता है। इसका वर्गीकरण हमने इस प्रकार दर्शाया है—

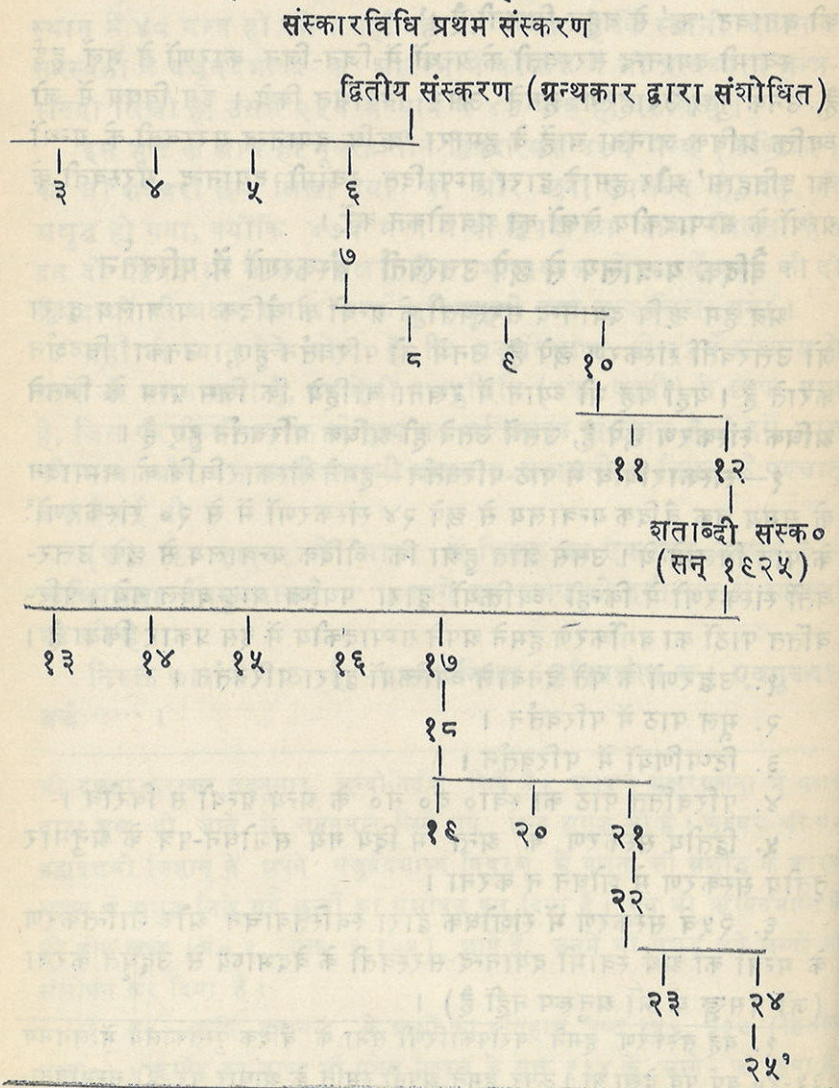


१. वैदिक यन्त्रालय का यह संस्करण हमारे द्वारा सन् १९६६ में प्रकाशित संशोधित संस्करण के पीछे छपा था।

इस वर्गीकरण के अनुसार संस्कारविधि के संशोधित संस्करण के पश्चात् न्यूनातिन्यून ६ बार पाठ परिवर्तित हुए। हमने यह वर्गीकरण वैदिक यन्त्रालय से छपे विभिन्न संस्करणों के परिवर्तित पाठों के आधार पर किया है।

२. **सत्यार्थप्रकाश में पाठ-परिवर्तन**—सत्यार्थप्रकाश के वैदिक यन्त्रालय से छपे परिशोधित द्वितीय संस्करण के पश्चात् वहीं से छपे उत्तरवर्ती संस्करणों में भी अनेक बार पाठ बदले गये। सत्यार्थप्रकाश के हमारे द्वारा सम्पादित संस्करण (सं० २०२९) तक वैदिक यन्त्रालय से ३५ संस्करण छप चुके थे। उनमें से हमने २५ संस्करणों[1] के पाठ मिलाये थे [शेष हमें प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध नहीं हुए]। सत्यार्थप्रकाश में तो इतने अधिक परिवर्तन वा मुद्रण दोष हुए हैं कि यदि हम उन सबका टिप्पणी में संग्रह करते तो उनका आकार न्यूनातिन्यून सत्यार्थप्रकाश का एक तिहाई हो जाता। इसलिये हमने अपने संस्करणों में केवल सत्यार्थप्रकाश के ग्रन्थकार द्वारा लिखित भूमिका भाग में ही समस्त पाठ-भेदों को टिप्पणी में दर्शाया है। उससे उत्तरवर्ती संस्करणों में कतिपय विशिष्ट पाठ-परिवर्तनों का ही निर्देश किया है। हम यहाँ उनमें से दो तीन पाठों की ओर संकेत करते हैं—

(क) **प्राणापान के लक्षण में परिवर्तन**—पृष्ठ १००[2] पंक्ति २७, २८ का ग्रन्थकार का मूल पाठ था—**(प्राण) भीतर से वायु का निकालना, (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना**। इसके स्थान पर तृतीय संस्करण में लोकप्रसिद्धि के अनुसार इस प्रकार पाठ परिवर्तन किया गया—'(प्राण) बाहर से वायु को भीतर लेना (अपान) भीतर से वायु को बाहर निकालना।' यह परिवर्तन साधारण दृष्टि से ठीक प्रतीत होता है, परन्तु ग्रन्थकार के मन्तव्य एवं प्राचीन ऋषि-मुनियों के सिद्धान्त के विपरीत है (द्र०—पृष्ठ १००-१०१; २९८ की हमारी टिप्पणियाँ)। यही पाठ पुनः सप्तम समुल्लास में पृष्ठ २९८ पर भी आया है, परन्तु वहाँ तृतीय संस्करण में पाठ-परिवर्तन नहीं मिलता अर्थात् वहाँ पाठ-परिवर्तित नहीं हुआ। पञ्चम संस्करण में पृष्ठ २९८ का पाठ भी इस प्रकार बदल

१. ये संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय में विद्यमान हैं।

२. इस प्रकरण में सत्यार्थप्रकाश की पृष्ठ संख्या का निर्देश हमारे द्वारा सम्पादित (शताब्दी संस्करण) द्वितीय संस्करण के अनुसार है।

दिया गया—'(प्राण) प्राण वायु भीतर लेना, (अपान) प्राण वायु को बाहर निकालना।' ये परिवर्तन वैदिक यन्त्रालय के १४-१५ संस्करणों तक छपते रहे।

वैदिक यन्त्रालय के तीसरे संस्करण में प्रथम स्थान पर किया गया, पाठ-परिवर्तन पं० ज्वालादत्त या पं० भीमसेन शर्मा ने किया था। तृतीय संस्करण के मुख पृष्ठ पर दोनों का नाम संशोधक के रूप में छपा है। द्वितीय स्थान में (पञ्चम संस्करण में) पाठ-परिवर्तन पं० लेखरामजी ने किया था।[1]

(ख) पञ्चम संस्करण का संशोधन पं० लेखरामजी ने किया था।[2] उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में अनेक पाठ परिवर्तित किये। यथा—

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ग्रन्थकार का मूल पाठ था—**'एतमग्निं वदन्त्येके'**। पं० लेखरामजी ने इसे मनुस्मृति के वर्तमान पाठ के अनुसार **एतमेके वदन्त्यग्निम्** बना दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती को **एतमग्निं वदन्त्येके** पाठ ही अभिप्रेत था। पूनाप्रवचन के पाँचवें प्रवचन में भी यही पाठ उपलब्ध होता है।

(ग) सत्यार्थप्रकाश के हस्तलेखों तथा द्वितीय परिशोधित संस्करण में **अङ्गादङ्गात् संभवसि** वचन के तृतीय चरण का पाठ था—**आत्मासि पुत्र मा मृथाः**। इसको तृतीय संस्करण में निरुक्त ३।५ में उद्धृत वचन के अनुसार **आत्मा वै पुत्र नामासि** के रूप में बदलकर छापा है। यह पाठ-परिवर्तन ३३वें संस्करण तक छपता रहा। उद्धरण के पाठ में परिवर्तन करने पर भी **मुझसे पूर्व मत करे** यह **मा मृथाः** का अर्थ छपता रहा। अर्थात् उद्धरण का पाठ बदला गया पर अर्थ पुराने पाठ का बना रहा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस प्रमाण के अन्त में लिखा है—**यह सामवेद (ब्राह्मण) का वचन** है। यह संकेत 'छान्दोग्य मन्त्र ब्राह्मण' की ओर है।[3] उसका पाठ **आत्मासि पुत्र मा मृथाः** ही है।

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न संस्करणों में संशोधक पण्डितों तथा मुद्रण पत्र संशोधकों ने समय-समय पर अनेक पाठ परिवर्तित किये हैं।

---

१. वे पञ्चम संस्करण के संशोधक थे।

२. यह इस संस्करण के आरम्भ में शिवप्रसाद, मन्त्री प्रबन्धकर्त्री सभा, वैदिक यन्त्रालय की भूमिका से स्पष्ट है।

३. द्र०—छा० मन्त्र ब्रा० ३।५।१७,१८॥

(ग) **प्रूफसंशोधक पण्डितों द्वारा जोड़ी गई टिप्पणियाँ**—सत्यार्थप्रकाश के कतिपय संस्करणों में वैदिक यन्त्रालय के प्रूफसंशोधकों ने भी कुछ टिप्पणियाँ यदा-कदा जोड़ी हैं। तृतीय समुल्लास में पठन-पाठनविधि प्रकरण में एक टिप्पणी दी है—**सम्भव है पहले अष्टाध्यायी श्लोकबद्ध हो।**

यह टिप्पणी स्वामी दयानन्द सरस्वती के तृतीय समुल्लास में उल्लिखित पठन-पाठन विधि के अन्तर्गत **'इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों के बीच में अखिल शब्द अर्थ और संबन्धों की विद्या प्रतिपादित कर दी है'** वाक्य पर दी है।

टिप्पणीकर्त्ता ने समझा होगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अष्टाध्यायी को श्लोकबद्ध माना है। वस्तुतः टिप्पणीकर्त्ता को ग्रन्थ की परिमाणबोधक प्राचीन परम्परा का ज्ञान ही नहीं था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन परम्परा के अनुसार अष्टाध्यायी का परिमाण बताने के लिये **सहस्र श्लोकों** का प्रयोग किया है।

ग्रन्थ का परिमाण बताने के लिये ग्रन्थ के अक्षरों की गणना करके उसमें ३२ को भाग देने पर जो संख्या उपलब्ध होती है, उतने अनुष्टुप् श्लोक उस ग्रन्थ का परिमाण माना जाता है। वस्तुतः केवल 'श्लोक' शब्द ३२ अक्षरों एवं चार चरणों के पद्य का ही वाचक है। उत्तरकाल में पद्यबद्धता की साम्यता से 'श्लोक' शब्द सभी प्रकार के पद्यमय वृत्तों का बोधक बन गया।

अब हम सत्यार्थप्रकाश के उन पाठ-परिवर्तनों में हुई भूलों का निर्देश करते हैं, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती की सहमति से द्वितीय संस्करण में वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक मुंशी समर्थदान से हुईं।

सत्यार्थप्रकाश का संशोधित द्वितीय संस्करण छपते समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अत्यन्त विश्वासपात्र मुंशी समर्थदान को सत्यार्थप्रकाश की भाषा में संशोधन करने की अनुज्ञा दे दी थी। द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, (तृतीय संस्करण) भाग २, पृष्ठ ६२०, पं० ५; पृष्ठ ७६४, पं० ३-४। इस अनुज्ञा के अनुसार मुंशी समर्थदान ने सत्यार्थप्रकाश की भाषा में दो प्रकार के शब्द बदले—

(१) मतमतान्तरों के खण्डन में जहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कड़े (=कठोर) शब्दों का प्रयोग किया था, उन्हें नरम बना दिया।

(२) सत्यार्थप्रकाश में जहाँ उर्दू फारसी के शब्द प्रयुक्त हुए थे, उनके स्थान पर आर्यभाषा (खड़ी बोली) के शब्द रख दिये।

यहाँ हम द्वितीय प्रकार के शब्द-परिवर्तन में हुई दो भूलों का निर्देश करना उचित समझते हैं।

(क) सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ३५९, पं० ६,७ का हस्तलेख का पाठ था—**सूर्य का नाम (ब्रध्नः) पृथिवी से लाखह गुणा बड़ा**……।' यहाँ उर्दू के **लाखह** बहुवचन के स्थान पर भाषा में एकवचनान्त **लाख** शब्द रख दिया। यहाँ भाषा के व्याकरण के अनुसार बहुवचनान्त **लाखों** होना चाहिये क्योंकि सूर्य पृथिवी से कई लाख गुना बड़ा है। उर्दू फारसी और आर्यभाषा के अच्छे ज्ञाता मुंशी समर्थदान से यह साधारण भूल कैसे हुई, यह हमारी समझ में नहीं आता।

(ख) सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ३११, पं० ४ का हस्तलेख का पाठ था—**भला एक मियान में दो तलवार कभी रह सकती हैं ?** यहाँ **मियान** शब्द के स्थान में **घर** शब्द बनाया गया। 'घर' शब्द मुख्यार्थ से गृह का वाचक है। इसलिये 'गृह' अर्थ की प्रतीति होने पर (जो स्वाभाविक है) वाक्यार्थ अशुद्ध हो जाता है। एक घर=गृह में दो क्या दो से अधिक भी तलवारें रह सकती हैं। वस्तुतः 'मियान' शब्द बदलने की आवश्यकता नहीं थी, यह लोकभाषा में प्रचलित शब्द है। परन्तु उर्दू फारसी का शब्द न रहे, इस आग्रह से 'मियान' के स्थान पर 'घर' शब्द रखा। यदि 'मियान' शब्द बदलना ही था, तो इसके स्थान में **कोश** शब्द रखा जा सकता था। सम्भव है मुंशी समर्थदान को संस्कृत शब्द का ज्ञान न रहा हो।

**स० प्र० में समर्थदान की टिप्पणियाँ**—सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में मुंशी समर्थदान की कुछ टिप्पणियाँ भी हैं। प्रारम्भिक भाग में टिप्पणियों के अन्त में समर्थदान ने **स० दा०** के रूप में अपने नाम का संकेत किया था। संभवतः इन टिप्पणियों को उपयोगी समझकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने टिप्पणियाँ देने की अनुज्ञा दे दी थी (द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ६१२, पं० १९; पृष्ठ ६१७, पं० १४, संस्करण ३)। परन्तु उन्होंने टिप्पणियों के अन्त में **स० दा०** संकेत देखकर पुनः लिखा कि **'नोट पर किसी का नाम मत दो'** (द्र०—वही, भाग २, पृष्ठ ६२९ पं० २-४)। इस आज्ञा को पाकर मुंशी समर्थदान ने जहाँ-जहाँ टिप्पणियों के अन्त में 'स० दा०' संकेत छापा था, उन पर सादी

चिप्पी लगवा दी परन्तु सन् १९२५ के वैदिक यन्त्रालय से छपे शताब्दी संस्करण और उससे आगे के संस्करणों में पुनः स० दा० के रूप में समर्थ-दान का नाम छप रहा है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद के उद्धार एवं वैदिक धर्म के प्रचार के लिये जो ग्रन्थ लेखन एवं प्रकाशन रूपी महत्तम कार्य किया है, उसमें यत्र-तत्र उपलब्ध होनेवाली अशुद्धियाँ किन-किन कारणों से हुई हैं, उनका हमने संक्षेप से सोदाहरण निरूपण इसलिये किया है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का सरसरी दृष्टि से अध्ययन करके उनके विषय में अन्यथा विचार नहीं बना लेना चाहिये। उनके मुद्रित ग्रन्थों की वह स्थिति नहीं हैं, जैसी किसी लेखक द्वारा लिखे गये और स्वयं संशोधित ग्रन्थ को मुद्रण के समय भी स्वयं अवलोकन अथवा मुद्रण-पत्रों (प्रूफों) का संशोधन किये ग्रन्थ की होती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जीवन के अन्तिम ९-१३ वर्षों में विविध कार्यों में व्यस्त रहते हुए एवं भ्रमण करते हुए साधारण पण्डितों (लिपिकरों) के सहयोग से **जो इतनी महती ग्रन्थ-राशि लिखी और छपवाई, उसका ध्यान प्रत्येक पाठक को अवश्य रखना चाहिये।** अन्यथा उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता के साथ न्याय कदापि सम्भव नहीं होगा।

# स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रमुख कार्य

# वेदों का उद्धार

## पूर्वपीठिका

महापुरुष यथोचित जनता का वा राज्य का सहयोग न होने पर भी अथवा उलटा विरोध होने पर भी स्व ईप्सित कार्य में सफल हो जाते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य के कार्य के लिए पञ्जाब विश्वविद्यालय से आर्थिक सहायता चाही थी; परन्तु आर्थिक सहायता तो दूर रही; विश्वविद्यालय के विद्वानों ने उनके वेदभाष्य का विरोध किया। (द्रष्टव्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र विज्ञापन, पूर्ण संख्या ५०,५१,५२; तृतीय संस्करण)। इसके दो प्रमुख कारण थे। प्रथम, उनके मन और मस्तिष्क पर सायणाचार्य का याज्ञिकप्रक्रियानुसारी भाष्य छाया हुआ था। वे वेद का प्रयोजन यज्ञ-यागादि तक ही सीमित समझते थे। दूसरा, उस समय के योरोपीय विद्वान् मैक्समूलर प्रभृति वेदों की रचना के सम्बन्ध में बहुत हीन भावना रखते थे। परन्तु मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत वेदभाष्य के नियमित ग्राहक थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी मैक्समूलर प्रभृति की अपने वेदभाष्य के सम्बन्ध में प्रतिक्रिया जानने के लिए सदा उद्यत रहते थे। इस कार्य के लिए उन्होंने अपने प्रिय शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को नियत किया हुआ था।

मानव जाति की, विशेष करके स्वदेशवासी भारतीयों की ऐहिक एवं पारलौकिक उन्नति का ऐसा कोई भी कार्य नहीं था, जो अशेषशेमुशी-सम्पन्न स्वामी दयानन्द सरस्वती की दृष्टि से ओझल रहा हो और उसके लिये उन्होंने किसी न किसी रूप में कार्य न किया हो। हमारा प्रयोजन यहाँ उनके उन सभी कार्यों के परिगणन कराने का नहीं है, क्योंकि उनका परिज्ञान उनके ग्रन्थों, पत्रों एवं प्रवचनों[1] के संग्रहों से भली प्रकार हो

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस वाङ्मय की ऐतिहासिक जानकारी के लिये हमारा 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' देखें।

जाता है। हमारी दृष्टि में **उनका प्रमुख कार्य वेदों का उद्धार ही था,** शेष सब कार्य उसी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग-रूप थे। **सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः** कहावत के अनुसार हम यहाँ उनके एकमात्र प्रमुख वेदोद्धार कार्य तथा प्रयत्नपूर्वक किये गये इस कार्य की रक्षा के लिये, जिससे वैदिक ज्ञान-विज्ञान पुनः विलुप्त न हो जाये, किये गये विशेष प्रयत्नों का ही वर्णन करेंगे।

वेदों के सम्बन्ध में कतिपय भ्रान्तियाँ भारत-युद्ध से सहस्र दो सहस्र वर्ष पूर्व ही उत्पन्न हो गईं थीं,[1] परन्तु ऋषियों के सतत जागरूक[2] रहने से उनमें विशेष वृद्धि नहीं हुई। वैदिक वाङ्मय के इतिहास से ज्ञात होता है कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा उनके शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा किया गया वैदिय वाङ्मय का प्रवचन अन्तिम प्रवचन था।[3] यद्यपि इन वैदिक ग्रन्थों का प्रवचन द्रव्यमय कर्मकाण्ड[4] को धुरि बनाकर ही हुआ है, परन्तु प्रवचनकर्ता ऋषियों ने प्रसक्तानुप्रसक्त रूप से प्राचीन वैदिक ज्ञान-विज्ञान को इनमें पर्याप्त रूप में सुरक्षित कर दिया है। सम्प्रति हमें जो वैदिक वाङ्मय के कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सब इसी काल के हैं। इतना ही नहीं, अन्य विविध विद्याओं के भी जो आकर ग्रन्थ हमें उपलब्ध होते हैं, वे भी प्रायः इसी काल के हैं। वैदिक वाङ्मय के इस अन्तिम प्रवचन का काल भारत युद्ध के सौ वर्ष पूर्व से दो सौ वर्ष उत्तर तक रहा है। इसके पश्चात् ऋषि-युग समाप्त हो जाता है।

---

१. इसके लिये महाभारत और पुराणों में वर्णित 'उपरिचर वसु' की आख्यायिका देखें। इससे यज्ञों में पशुबलि पर प्रकाश पड़ता है।

२. इसी आख्यायिका से ज्ञात होता है कि तत्कालीन ऋषियों ने यज्ञों में पशु-बलि का घोर विरोध किया था। इस विरोध की परिणति ऋषियों द्वारा उपरिचर वसु को श्राप के रूप में हुई।

३. द्र०—श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० रिसर्चस्कालर द्वारा निर्मित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, २, ३॥

४. द्रव्यमय यज्ञों का प्रादुर्भाव, इनके आरम्भ होने का प्रयोजन, उनका विकास और उनमें विकृतियों के इतिहास को जानने के लिये हमारा **श्रौतयज्ञमीमांसा** ग्रन्थ 'मीमांसाशाबरभाष्य-व्याख्या' भाग १, तथा 'मीमांसाशाबरभाष्य' भाग १ के आरम्भ में मुद्रित 'श्रौतयज्ञमीमांसा' लेख तथा 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' में मुद्रित 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' लेख देखें।

ऋषियों के उत्क्रमण[1] के पश्चात् वेद के सम्बन्ध में शनैः-शनैः अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गईं और वे शनैः-शनैः दृढमूल होती गईं। इससे न केवल वेदों का स्वरूप ही विकृत हुआ, अपितु समस्त वैदिक ज्ञान-विज्ञान भी शनैः-शनैः लुप्त हो गया। स्थिति यहाँ तक पहुंची कि मन्त्रार्थ-ज्ञान भी अनावश्यक हो गया। कर्मकाण्ड में अक्षर वर्ण एवं पद पदैकदेश की साम्यता मात्र से मन्त्र विनियुक्त होने लगे।[2] प्राचीन वैदिक वाङ्मय में भी प्रक्षेप किये गये[3]। धर्मशास्त्रों का स्वरूप इतना विकृत हुआ कि उसके शुद्ध स्वरूप का परिज्ञान ही कठिन हो गया।

इसकी परिणतिस्वरूप भारतवर्ष और उसके साथ शेष जगत्[4] भी अविद्या अन्धकार से आवृत हो गया। अविद्या के बढ़ने से देश-विदेश में अनेक मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये। मानव जाति शतशः मतमतान्तरों के दायरे में विभक्त हो गई और सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। एक प्रकार से मात्स्य न्याय प्रवृत्त हो गया। बुद्धि धन एवं बलवाले

---

१. मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति। निरुक्त १३।१२॥

२. द्रष्टव्य—श्रौतयज्ञमीमांसा, पृष्ठ ३८, ३९ (संस्कृत), १६३ (हिन्दी), 'मीमांसाशाबरभाष्य-व्याख्या' भाग १ के आरम्भ में पृष्ठ १२५-१२६ (संस्क०२), तथा 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' अन्तर्गत 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' लेख पृष्ठ ९०-९७ (संस्क० २)।

३. शतपथ ब्रा० का० १३ अ० ५ का दूसरा ब्राह्मण इसी प्रकार का है। इसके आरम्भ में **यदध्रिगोः परिशिष्टं भवति** में परिशिष्ट शब्द इस बात का सूचक है कि यह ब्राह्मण पीछे से मिलाया गया है। इसमें एक हेतु यह भी होता है कि यजुर्वेद के २३वें अध्याय के मन्त्र १९ से ३१ तक जिन मन्त्रों का अर्थ शतपथ के किसी काण्ड के दूसरे अध्याय के विभिन्न ब्राह्मणों में राष्ट्रपरक उत्तम व्याख्यान किया है, उन्हीं का उक्त परिशिष्ट में परम अश्लील व्याख्यान किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इन मन्त्रों का राष्ट्रपरक श्रेष्ठ अर्थ ही किया है। वहाँ परिशिष्ट में दर्शाए गये अश्लील अर्थ का नामोनिशान नहीं है।

४. प्राचीनकाल में भारतवर्ष ही सारे जगत् का ज्ञानदाता गुरु था ?

**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥** मनु० २।२०॥

अपने से हीन जातियों का विविध रूप में शोषण करने लगे। देश विदेशियों से पदाक्रान्त हुआ। भारत की अपार धन सम्पत्ति का विदेशी धन लोलुप आक्रमणकारियों ने यथेच्छ अपहरण किया, परन्तु उस भयानक काल में भी हम अविद्या से आवृत होने के कारण तात्कालिक परिस्थिति से अपना उद्धार न कर सके। इतना ही नहीं, भक्ति के नाम पर जनता को ऐसे उपदेश देते रहे, जिससे वह निष्कर्मण्य बन गई। हमारी यह दयनीय स्थिति वेद-विद्या के विलोप के कारण ही हुई। नीतिकारों ने कहा है—**शुष्के मूले नैव शाखा न पत्रम्**।

वेदों के उस समय के मान्य तथाकथित स्वरूप को ही वेदों का वास्तविक स्वरूप मानकर वेदविरोधियों ने समय-समय पर वेदों पर विविध प्रकार के आक्षेप किये। उनकी पराकाष्ठा विक्रम की बीसवीं सदी में ईसाई मत के आग्रह से युक्त पाश्चात्य संस्कृतज्ञ मैक्समूलर[1] प्रभृति विद्वानों के द्वारा किये गये विविध आक्षेपों के रूप में हुई।

**मध्यकालीन[2] वेद-विषयक मान्यता**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदोद्धार कार्य की महत्ता को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि मध्यकालीन भारतीय विद्वानों की परम्परा में वेद का क्या स्वरूप प्रतिष्ठित था अर्थात् वे वेदों का क्या प्रयोजन मानते थे। इसके साथ ही यह जानना भी अत्यन्त आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों का जो स्वरूप वैदिक विद्वानों एवं आक्षेपकर्ताओं के सम्मुख उपस्थापित किया, उसका उत्स (=स्रोत) क्या था? क्योंकि तात्कालिक परिस्थितियों में उन्हें वेदों के उस स्वरूप का परिज्ञान होना नितान्त कठिन था। हम यहाँ पहले तात्कालिक भारतीय विद्वानों में वेद के सम्बन्ध में जो परम्परागत धारणा विद्यमान थी, उसका उल्लेख करते हैं—

---

१. द्र०—'वैदिकसिद्धान्त-मीमांसा' अन्तर्गत 'वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' लेख में उद्धृत मैक्समूलर के कतिपय पत्रों का निर्देश, पृष्ठ २७ (संस्कृत), पृष्ठ ५८-५९ (हिन्दी); संस्करण २।

२. मध्यकाल से तात्पर्य कृष्ण द्वैपायन और उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा वैदिक वाङ्मय के अन्तिम प्रवचन के ४०० वर्ष पश्चात् से वर्तमान काल तक का काल।

**परम्परागत वैदिक विद्वानों की वेदविषयक धारणा**—लगभग ५ सहस्र वर्षों से वेदों का प्रयोजन केवल द्रव्यमय यज्ञों के अनुष्ठान तक ही सीमित था। **वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः** यह धारणा बद्धमूल हो गई थी। इसी कारण स्कन्द स्वामी आदि ने वेदों के जो भाष्य रचे, वे याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ही रचे। दुर्गाचार्य प्रभृति यास्कीय निरुक्त के व्याख्याताओं ने निरुक्त में आधिदैविक प्रक्रियानुसार किये गये मन्त्रार्थ का भी व्याख्यान बलात् याज्ञिक प्रक्रियानुसार ही किया है। क्या यह याज्ञिक प्रक्रिया की बद्धमूलता की पराकाष्ठता को द्योतित नहीं करता है?

यज्ञानुष्ठान ब्राह्मणगत विधि विधानों के विना सम्पन्न नहीं हो सकते, इसलिये याज्ञिकों को मन्त्रों के साथ-साथ ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेद-संज्ञा का विधान करना पड़ा। आरण्यकग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं और उपनिषदें आरण्यकों के अन्तर्गत हैं अतः उन्हें भी वेद माना गया। किन्हीं आचार्यों ने वेदाङ्गों की भी वेदसंज्ञा स्वीकार की है।

**उक्त मत की परीक्षा**—यदि पूर्वाग्रह को छोड़कर तार्किक बुद्धि से विचार किया जाये तो **वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः** कथन की अयुक्तता हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिये हम ऋग्वेद को लेते हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों का विनियोग यज्ञों में होतृकर्म में होता है। जितना भी यज्ञीय होतृकर्म विविध यज्ञों में विहित है, उसमें ऋग्वेद का अधिक से अधिक एक तिहाई भाग विनियुक्त है। दो तिहाई भाग ऐसा है, जिसका किसी यज्ञ में विनियोग नहीं है। ऐसी अवस्था में परम्परागत **वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः** धारणा स्वतः खण्डित हो जाती है। इस स्थिति से निस्तार पाने के लिये परम्परागत वैदिक विद्वान् एक ब्राह्मणवचन का आश्रय लेते हैं। वह वचन इस प्रकार है—

**यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नोदेयादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्।**[1]

(मी० २।१।१ भाष्य में उद्धृत)

अर्थात् सुत्या के दिन उषःकाल में आश्विन शस्त्रों का पाठ करते हुए सूर्य उदय न होवे तो सारी दाशतयी (=ऋग्वेद) का पाठ करे।

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक—ऐसी स्थिति कभी-कभी ही उपस्थित होती है, जब आश्विन शस्त्रों का पाठ करते हुए सूर्योदय न

---

१. तुलना करो आप० श्रौत १४।२४।१-२—यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नाविर्भवति·····सर्वा अपि दाशतयीरनुब्रूयात्।

होवे। दूसरा—आश्विन शस्त्रों के पाठ की समाप्ति और सूर्योदय के मध्य का जो काल है, वह अनियत है। वह कभी घण्टा भर अथवा उससे अधिक भी हो सकता है और कभी अति न्यून। इस सीमित काल में तो समस्त यज्ञकर्म में अविनियुक्त सब मन्त्रों का पाठ भी सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार मीमांसा शाबरभाष्य २।१।२३ में एक ब्राह्मणवचन और उद्धृत है—

**सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे परिप्लवमश्वमेधे शंसति।**

यहाँ सब ऋचाओं यजुओं और सामों का परिप्लवरूप से शंसन कहा है। परिप्लव का अर्थ है, चञ्चलता (स्वार्थ में अण्—पारिप्लव)। तात्पर्य यह है कि इस समय जो भी ऋचाएँ, यजुः वा साम स्मृति में उपस्थित हो जावें, उनका पाठ करें।

वस्तुतः उक्त वचन जब ऐसी आपात स्थिति उत्पन्न होवे तब होता मानुष वाक् का व्यवहार न करे अपितु ऋग्वेद की दैवी वाक् का ही उच्चारण करे, के विधान के लिये है, क्योंकि यज्ञकर्म के मध्य मानुष वाक् का व्यवहार वर्जित है। वैसे भी जैमिनि के **सर्वत्वमाधिकारिकम्** (मी० १।२।१६) न्याय के अनुसार ऋक् आदि का सर्वत्व मध्यवर्तीकाल में पढ़े जा सकनेवाले मन्त्रों तक ही सीमित है। पाँच सहस्र वर्षों में यह किसी को नहीं सूझा कि जब वेदों के समस्त मन्त्र यज्ञकर्मों में विनियुक्त ही नहीं हैं, तब **वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः** कथन कैसे उपपन्न होगा? अधिक से अधिक याज्ञिक उक्त मत की उपपत्ति में **भूमा न्याय** (मी० १।४।२७) का आश्रयण ले सकते हैं, परन्तु ऐसा वे स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः उक्त वचन द्रव्यमय यज्ञों के लिये नहीं है, अपितु वह सृष्टि यज्ञ की दृष्टि से प्रवृत्त हुआ है। चारों वेदों के मन्त्र सृष्टि यज्ञ के किसी न किसी तत्त्व का व्याख्यान करते हैं।

**याज्ञिकों और मीमांसकों के एक विशिष्ट मत की समीक्षा**—याज्ञिकों और मीमांसकों[1] के अनेक मत प्रायिकता अर्थात् भूमान्याय की दृष्टि से

---

१. यद्यपि मीमांसक भी याज्ञिक हैं परन्तु चिरकाल से इन दोनों में कुछ भेद स्वीकार किया जाता है। याज्ञिक पद से प्रायः वे याज्ञिक बोधित होते हैं, जो शब्दमात्र की दृष्टि से ऐसे कर्मों में भी प्रवृत्त होते हैं, जो न्यायानुमोदित नहीं होते। इन्हें मूढ याज्ञिक जानना चाहिये। परन्तु स्कन्द स्वामी ने निरुक्त ७।५ की व्याख्या

स्वीकार किये गये थे, परन्तु जब उत्तरकालीन याज्ञिक और मीमांसक उन्हें तात्त्विक दृष्टि से तथाविध ही मानने का आग्रह करने लगे, तो यज्ञ-कर्मों में अनेक विसङ्गतियाँ उत्पन्न हो गईं। यथा—

याज्ञिक एवं मीमांसकों का मत है—**प्रकृतावूहो न भवति** (आ० परि० ३।४८) अर्थात् दर्शपूर्णमास आदि प्रकृतियागों में ऊह नहीं होता है। वस्तुतः यह नियम प्रायिक है अर्थात् भूमान्याय के अनुसार है। यतः दर्शपूर्णमास आदि प्रकृति यागों में प्रायः सभी कर्मों के मन्त्र पठित हैं, अतः उनमें प्रायः ऊह की आवश्यकता नहीं पड़ती है। परन्तु यह नियम पूर्ण-रूप से तथ्य पर आश्रित नहीं है। इसके हम दर्शपूर्णमास प्रकरण के ही दो स्थल उद्धृत करते हैं—

दर्शपूर्णमास याग के लिये **व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा यजेत** वचनों से व्रीहि और यव दो द्रव्य विहित हैं। जब व्रीहि का पुरोडाश बनाया जायेगा तब आहुतियोग्य भाग (अङ्गुष्ठ पर्व मात्र द्रव्यवदान=दो भाग) को स्रुच् में स्थापित करने का मन्त्र (तै० ब्रा० ७।५।३ में) इस प्रकार पठित है—

**तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।**

इस मन्त्र में **व्रीहीणां मेध** पद साक्षात् पठित होने से यह मन्त्र व्रीहि निष्पन्न पुरोडाश में तो उपपन्न होता है, परन्तु जब **यवैर्यजेत** पक्ष में यव-निर्मित पुरोडाश होगा तो उसको स्रुच् में स्थापित करने का मन्त्र वेद में पठित नहीं है। याज्ञिक लोग **व्रीहीणां मेध** के स्थान में **यवानां मेध** ऊह करके समन्त्रक स्थापना नहीं करते अपितु अमन्त्रक ही यवीय पुरोडाश भाग को स्रुच् में रखते हैं।

वस्तुतः यह 'ऊह' की भावना के विपरीत है। ऊह इसीलिये किया

---

में इन्हें **शुद्धयाज्ञिक** शब्द से अभिहित किया है। शब्द-भेद होते हुए भी अर्थ समान ही है। मीमांसक वे याज्ञिक हैं, जो न्यायानुमोदित कर्म ही करते हैं, अथवा वैसा करने का कथन करते हैं। स्कन्द स्वामी का कथन इस प्रकार है—

'याज्ञिका अपि·····सा च यागनिर्वृत्तिश्चोदनालक्षणेऽन्यादौ शब्दमात्रे देवतायां सिद्धेति वस्तुसदसद्भावाकारविचारः कर्मणि मन्दोपयोग इति कृत्वा शब्द-व्यतिरिक्तां देवतां न पश्यन्ति न शृण्वन्ति।

शुद्धयाज्ञिकास्तु शब्दव्यतिरिक्तामितिहासपुराणप्रसिद्धां 'तुविग्रीवः' इत्यादिमन्त्र-प्रत्यायितरूपां प्रतिजानते स्तुवते ध्यायति वेति।'

जाता है कि प्रत्येक कर्म समन्त्रक होवे। भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य (१।१ आ० १) में लिखा है।

**ऊहः खल्वपि[1]—न सर्वैलिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः।**

अर्थात्—वेद में प्रत्येक कर्म के योग्य सब लिङ्गों और वचनों से युक्त मन्त्र पठित नहीं हैं। यज्ञकर्म में प्रवृत्त पुरुष को चाहिये कि उन्हें आवश्यकतानुसार विपरिणमित अर्थात् ऊहित कर लेना चाहिये।

मानवश्रौतसूत्र (१।२।६।२२) में तो यवीय पुरोडाश के लिये साक्षात् ऊहित मन्त्र इस प्रकार संकेतित है—**यवानां मेध इति यवानाम्।**

वस्तुतः अमन्त्रक किसी कर्म को करना यज्ञ की समृद्धता को नष्ट करना है।

इसी प्रकार पौर्णमासेष्टि के लिये आग्नेय तथा अग्नीषोमीय पुरोडाशों के हव्य द्रव्य का निर्वाप करने के मन्त्र वेद (१।१।४।२) में साक्षात् पठित हैं—**अग्नये जुष्टं निर्वपामि अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं निर्वपामि।**[2] इसी प्रकार हव्य द्रव्य के प्रोक्षण मन्त्र भी **अग्नये वो जुष्टं प्रोक्षामि, अग्नीषोमाभ्यां [वो जुष्टं प्रोक्षामि]** (ते० सं० १।१।५।१) आग्नेय और अग्नीषोमीय देवता सम्बन्धी ही हैं।

दर्शेष्टि में असान्नाय्ययाजी के लिये ऐन्द्राग्न पुरोडाश विहित है। परन्तु वेद में ऐन्द्राग्न पुरोडाश के हव्य द्रव्य के निर्वाप और प्रोक्षण का कोई मन्त्र साक्षात् पठित नहीं है। अतः याज्ञिक लोगों को ऐन्द्राग्न पुरोडाश के लिये हव्य द्रव्य का निर्वाप और प्रोक्षण अमन्त्रक ही करना चाहिये, परन्तु समन्त्रक निर्वाप करते हैं।[3] यह मन्त्र शाखान्तर का है, ऐसी कल्पना करते हैं[4]। वस्तुतः यह कल्पनामात्र है। **'प्रकृतावूहो न भवति'**

---

१. इस सम्बन्ध में देखें पूर्व पृष्ठ ७०।

२. 'जुष्टं निर्वपामि' आनुषङ्गिक अंश सहित हमने दिया है।

३. इन्द्राग्निभ्याम् इत्यसन्नयतः। बौधा० श्रौत० ४।३४॥ इन्द्राग्निभ्याम् इत्यामावास्यायाम्। आप० श्रौत० १।१८।१॥ कात्या० श्रौत० ३।३।२२ 'यथादेवतमन्यत्' की व्याख्या।

४. 'इन्द्राग्निभ्यामिति तु शाखान्तरमन्त्रपदर्शनार्थम्' इति रुद्रदत्त आप० श्रौत० १।१८।१॥

नियम के कारण उन्हें कल्पना करनी पड़ती है। वस्तुतः यहाँ ऊह मानना युक्त है।

हमें आश्चर्य तो उन मीमांसकमतानुयायी याज्ञिकों पर होता है, जो उक्त प्रसंगों में न्यायानुमोदित ऊह का आश्रय नहीं लेते। कतिपय मीमांसाव्याख्याकार ऐसे भी हैं, जो मीमांसा में विग्रहवती देवता के खण्डन प्रकरण (मी० ९।१ अधि० ४ के अन्तर्गत) का व्याख्यान करके तथाकथित देवता के प्रकोप से बचने के लिये लिखते हैं—**मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यति। तत्र हरिस्मरणमेव शरणम्।**

वस्तुतः मीमांसाशास्त्र के प्रवचन का मुख्य प्रयोजन ही यज्ञ कर्म में साधारण याज्ञिकों ने जो न्यायविपरीत कार्य आरम्भ कर दिये थे, उनका निराकरण करके न्यायानुमोदित कर्म को प्रतिष्ठित करना है। यथा—

**आग्नेयं चतुर्धा करोति** (मी० ३।१।२६ के भाष्य में उद्धृत) वचन आग्नेय पुरोडाश के चार भाग करने का विधान करता है, परन्तु मूढ याज्ञिकों ने अग्नीषोम में अग्नि का निर्देश देखकर अग्नीषोमीय पुरोडाश का चतुर्धाकरण करना आरम्भ कर दिया था। इस न्यायविपरीत कर्म का निराकरण करने के लिये ही मीमांसा (३।१ अ० १५) में **आग्नेय-चतुर्धाकरणाधिकरण** की प्रवृत्ति हुई है। **वेदाश्चो वैदिका शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणम्** (महाभाष्य १।१ आ० १) मानने हारे शब्दशास्त्र के ज्ञान से विहीन याज्ञिकों ने केवल अग्नि शब्द साम्यता के आधार पर ही अग्नीषोमीय पुरोडाश का चतुर्धाकरण आरम्भ कर दिया। आग्नेय में **समर्थानां प्रथमाद्वा** (अष्टा० ४।१।८२) **'अग्नेर्ढक्'** (अष्टा० ४।२।३२) से समर्थ अग्नि शब्द से **साऽस्य देवता** अर्थ में ढक् (=एय) प्रत्यय होता है। अग्नीषोम देवता में द्वन्द्व समास होने से अग्नि शब्द सोम की अपेक्षा रखता है अतः **सापेक्षमसमर्थं भवति** नियम से आग्नेय शब्द सापेक्ष अग्नि से सम्बद्ध नहीं होगा। द्र०—मीमांसा का **आग्नेयचतुर्धाकरणाधिकरण** (३।१ अ० १५) का भाष्य तथा अन्य व्याख्या ग्रन्थ।

इस प्रकरण को विस्तार से इसलिये लिखा गया है कि पाठकों का स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रादुर्भाव काल में भारतीय विद्वानों की वेदविषयक क्या मान्यताएँ थी, यह ज्ञात हो जाये। उपर्युक्त लेख का सारांश इस प्रकार है—

१—वेद शब्द से मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् पर्यन्त वाङ्मय

जाना जाता था, किन्हीं आचार्यों के मत में शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्दःशास्त्र एवं ज्योतिष् शास्त्र की भी वेद संज्ञा थी।

२—वेदों की प्रवृत्ति केवल द्रव्यमय यज्ञों की सिद्धि के लिये ही हुई है अर्थात् वेद का प्रयोजन केवल यज्ञों की सम्पूर्ति मात्र है।

३—यज्ञ कर्मों में विनियोग केवल मन्त्रार्थानुसारी न होकर पद पदैकदेश अक्षर वर्ण साम्यता के आधार पर भी होता था। कतिपय याज्ञिक मन्त्रों को अनर्थक भी मानते थे। उनके मत में यज्ञों में मन्त्रों के पाठमात्र से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से मन्त्रार्थ से असम्बद्ध विनियोगों की यज्ञकर्मों में परिकल्पना को मान्यता मिली।

४—याज्ञिकों में भी दो सम्प्रदाय थे। एक शुद्ध (मूढ) याज्ञिक, दूसरे न्यायानुमोदित मीमांसक याज्ञिक।

५—उत्तर काल में न्यायानुमोदित याज्ञिकों ने भी कई विषयों में शुद्ध याज्ञिकों के मत के आगे आत्मसमर्पण कर दिया।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्कन्द स्वामी वेङ्कट माधव उव्वट भट्टभास्कर सायण तथा महीधर प्रभृति जिन विद्वानों के वेदभाष्य सम्प्रति उपलब्ध होते हैं, वे सब याज्ञिक मतानुसारी हैं। कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ इन भाष्यकारों ने ब्राह्मणग्रन्थों में व्याख्यात उत्कृष्ट मन्त्रार्थ का परित्याग करके श्रौतसूत्रानुसार मन्त्रों की अत्यन्त अश्लील एवं बीभत्स व्याख्यायें की हैं।

**स्वा० द० स० की वेदविषयक कतिपय मान्यताएँ**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो वेद का स्वरूप भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के सम्मुख उपस्थापित किया, वह उन्हें कैसे और कहाँ से प्राप्त हुआ, इस पर लिखने से पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदविषयक कुछ मान्यताओं का संक्षेप से निदर्शन करा देना उचित समझते हैं, क्योंकि इन्हीं मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में उनकी प्राप्ति पर विचार करना सरल होगा।

१—वेदसंज्ञा केवल चार मन्त्र-संहिताओं की ही है। ब्राह्मणग्रन्थों की सार्वजनिक वेदसंज्ञा नहीं है। जिन ग्रन्थों में ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा कही है, वह पाणिनीय वृद्धि गुण प्रभृति संज्ञाओं के समान पारिभाषिक होने से तत्तद् ग्रन्थों तक ही सीमित है।

२—वेद नित्य अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान है।

३—सृष्टि में ईश्वर ने जैसे अनेक पदार्थ उत्पन्न किये, उसी प्रकार

सर्ग के आरम्भ में उन पदार्थों का ज्ञान भी अग्नि आदि ऋषियों के अन्तः-करण में प्रतिभासित किया।

४—मनुष्य में स्वाभाविक ज्ञान होने पर भी वह विना नैमित्तिक ज्ञान के ज्ञान की उन्नति नहीं कर सकता।

५—जैसे ईश्वर द्वारा निर्मित सम्पूर्ण पदार्थ मानवमात्र के लिये हैं, उसी प्रकार उसके द्वारा प्रदत्त वेदरूपी ज्ञान भी मानवमात्र के लिये है। उस पर किसी जाति वा वर्ग विशेष का न तो विशेष अधिकार है और न किसी को उससे वञ्चित रखा जा सकता है।

६—वेद में किसी जाति वा देश का कोई इतिहास नहीं है। वेद के समस्त शब्द यौगिक अथवा यौगरूढ हैं, रूढ नहीं हैं।

७—वेद स्वतः प्रमाण है। अन्य शाखाएँ ब्राह्मण आदि समस्त वाङ्मय परतः प्रमाण है। अर्थात् वेद के विरुद्ध होने पर उनका प्रामाण्य मान्य नहीं है।

८—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है अर्थात् उनमें सभी विद्याओं का मूलरूप से संकलन है। ['सब सत्य विद्याओं' से तात्पर्य मनुष्य को जिन-जिन विद्याओं की अपेक्षा हो सकती है, तक सीमित है।]

९—वेद में प्रमुख रूप से आधिदैविक जगत् और अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान है। परन्तु आधिदैविक ज्ञान का भी अध्यात्म-विज्ञान में विलय हो जाता है अर्थात् वेद का चरम लक्ष्य अध्यात्म-विज्ञान है।

१०—वेद की व्याख्या प्रधानरूप से आधिदैविक और आध्यात्मिक ही मानार्ह है। कर्मकाण्डीय याज्ञिक व्याख्या वहीं तक मान्य है, जहाँ तक यज्ञीय कर्म वा तद्गत विनियोग वेदानुकूल है।

११—उपमा आदि अलङ्कारों द्वारा लोकव्यावहारिक व्याख्या भी जनसाधारण के लिये उपयोगी होने से आवश्यक है।

१२—वेद की व्याख्या में ऋषि-मुनि प्रोक्त शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों एवं अन्य वेदाङ्गादि विद्याग्रन्थों का साहाय्य लिया जा सकता है।

१३—वेद की रचना बुद्धिपूर्विका है।[1] अतः उसमें कोई असम्भव सृष्टिक्रम-विरुद्ध तथा सदाचारविपरीत (=अश्लील) वर्णन नहीं है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रादुर्भाव काल में भारतीय विद्वानों की वेदविषक क्या मान्यताएँ थीं और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जन-

---

१. बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। वैशेषिक ६।१।१॥

साधारण और विद्वानों के सम्मुख वेदसम्बन्धी क्या मान्यताएँ उपस्थित कीं, इन दोनों का ऊपर संक्षेप से निर्देश कर दिया है। इनके परिप्रेक्ष्य में ही अगला प्रकरण सुगता से समझा जा सकता है।

## स्वामी दयानन्द सरस्वती को वेदविषयक ज्ञान कैसे हुआ ?

स्वामी दयानन्द सरस्वती के समय वेदविषयक प्रचलित मान्यता के परिप्रेक्ष्य में यह जानना आवश्यक है कि उन्होंने वेदों का जो स्वरूप जनता एवं विद्वानों के समक्ष उपस्थापित किया, उसका परिज्ञान उन्हें कहाँ से और कैसे प्राप्त हुआ ? बाल्यावस्था में उन्होंने घर में केवल शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता कण्ठस्थ की थी। यह बात उन्होंने स्वयं लिखित एवं कथित आत्मवृत्त में कही है। इससे अन्यत्र गृह-परित्याग के पश्चात् भी एक-दो स्थानों पर वेद पढ़ने का संकेत किया है, परन्तु उससे हम किसी विशेष परिणाम पर नहीं पहुंच सकते।

गुरुवर स्वामी विरजानन्द सरस्वती से उन्होंने केवल पाणिनीय व्याकरण शास्त्र का ही अध्ययन किया था। इससे अधिक उनके जीवन-चरितों से कुछ नहीं जाना जाता। श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती की प्रसिद्धि भी केवल वैयाकरण रूप में ही थी। हाँ, उन्हें जीवन के अन्तिम भाग में आर्षग्रन्थों और अनार्ष ग्रन्थों के मौलिक भेद का परिज्ञान हो गया था। इसलिये उन्होंने सिद्धान्तकौमुदी शेखर मनोरमा आदि का पठन-पाठन बन्द करके अष्टाध्यायी महाभाष्य का पठन-पाठन आरम्भ कर दिया था। इसी काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती अध्ययन के लिये उनके चरणों में उपस्थित हुए थे और गुरुमुख से महाभाष्यान्त पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन किया था। इसलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती के हृदय में आर्षग्रन्थों के प्रति जो असीम श्रद्धा और मानुषग्रन्थों के प्रति जो प्रतिक्रिया देखने में आती है, उसका उत्स स्वामी विरजानन्द सरस्वती की शिक्षा में ही मूलरूप से निहित है, परन्तु इसके विशदीकरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती का अपना प्रमुख योगदान रहा है। उन्होंने अपने जीवन में सहस्रों ग्रन्थों का अध्ययन मनन और परीक्षण के अनन्तर भ्रमोच्छेदन में लिखा है कि **मैं लगभग तीन सहस्र ग्रन्थों को प्रामाणिक मानता हूं**।

यह सब कुछ होने पर भी स्वामी दयानन्द सरस्वती को वेद के उस

स्वरूप का परिज्ञान कहाँ से हुआ, जिसे वे ताल ठोककर सबके सम्मुख उपस्थापित करते थे, यह जिज्ञासा का विषय बना ही रहता है।

मैं इस गुत्थी को सुलझाने के लिये वर्षों से प्रयत्नशील रहा हूं, क्योंकि मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती की देश जाति और समाज को उक्त वेद-विषयक देन सर्वोपरि है और इसी में निहित है उनके वेदोद्धार के कार्य की महत्ता एवं विलक्षणता।

मैं अपने अल्पज्ञान एवं अल्प स्वाध्याय से इस विषय में इतना तो अवश्य समझ पाया हूं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जब विशाल संस्कृत वाङ्मय का आलोडन किया, तब उन्हें यह तत्त्व तो अवश्य ज्ञात हो गया होगा कि संस्कृत वाङ्मय के विविध विद्याओं के आकर ग्रन्थ स्व-स्वविद्या का उद्गम वेद से ही वर्णित करते हैं।[1] अतः वेद में उन समस्त विद्याओं का मूलरूप से वर्णन होना ही चाहिये। स्वायम्भुव मनु-प्रोक्त आद्य समाजशास्त्ररूप मनुस्मृति में समस्त मानव समाज के वेदोदित कर्तव्याकर्तव्य का विधान किया है और भूतभव्य तथा वर्तमान में उत्पन्न हुई या उत्पन्न होनेवाली समस्त समस्याओं का समाधान वेद ही कर सकता है[2], ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे सम्पूर्ण मनुष्यव्यवहारोपयोगी कार्यों की समस्त समस्याओं का समाधान वेद कर सकता है, का बोध भी हो गया होगा, परन्तु शब्दप्रमाण से विज्ञात वेद का स्वरूप वैसा ही है या नहीं, इसके निश्चय के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा भी रहती ही है। इसका कारण यह है कि शास्त्रकारों का लेख वेद के प्रति अतिशय श्रद्धा के कारण अथवा स्वप्रतिपाद्य विषय की प्रामाणिकता दर्शाने के लिये भी हो सकता है।

अतः मेरी क्षुद्र बुद्धि में स्वामी दयानन्द सरस्वती को वेद का जो स्वरूप ज्ञात हुआ, उसका स्रोत कहीं **बाहर नहीं**, अपितु **तत्स्थ** (=**उनके भीतर**) ही होना चाहिये। क्योंकि ऊपर जिन शास्त्रों के आधार पर वेद के विशिष्ट स्वरूप की कल्पना की जा सकती है, वे शास्त्र तो शङ्कराचार्य और भट्टकुमारिल के समय न केवल विद्यमान थे अपितु वर्तमान

---

१. द्र०—वैदिकसिद्धान्तमीमांसा में छपा 'वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' संस्क० २ पृष्ठ १-१० (संस्कृत), पृष्ठ ३३-३७ (हिन्दी)।

२. भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। मनु० १२।९७ तथा इसी अध्याय के श्लोक ९४, ९९, १००॥

काल की अपेक्षा अधिक पढ़े-पढ़ाये जाते थे। स्वामी शङ्कराचार्य प्रस्थान-त्रयी (वेदान्त-उपनिषद्-गीता) तक ही सीमित रह गये, उन्होंने वेद के सम्बन्ध में न कुछ लिखा और न कहीं विचार ही प्रस्तुत किया। भट्ट-कुमारिल वैदिक कर्मकाण्ड में ही यावज्जीवन उलझे रहे।

मैं इस विषय में जो समझ पाया हूं, वह इस प्रकार है—

१. वेद के स्व शब्दों में **उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा** (ऋ० १०।७१।५)=कोई एक ऐसा वेदविद्या का अधिकारी पुरुष होता है, जिसके सम्मुख वेदवाक् स्वयं अपने स्वरूप को उसी प्रकार प्रकट कर देती है जैसे ऋतुकाल में पति की कामना करती हुई अच्छे वस्त्र पहने हुई पत्नी स्वपति के सम्मुख गोपनीयतम अङ्गों को भी उद्घाटित कर देती है।

२—जिस अधिकारी पुरुष के प्रति वेदवाक् स्वयं अपना स्वरूप उद्घाटित करती है, वह कौन हो सकता है? इस विषय में शास्त्रकार कहते हैं—

**न ह्येष प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।**

अर्थात् वेद का प्रत्यक्ष उन्हीं को होता है, जो ऋषि और तपस्वी होते हैं।

३—ऐसे ऋषिभूत एवं तपस्वी को वेद की प्राप्ति के लिये इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। वेदवाक् स्वयं उस हृदय में उपस्थित होकर अपने रहस्यों को उद्घाटित कर देती है—

**अजान्ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन्-तृषीणामृषित्वम्।** —तैत्तिरीय आरण्यक २।९

**तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ऋषीन् ब्रह्म स्वयमभ्यानर्षत्।**
**[त ऋषयोऽभवन्] तद् ऋषीणामृषित्वम्।**[1] —निरुक्त २।११

इसका भाव यह है कि जो ऋषिभूत व्यक्ति यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के

---

१. स्वामी दयानन्द को सर्वविध विपरीत परिस्थितियों में वेद के यथार्थ स्वरूप का बोध कैसे हुआ? इस विषय में मेरे मन में वर्षों से शंका बनी हुई थी। गतमास (८-१७ अगस्त १९९०) नर्मदातीरस्थ अपनी बाल-लीला स्थली माहिष्मती (महेश्वर) की यात्रा के प्रसङ्ग में जब मैं आर्यसमाज मल्हारगंज, इन्दौर में ठहरा हुआ था, तब अचानक ११ अगस्त की रात्रि में यह ब्राह्मणवचन स्मृति पटल पर उभरा और मेरी वर्षों की शङ्का का समाधान हो गया।

लिये तपस्या करते हैं, उन्हें ब्रह्म (=वेद) स्वयं प्राप्त होता है। यही ऋषियों का ऋषित्व है।

निरुक्त के उक्त वचन की व्याख्या में दुर्गाचार्य लिखता है—

**यद्यस्मादेनांस्तपस्यमानांस्तप्यमानान्ब्रह्म ऋग्यजुःसामाख्यं स्वयम्भु अकृतकमभ्यागच्छत्[1]। अनधीतमेव तत्त्वतो ददृशुस्तपो विशेषेण।**

**यद्वाऽदर्शयदात्मानमित्यर्थोऽत्र विवक्षितः।**

—निरुक्त श्लोकवार्तिक २।३।५९ पृष्ठ ३१४

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता (१७।१४-१६) में कायिक वाचिक एवं मानसिक त्रिविध तपों का वर्णन किया है। ये त्रिविध तप निश्चय ही मानव जीवन को उन्नत बनाने हारे हैं परन्तु वेदज्ञान की प्राप्ति के साक्षात् प्रयोजक नहीं हैं।

निश्चय ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गृह-त्याग के पश्चात् योग की प्राप्ति एवं सच्चे शिव के दर्शन के लिये कठोर कायिक वाचिक एवं मानसिक तपों से अपने शरीर वचन और मन को कुन्दन बना लिया था, द्वन्द्वातीत अवस्था को प्राप्त कर लिया था, परन्तु सद्गुरु अथवा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये वे वर्षों बीहड़ वनों, हिमाच्छादित पर्वतों, उनकी कन्दराओं तथा गङ्गा एवं नर्मदा[2] के तटों पर वर्षों भ्रमण करते रहे। नर्मदा के तट पर ही उन्हें स्वामी विरजानन्द जैसे सद्गुरु का परिचय प्राप्त हुआ। वहाँ से उन्होंने मथुरा आकर स्वामी विरजानन्द सरस्वती से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन किया, आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों की भेदक कुञ्जी प्राप्त की, परन्तु हम उन्हें सं० १९२४ के हरिद्वार के कुम्भ के पश्चात् पुनः सर्वविध परिग्रह से रहित केवल लंगोटी वस्त्रधारी के रूप में गङ्गा तट पर विचरते एवं तपस्या करते हुए देखते हैं। यह विचरण निर्धूत अवस्था में लगभग ८ वर्ष रहा।

इसी निर्धूत अवस्था में विचरण करते हुए, उन्हें विविध शास्त्रों का अवलोकन एवं स्वाध्याय करता हुआ भी पाते हैं। स्वामी दयानन्द

---

१. वेंकटेश्वर प्रेस में छपे निरुक्त में शिवदत्त दाधिमथ ने लिखा है—"आविर्भूतमित्यर्थः"।

२. भारतीय परम्परा में प्रसिद्धि है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिये गङ्गा की और मोक्ष की प्राप्ति के लिये नर्मदा की परिक्रमा करनी चाहिये।

सरस्वती में यह स्वाध्याय की प्रवृत्ति हमें उनके जीवन के अन्त तक देखने को मिलती है। यद्यपि जीवन-चरितों में इस विषय में विशेष उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु यत्र-तत्र स्फुट प्रसङ्ग जीवन-चरितों में अवश्य उपलब्ध होते हैं। यथा—

**बनेड़ा यात्रा (२ अक्टू० से २६ अक्टू० १८८१) में राजकीय पुस्तकालय से निघण्टु के पाठ मिलाने अथर्व के मन्त्रों पर स्वर लगाने आदि का वर्णन मिलता है।** द्र०—पं० लेखरामजी कृत ऋ० द० स० जीवन-चरित, हिन्दी पृष्ठ ५९१ (प्रथम संस्करण)।

हमारी दृष्टि में **'स्वाध्याय'** ही एक ऐसा तप है, जो वेद के ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में साक्षात् संबद्ध हो सकता है। वैदिक वाङ्मय में 'स्वाध्याय' शब्द वेद के अध्ययन का वाचक है, ऐसा सभी विद्वान् मानते हैं। प्रतिपक्ष[1] में 'प्रवचन' शब्द का प्रयोग होने से स्वाध्याय का अर्थ है—स्वयं वेद का अध्ययन।

ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ में **अथातः स्वाध्यायप्रशंसा** के प्रकरण में स्वाध्याय को परम तप कहा है। उन्होंने लिखा है—

**यदि ह वाऽभ्यलङ्कृतः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते आ हैव नखाग्रेभ्यस्तपस्तप्यते य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते।**

—शत० ११।५।१।४॥

अर्थात् जो व्यक्ति चन्दन माला आदि से अलङ्कृत होकर गुदगुदे बिस्तर पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है, वह पैर के नख के अग्र-भाग तक तप करता है।

इससे स्पष्ट है कि समस्त सांसारिक विषयों से वृत्तियों को रोककर अपने को वेदाध्ययन में ही प्रवृत्त रखना सबसे महान् एवं क्लिष्टतम तप है।

तैत्तिरीय आरण्यक ७।९ में ऋत, सत्य, तप, शम, दम आदि सभी के साथ 'स्वाध्याय और प्रवचन' का निर्देश होने से जहाँ ऋत सत्य आदि धर्मों के पालन की अपेक्षा स्वाध्याय-प्रवचन की महत्ता जानी जाती है, वहाँ इसकी अवश्यकर्तव्यता का निर्देश भी किया है। इस प्रकरण के अन्त में नाक मौद्गल्य के मत का निर्देश इस प्रकार किया है—

---

१. स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। तै० आर० ७।११।१॥
'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च' (तै० आर० ९।७ आदि वचनों में)।

**स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपः तद्धि तपः।**

अर्थात् मुद्गल पुत्र 'नाक' महर्षि का मत है कि स्वाध्याय और प्रवचन ही तप है। वही तप है, वही तप है।

'स्वाध्याय' की सिद्धि होने पर ही वेदवाक् स्वयं अपने रूप को प्रकट करती है। पातञ्जल योगशास्त्र में स्वाध्याय की सिद्धि होने का फल इस प्रकार दर्शाया है—

**स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।**

स्वाध्याय से इष्ट देवता=विषय के साथ स्वाध्याय करनेवाले व्यक्ति का सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे परम वैराग्यसम्पन्न द्वन्द्वातीत तपस्वी का प्रथम लक्ष्य तो वेद का वास्तविक स्वरूप जानना ही था। वह उन्हें स्वाध्यायरूप परम तप से प्राप्त हुआ। यह मानना ही उचित प्रतीत होता है। जब मुझे इस तथ्य का आभास हुआ, स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रति मेरी आस्था अत्यधिक बढ़ गई।

## वेदोद्धार कार्य में प्रवृत्त होना

जब स्वामी दयानन्द सरस्वती को वेद के वास्तविक स्वरूप का बोध हो गया, तो वे अपने परम लक्ष्यभूत वेदोद्धार कार्य में प्रवृत्त हुए। इस कार्य में प्रवृत्ति वि० सं० १९३० अथवा ३१ में हुई, परन्तु विशेष प्रवृत्ति वि० सं० १९३३ से हुई, ऐसा उनके जीवनचरितों से जाना जाता है।

## पुराकाल में वेदों का लोप और उद्धार

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा किये गये, वेदोद्धार कार्य की विशेषता और महत्ता को यथावत् समझने के लिये इतिहास का आश्रय लेना परम आवश्यक है। इसके बिना स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदोद्धार कार्य का सही मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता है। अतः हम भूतकाल में हुए वेदों का लोप और उनके उद्धार के लिये किये गये प्रयत्नों का (जिनका हमें ज्ञान है) संक्षेप से वर्णन करते हैं—

**प्राचीनकाल में वेदों का विलोप और उनका उद्धार**—भारतवर्ष का इतिहास अति पुराना है। वर्तमान मानव सृष्टि के आरम्भ में विगत द्वापर युग के अन्त तक कितनी बार वेदों का लोप हुआ और किस महामानव ने कब-कब वेदों का पुनरुद्धार किया, यह सब काल की गहरी

परतों में दबा हुआ है। रामायण महाभारत में **नष्टा वेदश्रुतिमिव** उपमा बहुधा संकीर्तित उपलब्ध होती है। इससे वेदश्रुति के विनाश और पुनरुद्धार की सूचना मिलती है। पुराणों में भी वेदों के विनाश और उनके पुनरुद्धार का वर्णन मिलता है।

वायु आदि प्राचीन पुराणों में २८ व्यासों का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख मिलता है। व्यास उपाधि से वे महर्षिगण विभूषित होते हैं, जिन्होंने अपने समय में वेदों का विस्तार किया हो। महाभारत में भगवान् कृष्ण द्वैपायन के लिये लिखा है—**विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः** (आदि० ६३।८९)। इन प्राचीन वेदव्यासों ने किस अवस्था में वेदों का विस्तार किया, यह अज्ञात है। वेदों के विलुप्त होने, वेदप्रचार के संकुचित होने की अवस्था में उनका पुनः विस्तार हो सकता है।

एक सम्भावना यह भी है कि वैदिक ज्ञान-विज्ञान को पुष्पित एवं पल्लवित करने के लिये उनकी शाखा-प्रशाखाओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन किया गया हो। इस सम्भावना का कारण यह है कि २८ व्यासों में से कतिपय व्यासों के व्यक्तिगत नामों से संबद्ध शाखाओं के कुछ विशेष नियम उपलब्ध प्रातिशाख्यों में संगृहीत हैं। अन्तिम २८वें व्यास[1] कृष्ण द्वैपायन ने और उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने वैदिक वाङ्मय को अत्यन्त समृद्ध किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में वेद की जिन ११२७ शाखाओं का उल्लेख किया है अथवा चार वेदों की संहिताओं का साथ में परिगणन करके महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ऋग्वेद के २१ यजुर्वेद के १०१ (कृष्ण की ८६+शुक्ल की १५), सामवेद के १००० और अथर्ववेद के ९ (=११३१) प्रकार गिनाए हैं, उनका प्रवचन वेदव्यास कृष्णद्वैपायन और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा भारतयुद्ध से १००० वर्ष पूर्व से युद्ध के २०० वर्ष पश्चात् के अर्थात् ३०० वर्षों में किया गया है। इसी काल में ब्राह्मणग्रन्थों आरण्यकों एवं कल्पसूत्रों (श्रौत गृह्य धर्म) तथा अन्य शास्त्रों का प्रवचन भी हुआ। अतः हमें सम्प्रति बचा खुचा जो वैदिक वाङ्मय मिलता है, वह लगभग भारत युद्ध के आस-पास का है। इससे प्राचीन कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।[2]

---

१. अन्तिम अर्थात् काल की दृष्टि से कनिष्ठ होने से कृष्णद्वैपायन को **'व्यासक'** नाम दिया गया है। अतः इनके पुत्र शुक को **वैयासकि** कहा जाता है।

२. सम्प्रति उपलभ्ययान ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक निस्सन्देह मूलतः

भारतीय इतिहास के अनुसार आदि मानव पूर्णतया सत्त्वगुणसम्पन्न थे। इसी दृष्टि से महाभारत में कहा है—**सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्**। कालान्तर में शनैः-शनैः रजोगुण एवं तमोगुण की प्रवृत्ति आरम्भ हुई और जैसे-जैसे काल व्यतीत होता गया, मनुष्यों में रजोगुण और तमोगुण की प्रवृत्ति बढ़ती गई। उसी अनुपात से मानवों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुष्प्रवृत्तियाँ भी बढ़ती गईं। आचार-विचार व्यवहार आदि में भी परिवर्तन हुए। मद्य मांस एवं अन्य अखाद्य और असेवनीय पदार्थों की ओर मानव प्रवृत्त हुए। भारत युद्ध से लगभग १००० वर्ष पूर्व भारतीय आर्यों में पर्याप्त गिरावट आ गई थी। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण के लिये महाविद्वान्, शूरवीर, पराक्रमी, भीष्म पितामह, आचार्य द्रोण और कृप के चरित्रों पर दृष्टिपात करना पर्याप्त होगा। राज्याश्रय में रहने से सर्वविध सुखोपभोग से इनकी मानसिक दासता इतनी बढ़ गई थी कि कौरव-सभा में कौरवकुल की श्रीभूता द्रौपदी को निर्वस्त्र करने के प्रयत्न के विरोध में एक शब्द भी इनके मूँह से नहीं निकला। इसी के फलस्वरूप भारतयुद्ध जैसा भीषणतम महासंग्राम हुआ, जिसमें देश के लक्षों शूरवीर पराक्रमी एवं विद्वानों का संहार हुआ।

मानव समाज में शनैः-शनैः सर्वविध गिरावट आ जाने पर भी ऋषि-मुनि यथा-सम्भव वेदविहित कर्मों में ही संलग्न रहे। दूसरे शब्दों में वेदों के ज्ञान-विज्ञान एवं आचार-विचार का संरक्षण करते रहे। इसी कारण भारतीय इतिहास में ऋषि-मुनियों की स्थिति एक स्वर से सर्वोपरि मानी गई है। सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत ब्रह्मा से लेकर भारतयुद्ध-कालीन जैमिनि पर्यन्त ऋषि परम्परा प्रायः अक्षुण्ण रही है। भारतयुद्ध-काल से कुछ पूर्व ही ऋषियों का उत्क्रमण (=स्वर्गमन) आरम्भ हो चुका था। यास्क मुनि ने निरुक्त में लिखा है—**ऋषिषूत्क्रामत्सु मनुष्या देवान् अब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूढम्** निरु० १३।१२॥

**ब्राह्मणों में यथेच्छाचार की प्रवृत्ति**—ऋषियों के उत्क्रमण से बहुत पूर्व से ही मानवों में आचार-विचार और व्यवहार में बहुविध गिरावट आ गई थी, यह पूर्व कह चुके हैं। इससे चारों वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मण भी पूर्णतया सुरक्षित नहीं रहे। वे भी काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों

---

इस काल से प्राचीन है, परन्तु जिस रूप में मिलता है, वह शौनक द्वारा पुनः प्रोक्त वा संस्कृत है।

से अभिभूत होकर राजाओं एवं धनाढ्यों के इच्छानुकूल व्यवहार करने लगे। **लोभश्चेदगुणेन किम्** सूक्ति के अनुसार धनापहरण की विविध युक्तियाँ सोचने लगे। ऋषियों की विद्यमानता में ब्राह्मणों पर उनका कुछ अङ्कुश रहता था, परन्तु ऋषियों के उत्क्रमण के पश्चात् वे पूर्णतया निरङ्कुश हो गये। अपने वर्ण की श्रेष्ठता के कारण उन्होंने वह सब कुछ किया, जिससे सब पर उनका प्रभुत्व बना रहे। **सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किञ्चिद् जगतीगतम्। ब्राह्मणो न हन्तव्यः। दुष्कर्मसु प्रवृत्तोऽपि ब्राह्मणो ह्यदण्डयः स्मृतः** आदि स्वार्थसाधक नियमों के श्रुति स्मृति के नाम से विधान बना लिये। इससे ब्राह्मणों में भी कदाचार बढ़ने लगा। यज्ञों में तथा अतिथि आदि के आगमन पर पशुहिंसा तथा 'अघ्न्या' गौ की हिंसा के विधान, मृतकश्राद्ध, मूर्तिपूजा आदि कर्म वेद के नाम पर प्रचलित किये गये।

**वेदविरोधी मतों का प्रादुर्भाव**—ब्राह्मणों के द्वारा वेद के नाम पर प्रसारित विभिन्न अधर्ममूलक प्रवृत्तियों से जनसाधारण में प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। उसी के फलस्वरूप वेदविरोधी चारवाक बौद्ध एवं जैन मतों का लगभग समानकाल में ही प्रादुर्भाव हुआ। चारवाकमत वालों ने ईश्वर और वेद के परित्याग के साथ-साथ जीव की सत्ता से भी मुँह मोड़ लिया। इसके मत का निदर्शन निम्न एक श्लोक से ही हो जाता है। वे कहते हैं—

**यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।**
**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?**

अर्थात् मनुष्य जब तक जीये सुखपूर्वक जीये। सुख से जीने के लिये ऋणादि से किसी प्रकार द्रव्य प्राप्त करके सुखों का यथेच्छ उपभोग करे। भस्म हुए देह का कर्मफल भोगने के लिये पुनरागमन होगा ही नहीं।

बौद्ध एवं जैन मत के प्रवर्तक राजकुमार थे। उन्हें सर्वविध सुखों की सुविधा प्राप्त थी। परन्तु ये दोनों ही बाल्यकाल से अत्यन्त दयार्द्र चित्त एवं वैराग्य वृत्ति वाले थे। ये दूसरों के दुःख चाहे वह मानव का हो चाहे पशु-पक्षी का, नहीं देख सकते थे। अतः इनके माता-पिताओं ने गृहस्थ बन्धन में बांध कर इन्हें घर छोड़ने से रोकना चाहा, परन्तु ये विवाह के कुछ वर्ष पीछे आत्मबोध की प्राप्ति के लिये वन में जाकर तपस्या में

लीन हो गये। कुछ काल पश्चात् बोध प्राप्त होने पर इन्होंने ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ में मूक पशुओं की हिंसा एवं मांसाहार के लिये पशु-पक्षियों की हिंसा को देखकर दया से आर्द्र चित्त होकर जनता में धर्मोपदेश करना आरम्भ किया। इन दोनों का मूल सिद्धान्त था **अहिंसा परमो धर्मः**। इसके साथ ही ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर इन्होंने बल दिया।

ब्राह्मणों द्वारा वेद के नाम पर यज्ञों में की जानेवाली पशुहिंसा, जन्मना वर्णव्यवस्था या ऊँच-नीच विचार, मृतकश्राद्ध, स्त्री और शूद्रों के साथ किये जानेवाले अत्याचार आदि परम्पराओं को दृष्टि में रखकर चारवाक बौद्ध एवं जैन मतानुयायियों ने वैदिक वाङ्मय पर भीषण प्रहार किये और वैदिक परम्परा को नष्ट करने का प्रबल प्रयत्न किया। साधारण जनता ब्राह्मणों के कदाचारों एवं मनमानी व्यवस्थाओं से तङ्ग आ चुकी थी। अतः वह महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी के सीधे-सादे उपदेशों से प्रभावित होकर बौद्ध एवं जैन मत में दीक्षित होने लगी। वेदों एवं अन्य वैदिक वाङ्मय का जैसे-तैसे जो अध्ययनाध्यापन चल रहा था, उसका भी उच्छेद होने लगा। ऐसी अवस्था में लगभग २३-२४ सौ वर्ष पूर्व स्वामी शङ्कराचार्य एवं भट्टकुमारिल ने पुनः वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। दूसरे शब्दों में इसको वेदोद्धार का प्रयत्न भी कह सकते हैं।

**स्वामी शङ्कराचार्य द्वारा वेदोद्धार**—स्वामी शङ्कराचार्य अत्यन्त मेधावी एवं वेदादि शास्त्रों में निष्णात थे। इनकी तर्कशक्ति अत्यन्त प्रबल थी। इन्होंने १६ वर्ष के अल्प वयः में ही संन्यास ग्रहण करके वेद-विरोधी चारवाक बौद्ध एवं जैन मत का प्रबल खण्डन करना आरम्भ कर दिया था। वेदविरोधी मतानुयायियों से बड़े-बड़े शास्त्रार्थ किये। ये शङ्कराचार्य के प्रबल तर्क के आगे स्वमतों की श्रेष्ठता प्रख्यापित नहीं कर पाये। शनैः-शनैः इन मतों के अनुयायियों का वर्चस्व मन्द पड़ने लगा।

स्वामी शङ्कराचार्य के काल तक वैदिक शाखाओं, एवं ब्राह्मणों एवं आरण्यकों (उपनिषदों) की भी वेद संज्ञा प्रसिद्ध हो गई थी। यतः स्वामी शङ्कराचार्य योगी एवं अध्यात्मज्ञान-प्रवण थे, अतः इन्होंने अध्यात्मज्ञान प्रधान उपनिषदों पर अपने अद्वैत मत को प्रतिष्ठित किया। इस मत के दो प्रमुख स्तम्भ हैं—ब्रह्म की सत्यता एवं जगत् का मिथ्यात्व। ब्रह्म की अद्वैतता अर्थात् ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई तत्त्व नहीं है। इन्होंने अद्वैत का

लक्षण **स्वगतपरगतभेदशून्यः** अथवा **सजातीयविजातीयभेदशून्यः**[1] स्थापित किया। दोनों का भाव है—स्वगत अथवा सजातीय, तथा परगत वा विजातीय भेद से शून्य है। जीव ब्रह्म से अतिरिक्त तत्व नहीं है। माया उपाधि से ग्रस्त ब्रह्म ही जीव कहाता है। अध्यात्मानुभूति होने पर जब माया नष्ट हो जाती है, तो वह शुद्ध ब्रह्म बन जाता है। जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये **आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा** हेतु का सहारा लिया। यतः जगत् उत्पत्ति से पूर्व नहीं था और प्रलय के पश्चात् भी नहीं रहेगा अतः वह वर्तमान में भी स्वरूप से नहीं है। जैसे

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में अद्वैत का वही तात्पर्य लिखा है, जो स्वामी शङ्कराचार्य ने स्वीकार किया था। यथा—**सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं ब्रह्म**। पृष्ठ ४४, शताब्दी सं० २०३२।

इसकी व्याख्या जो आर्यभाषा में की है, उसमें जीव की सत्ता तो स्वीकार की है परन्तु **सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यः** की व्याख्या मेरी समझ में नहीं आई। पं० लेखरामजी द्वारा लिखित स्वा० द० स० के जीवन चरित में 'डुमरांव' की दूसरी यात्रा (२६ जु० से ८ अगस्त सन् १८७३) के प्रकरण में द्वैत-अद्वैत विषयक बातचीत के प्रसङ्ग में लिखा है—'अद्वैत का सही अर्थ यही है कि ब्रह्म दूसरा नहीं है। इससे जीव का निषेध नहीं है। (स्वामीजी) **हम द्वैत मानते हैं।..... शङ्कराचार्य मानते हैं कि सजाति-विजातिगत भेद शून्य ब्रह्म है। वह मत मिथ्या है। हम उसको नहीं मानते।** यहाँ केवल दूसरे ब्रह्म का निषेध है न कि जीव का भी।' (द्र०—हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २४१, संस्क० १) यहाँ स्पष्ट रूप से स्वामी शङ्कराचार्य के अद्वैत के लक्षण को मिथ्या कहा है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जीवन-चरित-का उक्त प्रसङ्ग सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के लेखनकाल से भी न्यूनातिन्यून १ वर्ष पुराना है।

हमारे विचार में सत्यार्थप्रकाश में लिपिकर ने या तो अद्वैत का उक्त लक्षण भ्रान्ति से लिखा है अथवा प्रक्षिप्त किया है। द्वितीय संस्करण में विशेष ध्यान न देने से यह लक्षण पूर्ववत् ही रह गया।

**विशेष**—द्वैत शब्द का अर्थ है भेद। अतः ब्रह्म के अतिरिक्त जीव और प्रकृति की सत्ता माननेवाले **द्वैतवादी** कहे जाते हैं। आर्यसमाज के पण्डितों ने द्वैत शब्द में दो संख्या का तात्पर्य समझकर अपने को त्रैतवादी कहना तथा लिखना प्रारम्भ कर दिया। अब यह इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया है कि आर्यसमाजी दार्शनिक भी त्रैत शब्द पर विचार करने को तैयार नहीं होते।

स्वप्न में मनुष्य किसी वस्तु को देखता है, परन्तु स्वप्न टूटने पर वह वस्तु दिखाई नहीं पड़ती, उसी प्रकार जगत् की वर्तमान में प्रतीति मिथ्या है। इस मत का संक्षेप से प्रतिपादक श्लोकार्ध इस प्रकार है—

**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।**

जगत् को स्वाप्निक दृश्यवत् मिथ्या मानने पर अद्वैतवादियों की जीवनयात्रा भी सम्भव नहीं थी। अतः इन्होंने **जगत् की व्यावहारिक सत्यता स्वीकार की।**

स्वामी शङ्कराचार्य ने वैदिक संहिताओं की इसलिये उपेक्षा की कि उनके काल में वेद का प्रयोजन केवल कर्मकाण्ड तक सीमित माना जाता था और उपनिषदों को ही ज्ञानकाण्ड का ग्रन्थ स्वीकार किया जाता था। उपनिषदों के जिन वचनों में ब्रह्म की अद्वैतता के साथ जीव प्रकृति अथवा जगत् का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है, उनका भी शङ्कराचार्य ने बलात् स्वमतानुसार ब्रह्म का अद्वैततापरक ही व्याख्यान किया है।

**'अहं ब्रह्मास्मि' का मिथ्या भूत**—स्वामी शङ्कराचार्य को **अहं ब्रह्मास्मि** अथवा **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** को वास्तविक रूप में स्वीकार करने पर **'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः** सिद्धान्त के अनुसार समस्त मानव को समान मानकर **आत्मवत् सर्वभूतेषु** मन्तव्य को स्वीकार करना चाहिये था, परन्तु इन्हीं **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** रट लगानेवाले महानुभाव ने वेदान्तदर्शन के **अपशूद्राधिकरण** में 'वेद सुनते हुए शूद्र के कानों में गरम सीसा उडेलने का निर्देश किया है[1] तथा 'छूआ-छूत के भूत' को भी साधारणवत् स्वीकार कर लिया है। इसी से इनके **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** सिद्धान्त के याथार्थ्य का भण्डा फूट जाता है। क्या यह सम्भव नहीं कि स्वामी शङ्कराचार्य के नाम से 'प्रस्थान-त्रयी' की जो व्याख्याएँ मिलती हैं, उत्तरवर्ती किसी पीठाधिष्ठित शङ्कराचार्य ने लिखी हों, अथवा उनके ग्रन्थों में पीछे से फेर-बदल की गई हो? इस आशङ्का का कारण यह है कि सभी अवैदिक मतों और उनके प्रवर्तकों की तीव्र आलोचना करते हुए भी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' में स्वामी शङ्कराचार्य के प्रति विशेष आदर भाव व्यक्त किया है। सम्भव है आशङ्का रूप में उपस्थापित विचार

---

१. 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्।' वेदान्त १।३ अधि० ६, सूत्र ३८।

किंवदन्ती के रूप में स्वामी दयानन्द सरस्वती तक किसी माध्यम से पहुंचे हों।

जगत् को परमार्थरूप में मिथ्या माननेवाले अद्वैतमतानुयायी मठाधीश आज उन सभी दोषों से लिप्त हैं, जो अन्य मतानुयायियों में विद्यमान हैं। मण्डन मिश्र ने शङ्कराचार्य के संन्यास का उपहास करते हुए कहा था—**शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति** ? इसके उत्तर में शङ्कराचार्य ने कहा था—**शिखायज्ञोपवीताभ्यां श्रुतेर्भारो भविष्यति** अर्थात् शिखा और यज्ञोपवीत के धारण करने पर वेदोक्त कर्मकाण्ड का भार होगा। इससे स्पष्ट है कि शङ्कराचार्य संन्यासी के लिये वेदोक्त कर्मकाण्ड वर्जित मानते थे। आज शिखायज्ञोपवीत को भारवत् माननेवाले शङ्कराचार्य के द्वारा स्थापित चारों धामों के मठाधीश शङ्कराचार्य यात्रा में भी १०-१५ सेर मूर्तियों का भार ढोते फिरते हैं।[1]

**भट्टकुमारिल का वेदोद्धार कार्य**—एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि बौद्धमतानुयायियों द्वारा वेदों पर किये गये भीषण प्रहारों के न सह सकनेवाली एक राजकन्या जो वेदमतानुयायिनी थी, अपने महल की छत पर विलाप करते हुए बार-बार **को वेदानुद्धरिष्यति** वाक्य दोहराती थी। दैवयोग से भट्टकुमारिल स्नानार्थ नदी पर जा रहे थे। उन्होंने कन्या के करुणक्रन्दन और उसके द्वारा दुःखी हृदय से निकले **को वेदान् उद्धरिष्यति** शब्दों को सुनकर उच्चैः स्वर से कहा—**मा रुदिहि वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले** (=हे कन्ये रोदन मत कर ! वेद का उद्धार करने के लिये मैं भट्टाचार्य इस पृथिवी पर विद्यमान हूं)।

भट्टकुमारिल ने बौद्धदर्शनों के खण्डन के लिये छद्म रूप से बौद्ध आचार्यों से उनके दर्शनों का अध्ययन किया। बौद्ध जैन और चारवाक प्रभृति वेदविरोधी मतानुयायियों ने यज्ञ में की जा रही पशुहिंसा को लेकर ही प्रधानरूप से आक्षेप किये थे। भट्टकुमारिल ने उनका यत्नपूर्वक निराकरण करके वैदिक कर्मकाण्ड को पुनः प्रतिष्ठित किया। भट्ट-

---

१. पुरी के शङ्कराचार्य श्री निरञ्जनदेवजी तीर्थ, पूर्वाश्रम में मेरे मित्र रहे हैं। इनके 'सोनीपत' (हरयाणा) आगमन पर मैं इनसे मिलने गया था। उस समय वे विविध मूर्तियों के पूजार्चना में व्यस्त थे। पूजा से निवृत्त होने पर मैंने इनसे कहा था कि आप अद्वैतमतानुयायी हैं, तब इन मूर्तियों की पूजा अर्चना में समय क्यों लगाते हैं। उन्होंने संक्षिप्त सा उत्तर दिया—लोकसंग्रहार्थ।

कुमारिल को चाहिये तो यह था कि वैदिक कर्मकाण्ड में जो पशुहिंसा आदि दोष प्रविष्ट हो गये थे, उनका निराकरण करके वैदिक कर्मकाण्ड की महत्ता का प्रतिपादन करते। परन्तु मीमांसा शास्त्र के विविध ग्रन्थों के अवलोकन से यह विदित हुआ कि भट्टकुमारिल से पूर्ववर्ती भर्तृमित्र भवदास और शबर स्वामी आदि ने ऋत्विजों के लोभादि कारणों से कर्मकाण्ड में प्रविष्ट हुई, **औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या** जैसी विधियों का खण्डन किया है। परन्तु भट्टकुमारिल ने बड़े यत्न से तादृश विधियों को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया।[1]

**स्वामी शङ्कराचार्य की अद्वैत मत के प्रतिष्ठापन की पिपासा**—स्वामी शङ्कराचार्य ने केवल वेदविरोधीमतों का ही खण्डन के लिये अद्वैत मत का आश्रय नहीं लिया था, अपितु वे इसके प्रचार के लिये अथवा 'जगद्गुरु' बनने के लिये द्वैतवादी वैदिकों, यहाँ तक कि वेद मत को प्रतिष्ठापित करनेहारे भट्टकुमारिल से भी शास्त्रार्थ करने प्रयाग पहुंचे। उस समय भट्टकुमारिल बौद्ध गुरुओं को धोखा देने के पाप का प्रायश्चित्त चावलों की भूसी की अग्नि में शरीरदाह करके कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में भी स्वामी शङ्कराचार्य ने स्व आगमन का उद्देश्य शास्त्रार्थ बताया। भट्टकुमारिल ने बड़ी शान्तिपूर्वक कहा—स्वामिन्! यदि आप कुछ समय पूर्व आते तो मैं आपकी इच्छा पूर्ति कर सकता था। अब आप मेरे शिष्य मण्डनमिश्र, जो माहिष्मती नगरी (महेश्वर) में रहता है, से शास्त्रार्थ करके अपनी इच्छा पूर्ण करें। स्वामी शङ्कराचार्य ने माहिष्मती जाकर मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ किया और उसे परास्त कर अपना पट्ट शिष्य बनाया।

**महत्त्वपूर्ण तथ्य**—वेद मत के उद्धारक स्वामी शङ्कराचार्य ने अपने अद्वैत मत के प्रतिष्ठापन में केवल उपनिषदों का आश्रय लिया और भट्टकुमारिल यज्ञीय कर्मकाण्ड के प्रतिपादक वैदिक शाखाओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों तक ही सीमित रहे। मूल मन्त्रसंहिताओं का किसी ने स्पर्श भी नहीं किया। ऐसी अवस्था में मन्वादि के वेद के लिये कहे गये **'सर्वज्ञानमयो हि सः'** (मनु० २।७) तथा **'निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनात-**

---

१. द्र०—मी० शाबरभाष्य १।३।४ 'लोभाद् वास आदित्यसमाना औदुम्बरी कृत्स्नां वेष्टितवन्तः केचित्। तत्स्मृतेर्मूलम्।' इसी सूत्र पर भट्टकुमारिल का तन्त्रवार्तिक देखें। इस विषय की मीमांसा के लिये हमारी शाबरभाष्य की 'आर्षमतविमर्शिनी' व्याख्या देखें। भाग १, पृष्ठ २२६, २२७।

**नात्**'(बृ० योगी याज्ञ० स्मृति १२।१) इत्यादि वचन जो वेद को सब सत्य विद्याओं का 'आकर ग्रन्थ' बताते हैं,[1] को ध्यान में रखकर वेदों का वास्तविक रूप में उद्धार कैसे कर सकते थे ?

**अज्ञानरूपी गहरी खाई में पतन**—स्वामी शङ्कराचार्य ने और भट्टकुमारिल ने अपने वेदोद्धार कार्य में **तेभ्य एतं तर्कमृषि प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताव्यूढम्** (निरुक्त १३।१२) मन्त्रार्थ सत्यमार्गदर्शक ऋषिभूत तर्क का आश्रय नहीं लिया। अन्यथा ये दोनों वेदविरुद्ध घिसी-पिटी परम्पराओं का परित्याग करने में समर्थ हो सकते थे। **इस दिव्यास्त्र का प्रयोग तो स्वामी दयानन्द के भाग्य में ही बंधा था**। इन दोनों महानुभावों ने वेदोद्धार के रूप में जो कुछ भी कार्य किया, उससे वेद के नाम पर समय-समय पर कल्पित ग्रन्थों को आँख मूँद कर प्रामाण्य मानने की अन्ध परम्परा चल पड़ी और भारतीय आर्यों का अविद्यान्धकार रूपी ऐसी गहरी खाई में पतन हुआ, जहाँ से निकलकर वापस पर्वत शिखर पर चढ़ना दुष्कर हो गया। उसका फल आज सबके सामने है।

**स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदोद्धार कार्य**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो वेदोद्धार का महत्तम कार्य किया, वह पूर्वकाल के स्वामी शङ्कराचार्य एवं भट्टकुमारिल के कार्य से न केवल सर्वथा भिन्न ही था अपितु अधिक क्लिष्ट था। इसके परिज्ञान के लिये हम दोनों के वेदोद्धार काल की परिस्थितियाँ जो बहुत भिन्न थीं, उनका संक्षेप से उल्लेख करते हैं--

## स्वामी शङ्कराचार्य एवं भट्टकुमारिल के समय की परिस्थितियां—

(१) इन दोनों आचार्यों ने जिन चारवाक, बौद्ध एवं जैन अवैदिक मतों का खण्डन किया वे भारतीय थे। अर्थात् इन मतों के प्रवर्तन से पूर्व प्रवर्तक जन भी वेदानुयायी थे।

(२) उक्त वेदविरोधी मतों के आक्षेप भी न बहुत प्रबल थे और ना ही विविध आयामी थे। उनके प्रमुख आक्षेप यज्ञों में की जा रही पशुहिंसा और जन्मना वर्णव्यवस्था के प्रचलित हो जाने से समाज में जो ऊँच-नीच की भावना उत्पन्न हो गई थी प्रायः उन्हीं को लक्षित करके

---

१. इस विषय के विस्तार के लिये हमारी 'वैदिकसिद्धान्तमीमांसा' भाग १ के अन्तर्गत छपा 'वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' लेख देखना चाहिये।

किये गये थे। तत्कालीन ब्राह्मण यतः इन्हें वेद पर आधृत कहते थे, अतः इन मतों के प्रवर्तकों ने वेद के प्रामाण्य पर भी कुछ आक्षेप किये थे। उनमें एक 'वेद में इतिहास' भी था।

(३) उस समय तक वेदाध्ययन की परिपाटी और प्राचीन वैदिक परम्पराएँ बहुत सीमा तक सुरक्षित थीं।

(४) भारत छोटे-बड़े अनेक राज्यों में बँटा होने पर भी स्वतन्त्र एवं समृद्ध था।

## स्वामी दयानन्द सरस्वती के समय की परिस्थितियां

(१) स्वामी दयानन्द सरस्वती के काल में पूर्वोक्त अवैदिक मतों के अतिरिक्त अनेक भारतीय मतमतान्तर ऐसे उत्पन्न हो गये थे, जो अपने को वैदिक मतानुयायी कहते हुए भी अवतारवाद, विविध देवतावाद, मूर्ति-पूजा, मृतकश्राद्ध आदि बहुविध वेदविरुद्ध पाखण्डरूप कर्मकाण्ड में लिप्त थे। बौद्धमत से पल्लवित वाम मार्ग एवं तान्त्रिक मत का भी प्रचलन था।

(२) विगत लगभग १२ सौ वर्षों में वेदों के जो भाष्य लिखे गये, उनमें याज्ञिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त अनेक विविध अवैदिक मान्यताओं की पुष्टि के साथ इतिहासवाद को भी पर्याप्त प्रश्रय दिया गया था। इनमें सायणाचार्य का वेदभाष्य अधिक प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक समझा जाता था।

(३) उक्त भारतीय मतमतान्तरों एवं अवैदिक मान्यताओं के पोषक वेदभाष्यों के अतिरिक्त मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने वेद को विकृत स्वरूप में उपस्थित करने का भारी प्रयत्न किया था। इसके लिये इन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक गाथावाद, तुलनात्मक देवतावाद को पल्लवित करके विविध प्रकार के वेदों पर आक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। वेदो में इतिहास एवं जड़ पूजा का भी प्रतिपादन ये महान् प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर रहे थे।

(४) भारतीय आर्यों एवं वैदिक वाङ्मय के इतिहास को भी पाश्चात्य विद्वान् अनेक प्रकार से विकृत कर रहे थे।

(५) इस समय तक प्राचीन वेदाध्ययन परिपाटी सर्वथा विलुप्त हो गई थी। वेदों का अध्ययन केवल कण्ठाग्र करने तथा कर्मकाण्ड में

विनियोजित करने तक सीमित रह गया था। भारतीय प्राचीन परम्परायें भी प्रायः दूषित हो चुकी थीं।

(६) ऊँच-नीच का भेद-भाव इतना अधिक प्रचलित था कि भारत के अनेक प्रान्तों में भङ्गी चमार आदि अछूत जातियों को सड़क पर चलते समय अपनी उपस्थिति का बोध कराने के लिये ढोल आदि बजाने पड़ते थे।

(७) स्त्रियों को वेदाध्ययन तो सर्वथा वर्जित था ही, उन्हें सामान्य अध्ययन से भी वञ्चित रखा जाता था। एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था या रखैल रख सकता था। पुरुष के मरने पर 'सती' के नाम पर स्त्रियों को जबरदस्ती चिता में झोंक दिया जाता था। स्त्रियों का न पैतृक सम्पत्ति में भाग माना जाता था और न पति की सम्पत्ति पर ही उन्हें अधिकार प्राप्त था।

(८) स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्व भारत पर लगभग ६०० वर्ष मुसलमानों का आधिपत्य रहा। इस काल में जो छोटे-मोटे भारतीय राज्य थे, वे अपवादरूप कुछ राजाओं को छोड़कर मुसलमानों के प्रभाव में चले गये थे। कुछ एक ने तो अपनी राजपूती शान को छोड़कर बेशरम बनकर अपनी पुत्रियाँ भी मुगल बादशाहों को ब्याह दी थीं। तदनन्तर २०० वर्ष भारत अंग्रेजों का गुलाम रहा। ब्रिटिश शासकों की दया पर बचे-खुचे देशी राज्यों पर भी ब्रिटिश शासकों का नियन्त्रण रहता था। अर्थात् वे स्वतन्त्र नहीं थे।

(९) मुसलमान आक्रान्ताओं की लूट से भारत की समृद्धता को बड़ा धक्का लगा। परन्तु अंग्रेजों ने तो कुछ ही वर्षों में भारत के हस्तशिल्प को, विदेशों तक फैले व्यापार को सर्वथा नष्ट करके इसे भूखमरी के कगार पर खड़ा कर दिया था अर्थात् भारत अत्यन्त गरीब हो चुका था। लाखों लोगों को तो दो समय क्या एक समय भी भरपेट भोजन नहीं मिलता था।

(१०) अंग्रेजों ने भारतीयों को चिरकाल तक दासता की बेड़ी में बद्ध रखने के लिये स्कूल कालेज खोलकर जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया, उसका एकमात्र प्रयोजन पाश्चात्य विचारधारावाले ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करना था, जो तन से तो काले हों और मन से अंग्रेजों के हिमायती। दूसरा प्रयोजन था—अपने शासन चलाने में सहायक क्लर्कों की फौज खड़ी करना। इस शिक्षा नीति का प्रभाव स्वामी दयानन्द सरस्वती

के समय में ही प्रकट हो चुका था। नीलकण्ठ नामक एक संस्कृतज्ञ महाराष्ट्रिय विद्वान् ईसाई बन चुका था। कालेजों से पढ़कर निकले व्यक्ति वा पढ़नेवाले अपना गौरव भूलकर अंग्रेजों की श्रेष्ठता के गुण गाते थे। अंग्रेजों द्वारा सोच समझकर प्रचलित की गई शिक्षानीति का भारतीयों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि कतिपय महापुरुषों के सतत उद्योग एवं बलिदानों से भारत खण्डित रूप में तो स्वतन्त्र हो गया, परन्तु हम आज स्वन्त्रता प्राप्ति के चालीस वर्ष बाद भी अंग्रेजी भाषा एवं अंग्रेजियत के मानसिक गुलाम बने हुए हैं।

इस प्रकार सैंकड़ों भारतीय एवं विदेशी मतों से आप्लावित, राजनैतिक, वैचारिक, सामाजिक एवं आर्थिक उथल-पुथल से देश आक्रान्त एवं पददलित था। उस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देश जाति और समाज को पतन के गहरे गड्ढे में धकेलने वाले समस्त कार्यों एवं विचारधाराओं के विरोध का एकाकी शंखनाद किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गृहत्याग के पश्चात् सं० १९१३ से १९१६ तक विविध स्थानों और प्रान्तों का भ्रमण करते हुए सामान्यरूप से तथा सं० १९२० से १९३० तक कौपीनमात्रधारी निर्लेप निस्संग द्वन्द्वातीत अवस्था में विभिन्न स्थानों, विशेषकर गङ्गा तट पर विचरण करते हुए आबाल-वृद्ध भारतीय जनता की वास्तविक स्थिति का गम्भीरता से निरीक्षण किया और उनके उद्धार के प्रयत्नों पर गम्भीरता से विचार किया।

**उद्धार का एकमात्र मार्ग**—देश, जाति एवं समाज की उन्नति किस प्रकार हो इसके लिये यह आवश्यक था कि पहले अवनति के कारणों पर विचार करते। उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से इस पर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि देश जाति और समाज की जो वर्तमान अधोदशा है, इसका एकमात्र कारण वेदविद्या के प्रचार के अभाव के कारण देश में अविद्यान्धकार बढ़ा और उससे हमारी सर्वविध अवनति हुई। अतः उन्होंने विचार किया कि जब तक देश में वेदविद्या का प्रचार न होगा, अविद्यान्धकार दूर न होगा। उन्होंने यह भी अनुमान किया कि देश में समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले और उस काल में वर्तमान समाज-सुधारकों तथा देश की पराधीनता से मुक्त करनेहारे देशभक्तों के समस्त कार्य इसलिये फलीभूत नहीं हो रहे हैं कि ये लोग रोग के उपद्रवों की चिकित्सा में लगे हुए हैं, जब तक रोग के मूल कारण को नष्ट नहीं किया

जायेगा, तब तक देश की सर्वविध उन्नति नहीं होगी। रोगी वृक्ष के पत्तों की सींचने से वृक्ष नहीं पनप सकता, अपितु उसकी जड़ में पानी और रोगनाशक दवाओं का प्रयोग करने से ही वृक्ष यथोचित रूप से पनप सकता है। अस्तु,

## वेदों के उद्धार के प्रयत्न

हम पूर्व लिख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९२४-१९३० तक गङ्गातट के परिभ्रमण में वेदों का गम्भीररूप से मनन एवं स्वाध्याय किया था और उन्हें इसी काल के मध्य वेदों के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान हुआ था। अतः उन्होंने वेद के वास्तविक स्वरूप को विद्वानों एवं जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित करने के लिये वेदों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करनेहारे भाष्य की रचना करने का संकल्प किया। साथ ही उपदेशों, शास्त्रचर्चाओं एवं वेदविरोधियों से शास्त्रार्थ द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ किया।

**वैचारिक उत्क्रान्ति**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन में प्रथम वैचारिक उत्क्रान्ति सं० १८९५ की शिवरात्रि की रात में शिवलिङ्ग पर भक्तों द्वारा चढ़ाये गये द्रव्यों का चूहों द्वारा भक्षण एवं मूर्ति पर उनकी उछल-कूद को देखकर हुई। दूसरी उत्क्रान्ति छोटी बहन एवं स्नेही चाचा की मृत्यु देखकर हुई और इन्हीं के फलस्वरूप उन्होंने गृह-त्याग किया। गृह-त्याग (सं० १९०३) से लेकर गुरुवर स्वामी विरजानन्द सरस्वती के पास मथुरा पहुंचने (सं० १९१७) तक भी थोड़ी बहुत उत्क्रान्ति होती रही।

वैचारिक उत्क्रान्ति का महत्त्वपूर्ण दौर सं० १९२० से शुरू होता है। इस वैचारिक उत्क्रान्ति के सूत्रधार थे, गुरुवर श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती। उन्होंने वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय के ग्रन्थों के प्रामाण्या-प्रामाण्य-विषयक आर्ष-अनार्ष की कसौटी बनाई। इसका प्रथम प्रभाव हम स्वामी दयानन्द सरस्वती के आगरा-निवासकाल (सं० १९२०-२२) में देखते हैं। भक्तों के आग्रह पर उन्होंने अद्वैत वेदान्त की प्रसिद्ध पुस्तक पञ्चदशी का उपदेश प्रारम्भ किया, परन्तु जिस दिन उसमें ब्रह्म के माया से संयुक्त होने (भ्रम होने) का वर्णन आया तो उन्होंने यह कह-कर पुस्तक बन्द कर दी कि जिस ग्रन्थ में ब्रह्म के भी माया के चक्कर में पड़ने का उल्लेख हो वह अनार्ष एवं अप्रमाण है। दूसरी वैचारिक

उत्क्रान्ति उनके **भागवतखण्डन** (सं० १९२३) ग्रन्थ से होती है, जिसमें भागवत को छोड़कर अन्य पुराणों को प्रामाणिक माना है। कार्तिक सुदी ६ सं १९२६ के काशी के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ से जाना जाता है कि वे उस समय तक शाखाओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों को वेद मानते थे। इस विषय की वैचारिक उत्क्रान्ति सत्यार्थप्रकाश (प्र० सं० लेखनकाल १९३१) में, जो सं० १९३२ में प्रकाशित हुआ, देखते हैं। उसमें पृष्ठ ३२० पर वेद की शाखाओं को सप्रमाण वेद का व्याख्यान स्वीकार किया है।[1] सं० १९३२ में प्रकाशित सभाष्य पञ्चमहायज्ञविधि से ज्ञात होता है कि उस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती संध्या के समय सूर्योपासना-परिक्रमा और अर्घ्यप्रदान करना मानते थे। इस विचार में शीघ्र ही उत्क्रान्ति हो गई। अन्तिम उत्क्रान्ति हम उनके जीवन में सं० १९३५-३६ में देखते हैं, जब उन्होंने फर्रुखाबाद में प्रथम वार २० जून १८८० के व्याख्यान में मुक्ति से अपुनरावृत्ति के स्थान में मुक्ति से पुनरावृत्ति स्वीकार करने की घोषणा की (द्र०-फर्रुखाबाद का इतिहास, पृष्ठ १३४)। इस काल के पश्चात् कोई वैचारिक परिवर्तन नहीं हुआ।

**वेदभाष्य-रचना की पूर्व तैयारी**—प्राचीन समस्त आर्ष-अनार्ष वाङ्मय के विविध विद्याओं के प्रमुख ग्रन्थ स्व-स्व ग्रन्थों का संबन्ध वेद से ही जोड़ते हैं तथा वर्णाश्रम धर्म के आद्य प्रवक्ता स्वायम्भुव मनु ने भी वेद के लिये **सर्वज्ञानमयो हि सः** (२।७) और **सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति** (१२।९७) जैसे उद्गार प्रकट किये हैं। अतः उन्होंने **वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है** ध्यान में रखकर चारों वेदों के एक-एक मन्त्र पर विचार करके भावी वेदभाष्य-योजना के लिये **चतुर्वेद-विषय-सूची**[2] का संकलन किया।

---

१. इससे जो वेद पुस्तक है वेई सब शाखाओं के मूल हैं। और शाखा व्याख्यानों की नाईं ब्रह्मादिक ऋषि-मुनियों के किये हैं। जैसे—**मनोजूतिर्जुषतामाज्यस्य** ऐसा पाठ शुक्ल यजुर्वेद (२।१३) में है और तैत्तिरीय शाखा में **'मनोज्योतिर्जुषता-माज्यस्य'** [१।५।३।२] ऐसा पाठ है। **'जूति'** जो मन का विशेषण था सो **'ज्योतिः'** शब्द से स्पष्टार्थक हो गया। स० प्र० प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२०।

२. स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य का यह आधारभूत संकलन वर्षों तक परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में अज्ञात अवस्था में पड़ा रहा। सं० १९३१ के अन्त में पूज्यगुरुवर ने इस अनुपम ग्रन्थ को ढूंढ निकाला और सन् १९३५ के

**वेदभाष्य के नमूने**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य की रचना से पूर्व दो 'वेदभाष्य के नमूने' छपवाये थे। इनका ब्यौरा इस प्रकार है—

**प्रथम नमूना**—यह वेदभाष्य का नमूना हमें उपलब्ध नहीं हुआ। पं० देवेन्द्रनाथ द्वारा संकलित स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन से विदित होता है कि इसमें ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का दो प्रकार का भौतिक और पारमार्थिक अर्थ दिया गया था। इसकी भूमिका में लिखा था—**मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूँगा**। इसे अनेक विद्वानों के पास आलोचनार्थ भेजा था। [यह वर्णन स्वामी दयानन्द सरस्वती के बम्बई निवास 'कार्तिक कृष्णा १ से मार्गशीर्ष कृष्णा ८ सं० १९३१ तक' रहा था]।

सं० १९३२ में प्रकाशित **वेदान्तिध्वान्तनिवारण** के अन्त में मुद्रित पुस्तकों के विज्ञापन सं० १९३२ में छपे '**श्री आर्यसमाज ना नियमोपनियम, बम्बई**' में मुद्रित विज्ञापन, दोनों में इस वेद भाष्य के नमूने का **मूल्य १ आना** छपा है। इसमें संस्कृत भाष्य के साथ **गुजराती** और **मराठी** अनुवाद भी छपा था। बम्बई में छपने के कारण गुजराती और मराठी अनुवाद देना स्वाभाविक था, उस समय गुजरात और महाराष्ट्र एक सम्मिलित बड़ा प्रान्त था।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह नमूने का अङ्क वि० सं० १९३१ में छपा होगा। इस दृष्टि से यह ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से लगभग एक वा डेढ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था।

**दूसरा नमूना**—वेदभाष्य का दूसरा नमूना २४ पृष्ठात्मक प्रथम अङ्क के रूप में छपा था। इसमें ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का सम्पूर्ण तथा द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के संस्कृत भाष्य का जितना भाग

---

अन्त में अपने कार्य के लिये इसकी प्रतिलिपि प्राप्त की। प्रतिलिपि मैंने की थी। सन् १९६१-६२ में मेरे तथा श्री पं० विश्वश्रवाजी के प्रयत्न से इसे परोपकारिणी सभा ने सन् १९७१ में प्रकाशित किया। किन्तु यह प्रकाशन बहुत त्रुटिपूर्ण था। अतः मैंने सन् १९७२ में मुद्रित ग्रन्थ को पुनः सभा में सुरक्षित हस्तलेख से मिला कर एक शुद्ध प्रति सभा को दी और दूसरी मैंने प्राप्त की। उसके आधार पर सन् १९७५ में प्रकाशित 'दयानन्दीय लघु-ग्रन्थ-संग्रह' के अन्त में प्रकाशित किया।

२४वें पृष्ठ में आ सका वहाँ तक छपा है।[1] इसमें प्रत्येक मन्त्र के दो-दो अर्थ संस्कृत और आर्यभाषा में दर्शाये हैं। इस नमूने के अङ्क पर मुद्रण-काल केवल **संवत् १९३३ वि०** छपा है। इसका भूमिका के **'वेदविषय-विचार-प्रकरण'** में उल्लेख मिलता है। हमारे विचार में यह नमूने का अङ्क भी भूमिका के लेखन से पूर्व लिखा गया था। इस विषय में विशेष विचार **'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास'** ग्रन्थ में पृष्ठ १२४-१२६ (संस्क० २) तक देखें।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस नमूने के अङ्क की कुछ प्रतियाँ वित्तीय सहायतार्थ आर्यसमाज लाहौर द्वारा गवर्नर पंजाब एवं गवर्मेण्ट कालेज लाहौर के प्रिंसिपल के पास भिजवाई थीं। उन्होंने इसके सम्बन्ध में राय जानने के लिये कतिपय विद्वानों को दी थीं। सभी की राय इस वेदभाष्य के विरुद्ध थी। इस विषय के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पूर्णसंख्या ५१, ५२, भाग १, पृष्ठ ९५-१०९ देखें। पं० महेशचन्द्र न्याय रत्न ने आलोचना के रूप में एक पुस्तिका छपवाई थी। उसका समुचित उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **भ्रान्तिनिवारण** नामक पुस्तिका द्वारा प्रकाशित किया था।

**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य के लेखन से पूर्व विरचयिष्यमाण चारों वेदों के भाष्यों की **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** लिखी। इसके आरम्भ में लेखन का काल सं० १९३३, भाद्रशुक्ला १, रविवार (=२० अगस्त १९७६) लिखा है। इसके लेखन की परिसमाप्ति **मार्गशीर्ष (सं० १९३८)** के मध्य तक हो गई थी।[2] इसका मुद्रण सं० १९३३ के अन्त में आरम्भ हुआ था। यह २४ पृष्ठों के अङ्कों के रूप में छपती थी। प्रथम अङ्क पर **चैत्र सं० १९३४** छपा हुआ मिलता है। अन्तिम अङ्क **वैशाख मास सं० १९३५** में छपकर प्रकाशित हुआ था।

**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का वैशिष्ट्य**—स्वामी दयानन्द सरस्वती चारों वेदों का जो भाष्य रचना चाहते थे, उस भाष्य के आधारभूत ३५

---

१. द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का नमूने के २४वें पृष्ठ से बचा हुआ संस्कृत भाग और सम्पूर्ण मन्त्र का भाषा पदार्थ उपलब्ध हो गया है। इसे परोपकारिणी सभा अजमेर ने छपवा दिया है।

२. ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास पृष्ठ १२९ (संस्क० २)।

विषयों का इस भूमिका में निरूपण किया है। इसलिये ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका को अच्छी प्रकार पढ़े बिना स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेद-भाष्य यथावत् समझ में नहीं आ सकता। यह बात स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वयं समझते थे। अतः उन्होंने ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य के दोनों के पाँचवें अङ्क के टाइटल पेज ३-४ पर वेदभाष्यविषयक एक विज्ञापन छपवाया था। उसमें लिखा है—**जो कोई भूमिका के विना केवल वेद ही लिया चाहे सो नहीं मिल सकते, किन्तु भूमिका ५ रुपये देने से पृथक् मिल सकती है।**[1]

**परोपकारिणी सभा के अधिकारियों का प्रमाद**—उक्त विज्ञापन द्वारा विना भूमिका के वेदभाष्य बेचने का निषेध कर देने पर भी आजतक सभा को वेदभाष्य के जो आर्डर प्राप्त होते हैं, उनमें भूमिका साथ में नहीं भेजी जाती है[2]। भूमिका सदा ग्रन्थ का भाग होती है, उसके विना ग्रन्थ अधूरे रहते हैं परन्तु दयानन्द के इन तथाकथित पुजारियों ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को स्वतन्त्र ग्रन्थ समझ रखा है।

**वेदार्थ-प्रक्रिया**—वेद-भाष्य के विषय में लिखने से पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ-प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो लिखा है, उसका विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है, क्योंकि उससे स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य पर जो आक्षेप होते हैं, उनका निराकरण हो जाता है।

**त्रिविधमन्त्रार्थ-प्रक्रिया**[3]—प्राचीनकाल में वेद का त्रिविध-प्रक्रिया-परक अर्थ स्वीकार किया जाता था। वे त्रिविध प्रक्रियाएँ हैं—अधियज्ञ

---

१. द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (संस्क० ३) पूर्ण संख्या २०४, भाग १, पृष्ठ २५६, पं० १०-११।

२. इसी भूल का परिमार्जन करने के लिये 'रा० ब० चौधरी नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल' से प्रकाशित ऋग्वेदभाष्य के प्रथम भाग के आदि में हमने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को जोड़कर छापा है।

३. श्री पं० रामनाथजी ने लिखा है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दो ही प्रक्रियाएं स्वीकारी हैं, पारमार्थिकी और व्यावहारिकी। (द्रष्टव्य—परिशिष्ट ३)।

श्री पण्डित रामनाथजी वेदालंकार ने त्रिविध प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो लिखा है, वह गम्भीरता से विचारणीय है। यह ठीक है कि निरुक्त में साक्षात् किसी मन्त्र का त्रिविध प्रक्रिया में अर्थ नहीं मिलता। वहाँ प्रायः अधिदैवत और अध्यात्म

अधिदैवत और अध्यात्म। वेद की जितनी शाखाएँ तथा ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनमें विशेष करके शतपथब्राह्मण ग्रन्थ में मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ ही मिलता है। यास्कीय निरुक्त में उद्धृत सभी मन्त्रों का अर्थ आधिदैविक किया गया है। इसी निरुक्त में अनेकत्र आधिदैविक अर्थ के साथ आध्यात्मिक अर्थ भी दर्शाया है, १३-१४ अध्यायों में कुछ मन्त्रों का अध्यात्मपरक ही व्याख्यान उपलब्ध होता है (१४वें अध्याय का पाठ बहुत भ्रष्ट है)। उपनिषदों में मन्त्रों का अध्यात्मपरक अर्थ ही उपलब्ध होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में विशेषकर के शतपथ में अनेकत्र याज्ञिक अर्थों के पश्चात् आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ भी **अथाधिदैवम् अथाध्यात्मम्** कहकर दर्शाया है अथवा संकेत किया है।

निरुक्त (१।२०) में **वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्** (ऋ० १०।७१।५) की व्याख्या में लिखा है—**अफलास्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा, किञ्चित् पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।**

---

तथा अधिदैवत और अधियज्ञ दो अर्थों का ही साक्षात् निर्देश है। इससे इतना तो कहा जा सकता है कि निरुक्तकार ने एक ही मन्त्र का त्रिविधप्रक्रियापरक अर्थ नहीं दर्शाया; परन्तु दो-दो अर्थों का जो जोड़े रूप से निर्देश किया है, उससे मन्त्रार्थप्रक्रियाओं की गणना तीन हो जाती है। इसको झुठलाया नहीं जा सकता। हाँ, इतना ही कह सकते हैं कि यास्कादि ने किसी भी मन्त्र का त्रिविधप्रक्रियापरक अर्थ नहीं किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो व्यावहारिक और पारमार्थिक (अध्यात्म) मन्त्रार्थों का निर्देश किया है, उसमें व्यावहारिक का क्षेत्र अति विस्तृत होने से व्यावहारिक और पारमार्थिक के अन्तर्गत त्रिविधप्रक्रियाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। इस दृष्टि से मन्त्रार्थों का त्रैविध्य तो स्वीकार करना ही पड़ता है। प्रश्न केवल इतना रहता है कि क्या प्रत्येक मन्त्र का त्रिविधप्रक्रिया में अर्थ होता है या नहीं? जहाँ तक याज्ञिक अर्थ का सम्बन्ध है, ऋग्वेद के ही सम्पूर्ण मन्त्र याज्ञिकप्रक्रिया में विनियुक्त नहीं हैं। 'आश्विने शस्त्रे पठ्यमाने यदि सूर्यो नोदेति तर्हि सर्वा ऋक् सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि अनुब्रूयात्'—वचन के आधार पर सब मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग स्वीकार नहीं किया जा सकता, यह विधान तो यज्ञीय प्रक्रिया के आरम्भ हो जाने पर बीच में जो कर्मरहित अवकाश कदाचित् उपस्थित हो जाता है, उसमें मन्त्र के अतिरिक्त मानुषी वाक् का प्रयोग न किया जाय, इतने मात्र का विधान करने के लिए है। इससे सब मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग मानना खींचातानी करना है।

मन्त्र में केवल **अफलामपुष्पाम्** दो ही पद हैं। परन्तु यास्क ने इन दो को ही क्रमशः **याज्ञदैवते, देवताध्यात्मे वा** के रूप में याज्ञिक आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थों के साथ जोड़कर वेदार्थ की त्रिविधप्रक्रिया का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतएव निरुक्त के टीकाकार स्कन्द महेश्वर ने स्पष्ट लिखा है—**सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण[1] सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।**

निरुक्त टीका ७।५; भाग ३, पृष्ठ ६६।

**व्यावहारिकी प्रक्रिया**—इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में हम पूर्व पृष्ठ, १६ सन्दर्भ ३ के अन्तर्गत संक्षेप से लिख चुके हैं। विशेष आगे लिखेंगे।

**स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद-भाष्य पर आक्षेप**—स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्व भारतीय वैदिकों की यह धारणा रही है कि **वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः** अर्थात् वेदयज्ञों की यथावत् सम्पन्नता के लिये प्रवृत्त हुए हैं। सायणाचार्य ने तो स्पष्ट कहा है—**तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ, कर्मकाण्डो, ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तदव्यतिरिक्तं शतपथ-ब्राह्मणं संहिता चानयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्**। काण्व सं० भाष्योपक्रमणिका (वेदभाष्यभूमिकासंग्रह, पृष्ठ १०६)।

तात्पर्य यह है कि संहिता=मन्त्रों में कर्मकाण्ड है और उपनिषदों में ब्रह्मकाण्ड।

इस प्रकार की प्रसिद्धि और उपलब्ध सभी भाष्यकारों द्वारा संहिताओं का याज्ञिकप्रक्रियानुसारी अर्थ उपलब्ध होने से भारतीय वैदिकों का मत था कि मन्त्रों का कर्मकाण्ड में विनियोग होने से वेदों का अर्थ याज्ञिक ही होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में याज्ञिक अर्थों को न पाकर उन्हें कपोलकल्पित कहा जाता था। तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती पर यह आक्षेप भी किया जाता था कि वैदिक कर्मकाण्ड को वे नहीं मानते। अतः हम सर्वप्रथम यह स्पष्ट करते हैं कि

---

१. भाष्यकारो यास्कः, निरुक्तस्य अपरनाम्नो निघण्टोर्व्याख्याता। अतः निरुक्तनाम्ना प्रसिद्धो ग्रन्थः प्राचीनैर्व्याख्यातृभिः 'निरुक्तभाष्य' नाम्ना स्मर्यते, प्रत्यध्यायान्ते।

स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक कर्मकाण्ड (=श्रौतयागों एवं गृह्य कर्मों) को यथावत् स्वीकार करते थे, सम्प्रति होने वाली हिंसा को छोड़कर।

## स्वामी दयानन्द सरस्वती और कर्मकाण्ड

यतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मन्त्रों का क्रमशः किसी यज्ञविशेष के प्रकरण के मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ नहीं किया, इससे आर्यसमाजस्थ विद्वानों तथा अन्य वैदिकों में यह भ्रम प्रचुर मात्रा में फैल गया है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रादि में जिस कर्मकाण्ड का उल्लेख मिलता है, उसको स्वीकार नहीं करते। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य इसके सर्वथा विपरीत है। उनकी यज्ञों के सम्बन्ध में क्या दृष्टि रही है, इसके निदर्शनार्थ उनके ग्रन्थों से कतिपय उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जहाँ पर भी यज्ञों का निर्देश किया है, वहाँ सर्वत्र **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त** पदावली का प्रयोग किया है। यथा—आर्योद्देश्यरत्नमाला संख्या ४७।

२. वेदभाष्य के नमूने का अंक (सं० १९३३) में प्रथम सूक्त की व्याख्या के अन्त में लिखा—**वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु वायुवृष्टिजलशुद्धिप्रयोजनेषु यज्ञेषु युक्तिप्रमाणसिद्धानां कर्मणामनुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्ति। परन्तु सूत्रब्राह्मणग्रन्थेषु यादृशो विनियोगः प्रतिपादितः सोऽप्यत्र तदुक्तरीत्या स्वीकार्यः।** ऐसा ही आर्यभाषा में भी लिखा है।

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदविषय-विचार में लिखा है—

**(क) तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः स सर्वः क्रियामयोऽस्ति।**

**(ख) स च अग्निहोत्रादारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु**···पृष्ठ ५६।

**(ग) वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत् करणाद् रेखागणितमपि साध्यते।** पृष्ठ ६९।

**(घ) तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्याऽपि गृह्यते।** पृष्ठ ६९।

इष्टकाओं का परिगणन—जैसे सुपर्णचिति के तीन प्रयोगों में क्रमशः १०००, २००० और ३००० सहस्र इष्टकाओं का प्रयोग होता है। वे इष्टकाएँ भी विविध आकार की होती हैं।

४. संस्कारविधि में गृह्यसूत्रोक्त संस्कारों, पञ्चमहायज्ञों एवं शालाकर्मादि का विस्तार से विधान किया है।

**श्रौतयज्ञसम्बन्धी** अनेक याज्ञिक विधियों का ग्रन्थकार ने संस्कारविधि के 'सामान्य प्रकरण' में उल्लेख किया है। यथा—

(क) **हविर्निर्वाप**—'**ओमग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि** अर्थात् जितनी आहुति देनी हों, प्रत्येक आहुति के लिये चार-चार मुठ्ठी चावल आदि ले के।' पृष्ठ २१ (शताब्दी सं०)।

(ख) प्रोक्षण—'**ओम् अग्नये त्वां जुष्टं प्रोक्षामि** अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके।' (पृष्ठ २१)।

(ग) **यज्ञपात्र**—पृष्ठ २१-२७ पर्यन्त संस्कृत में पात्रों के लक्षण और उनके चित्र दिये हैं। ये पात्र श्रौत दर्शपूर्णमास में प्रयुक्त होते हैं।

(घ) **अग्न्याधेय की दक्षिणा का** संस्कृत में विधान किया है—**चतुर्विंशतिपक्षे**·····। अग्न्याधेयस्थ आदित्येष्टि का उल्लेख **आदित्येष्टौ धेनुः** किया है।

यह अग्न्याधेय की दक्षिणा और आदित्येष्टि श्रौत अग्निहोत्रविषयक ही है।

५. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शाहपुरा मेवाड़ के महाराजा नाहरसिंह वर्मा के यहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार **श्रौतदर्शपूर्णमासेष्टि** आरम्भ कराई थी। इसका जीवनचरितों और उनके पत्रों में उल्लेख है। यह श्रौत दर्शपूर्णमासेष्टि का क्रम तीन पीढ़ी तक चलता रहा। मैंने सन् १९३६ या ३७ में स्वयं शाहपुरा आकर राजकीय यज्ञशाला देखी थी।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक कर्मकाण्ड अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त श्रौतयागों का अनुष्ठान यथावत् स्वीकार करते थे। इतना ही नहीं, संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण के उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे गृह्यकर्मों के समान ही श्रौत-यागों की विधि भी लिखना चाहते थे। संस्कारविधि का सामान्य प्रकरण गृह्य और श्रौत कर्मों का साँझा है। अन्यथा हविर्निर्वाप, हविप्रोक्षण, प्रतिआहुति चार मुठ्ठी चावल का उपादान, पात्रलक्षण, अग्न्याधेय की और तदन्तर्गत आदित्येष्टि की दक्षिणा का क्यों विधान करते।

६. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त कर्मों में किस मन्त्र से क्या कार्य करना चाहिये एवं तत्परक मन्त्रार्थ आदि का निर्देश दूसरे शब्दों में विनियोग-निदर्शनपूर्वक याज्ञिक अर्थ वे क्यों नहीं करते, इसके विषय में वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदभाष्यसम्बन्धी **प्रतिज्ञाविषय** में लिखते हैं--

**अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।** पृष्ठ ३८८।

इसका भाव यह है कि इस वेदभाष्य में कर्मकाण्ड का वर्णन शब्द और अर्थ द्वारा ही किया जायेगा। परन्तु कर्मकाण्ड में विनियोजित इन मन्त्रों से जहाँ-जहाँ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त जो-जो करना है, उसका विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे। किस कारण? कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के ऐतरेय शतपथब्राह्मण पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रादि में यथार्थ विनियोजित होने से। पुनः उसी के कथन करने से अनृषियों के ग्रन्थों के समान पुनरुक्ति तथा पिष्टपेषण दोष प्राप्त होने से। इससे युक्तिसिद्ध वेदादिप्रमाणानुकूल तथा मन्त्रार्थ का अनुगमन करनेहारा, उन ग्रन्थों में कहा विनियोग भी ग्रहण करने योग्य है।

इस भूमिका के उद्धरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य में याज्ञिक अर्थ न करने का कारण स्पष्ट लिख दिया है। यजुर्वेद-भाष्य में प्रतिमन्त्र शतपथ के उस स्थान का निर्देश कर दिया है, जहाँ वह मन्त्र याज्ञिकप्रक्रियानुसारी व्याख्यात है। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती पर यह आक्षेप करना कि वे पुरातन श्रौतयाज्ञिक परम्परा को नहीं मानते थे, सर्वथा मिथ्या है।

हाँ इतना कहा जा सकता है कि उनके निधन के पश्चात् केवल पण्डित भीमसेन शर्मा के अतिरिक्त किसी भी विद्वान् ने श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया जानने या उसे अपनाने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। इस उपेक्षा के कारण आज आर्यसमाज इन श्रौतयज्ञों को भी हेय दृष्टि से देखते हैं। यज्ञों के प्रति सामान्यजनों की तुष्टि के लिये आर्यसमाज के

तथाकथित पण्डितों ने वेद-पारायण गायत्री-यज्ञ सदृश विविध अवैदिक कर्मों की उसी प्रकार प्रकल्पना कर ली है जैसे आर्यसमाजेतर याज्ञिकों ने विष्णुयज्ञ रुद्रयज्ञ चण्डीयज्ञ आदि की कल्पना की है। अस्तु,

**आधिदैविक प्रक्रिया**—इस प्रक्रिया में जगत् के सर्ग स्थिति और प्रलय का निरूपण होता है। सर्ग के प्रतिपादक अघमर्षण एवं नासदीय सदृश अनेक सूक्त हैं, जिनका देवता **भाववृत्त** है। पृथिवी शुक्र बृहस्पति सूर्य आदि ग्रहों उपग्रहों से संबद्ध भी अनेक सूक्त वा मन्त्र वेद में विद्यमान हैं। श्रौतयज्ञ भी यास्क के मतानुसार ब्राह्म सृष्टियज्ञ के ही व्याख्यानस्वरूप हैं। आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार भी प्रत्यक्षरूप में वेदभाष्य में मन्त्रार्थ नहीं किया है। परन्तु इस प्रक्रिया के अनुसार वेदार्थ अपेक्षित है। इसके निरूपण के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में **अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः** प्रकरण का सन्निवेश किया है। इसमें ऋग्वेद के **नासदीय सूक्त** (१०।१२९) एवं यजुर्वेद के **पुरुषाध्याय** (अ० ३१) का सर्गरचनापरक अर्थ किया है।

**अध्यात्मप्रक्रिया**—अध्यात्म शब्द से **आत्मानमधिकृत्येत्यध्यात्मम्** इस विग्रह के अनुसार शरीररूप पुरी में निवास करनेहारे आत्मा और अखिल जगद्रूपी पुरी में वर्तमान परम आत्मा दोनों का तथा उनके आश्रयों शरीर और ब्रह्माण्ड का निरूपण संगृहीत होता है। शरीररूपी पुरी का यथावत् निरूपण आयुर्वेद के ग्रन्थों में विस्तार से किया है। ब्रह्माण्डरूपी पुरी का वर्णन आधिदैविक प्रक्रिया में अन्तर्भूत हो जाता है। इनसे सम्बद्ध अनेक विषयों का संक्षिप्त निदर्शन ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में कराया है। इस प्रकार अध्यात्म के एक-एक भाग के निरूपण के अनन्तर आत्म-विज्ञान और परमात्म-विज्ञान ही इस प्रक्रिया के अंश बनते हैं। उनका यथावत् परिज्ञान योगशास्त्रानुसार **उपासना** से ही हो सकता है। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अध्यात्म एवं अधिदैवत प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पूर्वोक्त **प्रतिज्ञाविषय** में लिखा है—

**तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते। कुतः ? अस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोऽस्तीत्यतः। एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि। कुतः ? अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः।** पृष्ठ ३८८।

अर्थात् उसी प्रकार **उपासना काण्ड** का भी प्रकरणगत शब्दों के अनुसार ही प्रकाश करेंगे। क्योंकि इसका एकत्र विशेष पातञ्जलयोगशास्त्रादि ग्रन्थों से जानना चाहिये। इसी प्रकार **ज्ञानकाण्ड** का भी। क्योंकि इसका विशेष परिज्ञान सांख्य वेदान्त उपनिषद् आदि शास्त्रों में दर्शाया है, उसे उन ग्रन्थों में देखना चाहिये।

अतएव स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन अधियज्ञ अधिदैवत एवं अध्यात्म प्रक्रियानुसारी मन्त्रार्थ अपने वेदभाष्य में नहीं किया है। उक्त त्रिविध प्रक्रियानुसारी मन्त्रार्थ की उपेक्षा में उस समय की विशिष्ट परिस्थिति भी विशेष कारण रही। अतः हम स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा किये गये वेदभाष्य पर लिखने से पूर्व उनके सामने जो परिस्थिति थी, उसका उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं—

**तात्कालिक परिस्थिति**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस समय वेद एवं वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ किया था, उस समय ब्रिटिश शासन द्वारा प्रचालित शिक्षा पद्धति से शिक्षित एवं उनके संसर्ग से कुछ विचारशील व्यक्तियों के हृदयों में एक वैचारिक क्रान्ति की लहर उठ रही थी। वे पाश्चात्य विचारों से समन्वित शिक्षा और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के अध्ययन से वेदादि प्राचीन शास्त्रों एवं प्राचीन परम्पराओं को निस्सार एवं अनुपयोगी मानने लगे थे। साथ ही वे इन्हें ब्राह्मण आदि उच्चवर्गीय लोगों की जीविका का साधनमात्र समझते थे और इन्हें देश जाति और समाज की उन्नति में बाधक मानते थे।

इसके साथ ही यहूदी ईसाईमत के पक्षपाती पाश्चात्य विद्वान् एकमात्र सायण के वेदभाष्य को आधार बनाकर वेद के प्रति विविध प्रकार से अनास्था उत्पन्न करने में लगे हुए थे। वे वेद के रचयिताओं को जंगली असभ्य गोमांस खानेवाले एवं वेद मन्त्रों को गडरियों के गीतों के समान परमबालिश तथा निरर्थक सिद्ध करने में आपादमस्तक प्रयत्न कर रहे थे। उनके अनुसार वेदमन्त्रों के रचयिता अग्नि, इन्द्र, सूर्य प्रभृति विभिन्न जड़ देवी देवतातों के उपासक थे। उन्हें जगदुत्पादक उच्च चैतन्य शक्ति (ब्रह्म) का परिज्ञान तो बहुत पश्चात् हुआ। इसी प्रकार राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित होकर पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने आर्यों के बाहर से आकर भारत पर आधिपत्य जमाने, यहाँ के मूल निवासियों, जिनकी सभ्यता आर्यों से उन्नत थी, को पराजित करके दास बनाने की ऐसी कल्पना, जिसका संकेत भी विशाल संस्कृत साहित्य के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता,

को ऐतिहासिक रूप दिया और यही स्कूल कालेजों के इतिहास में पढ़ाया (भारत के स्वतन्त्र होने पर भी यही सब कुछ इतिहास के नाम पर आज भी पढ़ाया जाता है)।

संस्कृत वाङ्मय पर शोध (रिसर्च) करनेहारे मैक्समूलर मोनियर विलियम्स प्रभृति विद्वानों ने सम्पूर्ण शोधकार्य, यहाँ तक कि संस्कृत इंगलिश कोश निर्माण का कार्य इसलिये किया कि उससे भारतीयों को ईसाई बनाने में सरलता होगी।

ऐसी विषम परिस्थिति में स्वामी दयानन्द सरस्वती को भारतीय अवैदिक मत-मतान्तरों के अनुयायियों, पाश्चात्य विचारधारा के अनुगामियों तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा फैलाई गई विविध भ्रान्त धारणाओं के विरुद्ध एक साथ लड़ना पड़ा। उन्होंने स्पष्ट और उच्चैः स्वर से घोषणा की कि—

१—वेद में उन सब विद्याओं का मूलतः वर्णन है,[1] जिनकी आवश्यकता भूतकाल में पड़ी और भविष्य में पड़ सकती है।

२—वेद केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड के अथवा इतिहास के ग्रन्थ नहीं हैं।

३—वेद किसी एक वर्गविशेष की धरोहर नहीं है। उस पर मानव मात्र का उसी प्रकार अधिकार है, जैसे संसार के जलवायु प्रभृति विभिन्न पदार्थ सबके लिये हैं। अतः वह प्रत्येक व्यक्ति वेद पढ़ने का अधिकारी है, जो पढ़ने में समर्थ हो। इसी प्रकार जो पढ़ नहीं सकते, वे सब सुनने के अधिकारी हैं, जो सुन सकते हों।[2] वेद सुनते हुए शूद्र के कान में गरम सीसा डालने का उल्लेख यदि कहीं आर्षग्रन्थ में मिलता है[3], तो वह पीछे से किया गया प्रक्षेप है। भारत के इतिहास में कवष एलूश तथा मातङ्ग

---

१. 'सर्वज्ञानमयो हि सः'। मनु० २।७॥ 'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति।' मनु० १२।९७॥

२. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य·····इत्यादि। यजुर्वेद २६।२॥

३. अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्। यह किसी धर्मसूत्र का वचन शङ्कराचार्य ने वेदान्तदर्शन १।३ अधि० ९, सूत्र ३८ में उद्धृत किया है।

सदृश अनेक व्यक्ति प्रसिद्ध हैं, जो शूद्र तथा अन्त्यज कुलों में उत्पन्न होकर वेदादि का अध्ययन करके ऋषि पद को प्राप्त हुए।[1]

४—वेद में उन सभी समस्याओं का समाधान है, जो भूतकाल में उत्पन्न हुईं, वर्तमानकाल में विद्यमान हैं और भविष्य में उत्पन्न होंगी।[2] वेद में मानवसमाज के समस्त कर्तव्य अकर्तव्य तथा राज्यादि व्यवस्थाओं का वर्णन है।[3]

५—वेद में प्राकृतिक अग्नि वायु सूर्य प्रभृति अचेतन देवी देवताओं की उपासना का कहीं वर्णन नहीं है। समस्त वेद का तात्पर्य एकमात्र परब्रह्म की उपासना और उसकी प्राप्ति में है।[4]

६—वेद में इतिहास की जो कल्पना की जाती है, वह लोकवत् वेद में रूढ़ शब्द मानकर की जाती है। समस्त वैदिक वाङ्मय इस बात का साक्षी है कि वेद में किसी देश समाज वा व्यक्ति का इतिहास नहीं है।[5] वेद के शब्द यौगिक एवं योगरूढ़ हैं।

७—वेद में उन सब विषयों का उल्लेख है, जिन्हें अपना कर कोई देश समाज वा व्यक्ति उन्नति के शिखर तक पहुंच सकता है और सभी मनुष्य विश्व, देश, समाज वा परिवार में सुख एवं शान्ति से मिलजुल-कर रह सकते हैं।

---

१. **कवष एलूश** दासी का पुत्र था, अपोनप्त्रीयसूक्त का द्रष्टा हुआ। द्र०—ऐतरेयालोचन, पृष्ठ १४, १५॥

**मातङ्ग**—स्थाने मातङ्गो ब्राह्मण्यमलभद् भरतर्षभ। चण्डाल-योनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्॥ महाभारत अनु० ३।१९॥

२. भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। मनु० १२।९७॥

३. स्वायम्भुव मनु ने अपना समाजशास्त्र वेद के आधार पर रचा था।

४. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ कठोप० २।१५॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

ऋग्वेद १।१६४।३९॥

५. नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च (निरु० १।१२)। नाम

अपनी उक्त घोषणाओं और पूर्व पृष्ठ १११-११२ पर निर्दिष्ट वेद-विषयक मान्यताओं के अनुरूप स्वामी दयानन्द सरस्वती को वेद के व्याख्यान की ऐसी विशिष्ट शैली को अपनाना आवश्यक था, जिससे उनकी घोषणा और मान्यता की पुष्टि होती हो तथा एतद्देशीय वा पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा जो वेद पर विविध प्रकार के आक्षेप किये जा रहे हों उनका यथावत् समाधान हो सके। इसके लिये उन्होंने समस्त वैदिक वाङ्मय और विशेष करके मनुस्मृति से मधुकर के समान विशिष्ट सारभूत तत्त्वों को संगृहीत करके वेदभाष्य में जिस मन्त्रार्थ-प्रक्रिया को अपनाया, उसे उन्होंने व्यावहारिकी प्रक्रिया नाम दिया और समस्त वेद का तात्पर्य परब्रह्म के ज्ञान, उपासना और प्राप्ति में है—इसके लिये उन्होंने जो औपनिषत्की अध्यात्म प्रक्रिया का आश्रय लिया, उसका पारमार्थिकी प्रक्रिया नाम दिया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञा-विषय में प्राचीन याज्ञिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार वेदार्थ क्यों नहीं किया, इसका वर्णन करने के अनन्तर लिखा है—

**अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। कुतः? निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्ये जगति सर्वाङ्गव्यापिमत्वात्, कार्यस्येश्वरेण सहान्वयत्वाच्च। यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च।[1] एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन् कार्यार्थसम्बन्धात् सोऽप्यर्थ आगच्छति।** पृष्ठ ३९०।

अर्थात् इस वेदभाष्य में जिस-जिस मन्त्र का पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों का श्लेषादि अलंकार द्वारा सप्रमाण सम्भव होगा,

---

च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।' नैगमरूढिभवं हि सुसाधु॥ महाभाष्य ३।३।१॥

१. इतोऽग्रे 'तस्य निर्देशः स्वतः प्राप्यत एव। यथा कस्यचित् कार्यद्रव्यस्य प्रशंसया तस्य निर्मातुः कारुकस्य प्रशंसा स्वयमेव विदिता भवति' इति परिवर्धनेन पूर्ववाक्यस्यार्थो विस्पष्टो भवति।

उस-उसके दो-दो अर्थ करेंगे। परन्तु ईश्वर का एक भी मन्त्र के अर्थ में अत्यन्त त्याग नहीं होता। किस कारण? निमित्त कारण ईश्वर के इस कार्य जगत् में सर्वत्र व्याप्त होने से और कार्य का ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने से। उसका जहाँ पर केवल व्यावहारिक अर्थ किया है, वहाँ भी ईश्वर की रचना के अनुकूल ही पृथिव्यादि द्रव्यों का सद्भाव होने से उसका निर्देश स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे किसी कार्यद्रव्य की प्रशंसा से कारीगर की प्रशंसा स्वयं जानी जाती है। इसी प्रकार पारमार्थिक ईश्वरपरक अर्थ करने पर भी उसके साथ कार्यद्रव्य का कृतिरूप सम्बन्ध होने से वह अर्थ भी जाना जाता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वकरिष्यमाण वेदभाष्य का प्रयोजन तथा लाभ इस प्रकार वर्णित किया है—

'इस[1] भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जायेगा, कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई है, उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायेगा। तथा जो सायण, माधव, महीधर और अंग्रेजी वा अन्य भाषा में उलटे भाष्य किये जाते वा किये गये हैं, तथा जो-जो देशान्तर-भाषाओं में टीका हैं, उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुख-लाभ पहुंचेगा। क्योंकि बिना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे (ग्रन्थ) प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए। इत्यादि प्रयोजनों के लिए इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है।[2] पृष्ठ ३९१।

इस प्रकार हमने स्वामी दयानन्द सरस्वती के **वेदोद्धार** कार्य के प्रारम्भिक भाग के रूप में **चतुर्वेदविषयसूची** का संकलन, **वेदभाष्य के दो नमूनों** का प्रकाशन तथा चारों वेदों के करिष्यमाण वेदभाष्यों की भूमिका

---

१. यहाँ विस्तारभय से हमने केवल भाषार्थ उद्धृत किया है। जो व्यक्ति इस का मूल संस्कृत पाठ देखना चाहें वे पृष्ठ ३८९ पर **'अत्र वेदमन्त्राणां'** से लेकर **'सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञेयम्'** तक देखें।

२. यह भाषार्थ संक्षिप्त भावार्थ मात्र है।

रूप में **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**, जिसके अन्तर्गत विविध वेदार्थविषयक नियमों एवं विषयों का उल्लेख है, के लेखन और प्रकाशन कार्य का वर्णन किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदविषयक घोषणाओं का तथा उनके अनुरूप करिष्यमाण वेदभाष्य में प्राचीन त्रिविध मन्त्रार्थ प्रक्रिया को स्वीकार करते हुए भी साक्षात् न अपनाने और स्वयं व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रक्रियानुसार वेदार्थ करने की प्रतिज्ञा आदि का निदर्शन हमने उनके **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** ग्रन्थ से उद्धृत करके यथावत् करा दिया है। अब हम उत्तर भाग के रूप में उनके साक्षात् वेदभाष्य के विषय में लिखते हैं—

## ऋग्वेद-भाष्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के दो भाष्य किये हैं। इनमें प्रथम भाष्य प्रथम मण्डल के ६१वें सूक्त तक उपलब्ध है और द्वितीय भाष्य सप्तममण्डल के ६१वें सूक्त के २रे मन्त्र तक।

**प्रथम भाष्य**—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के लेखन की समाप्ति के अनन्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पूर्वनिर्दिष्ट 'ऋग्वेदभाष्य के दूसरे नमूने' के अनुसार प्रतिमन्त्र पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दो-दो अर्थ लिखने आरम्भ किये थे। इस भाष्य का जो हस्तलेख परोपकारिणी सभा के संग्रह में था, वह प्रथम मण्डल के इकसठवें सूक्त पर्यन्त है।

इस भाष्य के आरम्भ करने का ठीक-ठीक काल ज्ञात नहीं, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य के सम्बन्ध में एक विज्ञापन संस्कृत और हिन्दी में पौषमास में प्रकाशित किया था।[1] इसी विज्ञापन के (भाग १, पृष्ठ ७६) अनुसार भूमिका सम्भवतः नवम्बर १८७६ (कार्तिक के प्रथम सप्ताह सं० १९३३) तक पूर्ण हो चुकी थी, (द्र०—पृष्ठ ७६ की टिप्पणी)। अतः इस भाष्य का लेखन कार्तिक सं० १९३३ से द्वितीय

---

१. यह काल प्रस्तुत वेदभाष्यविषयक विज्ञापन और तद्विषयक पूर्णसंख्या ३६, पौष सुदी ४, सं० १९३३ को मिलाकर पढ़ने से ज्ञात होता है। विज्ञापन 'ऋ० द० सं० के पत्र और विज्ञापन' भाग १, पृष्ठ ६७-७७ तथा पत्र, वहीं पृष्ठ ७७ पर देखें।

भाष्य के आरम्भ मार्गशीर्ष शुक्ला ६ सं० १९३४ के मध्य लगभग १३-१४ महिने में हुआ होगा।

**प्रथमभाष्य का परित्याग तथा दूसरे भाष्य का लेखन क्यों**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद का जो द्वयर्थपरक भाष्य लिखना आरम्भ किया था, उसको मध्य में (६७ सूक्त पर्यन्त) लिखकर क्यों छोड़ दिया? इसका स्पष्ट कारण हमें ज्ञात नहीं। सम्भव है दो अर्थपरक भाष्य लिखने में तथा मुद्रण में अधिक समय लगने की सम्भावना को ध्यान में रखकर इसका लेखन छोड़कर नये भाष्य का लेखन आरम्भ किया हो।

परोपकारिणी सभा के संग्रह में द्वयर्थपरक भाष्य की जो प्रेस कापी है, उसमें सब मन्त्रों के अर्थ वर्तमान में छपे वेदभाष्य से अधिक हैं।

**द्वितीय भाष्य**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने द्वितीय ऋग्वेदभाष्य जो प्रथम की अपेक्षा कलेवर में छोटा है, का लेखन सं० १९३४, मार्गशीर्ष शु० ६, मंगलवार (=११ दिसम्बर १८७७) से आरम्भ किया। सम्प्रति परोपकारिणी सभा अजमेर से प्रकाशित यही भाष्य मिलता है। भाष्यारम्भ की तिथि लेखक ने भाष्य के आरम्भ में इस प्रकार लिखी है—

**वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे**[1]।
**ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम्** ॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत में ऋग्वेद में गुणियों=द्रव्यों के गुणों का विधान है। यह बात उक्त श्लोक के अन्त्य चरण से व्यक्त होती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने जीवन के अन्त तक ऋग्वेद के ७वें मण्डल वे ६१वें सूक्त के दूसरे मन्त्र तक ही भाष्य लिख पाये। इस भाष्य का मुद्रण २४ पृष्ठात्मक मासिक अङ्कों में छपना आरम्भ हुआ था। कुछ काल के पश्चात् यजुर्वेदभाष्य का मुद्रण आरम्भ होने पर पर्याय से दोनों भाष्यों के दो-दो अङ्क इकट्ठे छपने लगे। ग्रन्थकार के जीवनकाल में ५१ अङ्क छपे थे, जिनमें प्रथम मण्डल के ८६वें सूक्त के ५वें मन्त्र तक का भाष्य ही छपा था। शेष भाग (जहाँ तक उन्होंने भाष्य किया था) पूर्ववत् अङ्कों में ही छपता रहा। इसके मुद्रण की समाप्ति संवत्

---

१. वेद=४, त्रि=३, अङ्क ९, विधु=चन्द्र १। **'अंकानां वामतो गतिः'** के अनुसार १९३४।

१९५६ आषाढ़ शुक्ला ५ को हुई थी। यह काल अन्त में छपा उपलब्ध होता है।

**जीवनकाल में छपे अंश से आगे के भाष्य की स्थिति**—जीवन काल में छपे भाष्य से आगे के भाष्य के हस्तलेखों की स्थिति इस प्रकार है—

१. प्रथम मण्डल के ११४वें सूक्त के ५वें मन्त्र तक शुद्ध प्रति लिखी हुई छपने योग्य है।

प्रथम मण्डल के ११४वें सूक्त के छठे मन्त्र से सूक्त १२१ के १२व मन्त्र तक की भाषा बनी हुई है। [अर्थात् यह रफ कापी है, प्रेस कापी नहीं बनी]।

३. प्रथम मण्डल के सूक्त १२४ के १३वें मन्त्र से सूक्त १४३ के अन्त तक का भाग पं० ज्वालादत्त के पास भाषा बनाने के लिये है।

४. प्रथम मण्डल के सूक्त १४४ से ७वें मण्डल के ६२वें सूक्त के २रे मन्त्र तक की असंशोधित संस्कृत अर्थात् रफ कापी है।

ऋग्वेद भाष्य के विषय में हमने ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ १३८-१४७ तक और उसके हस्तलेखों के सम्बन्ध में परिशिष्ट १, पृष्ठ २९६-२९८ तक रामानन्द का पत्र तथा पृष्ठ ३१२-३१५ में विस्तार से प्रकाश डाला है। द्र०—'ऋ० द० स० के ग्रन्थों का इतिहास', पृष्ठ २६६-२६८ तक (द्वितीय संस्करण) छपा रामानन्द ब्रह्मचारी का मिती पौष कृष्णा १ रवि सं० १९४० का लिखा विवरण पत्र।

**यजुर्वेद-भाष्य**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेदभाष्य का लेखन सं० १९३४ पौष शुक्ला १३, गुरुवार (=१७ जनवरी १८७८) के दिन आरम्भ किया था। इसका उल्लेख यजुर्वेदभाष्य के आरम्भ में इस प्रकार किया है—

**चतुस्त्र्यङ्केरवनिसहितैर्विक्रमसरे,**
**शुभे पौषे मासे सितदलभविश्वोन्मिततिथौ।**
**गुरोर्वारे प्रातः प्रतिपदमभीष्टं सुविदुषाम्,**
**प्रमाणैर्निबद्धं शतपथनिरुक्तादिभिरपि ॥२॥**

अर्थात् विक्रम सं० १९३४, पौष शुक्ला १३, गुरुवार (=१७ जनवरी १८७८) के दिन प्रातः मैंने शतपथ निरुक्त आदि के प्रमाणों से युक्त यजुर्वेद भाष्य का आरम्भ किया।

प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध का पाठ है—

**ऋग्वेदस्य विधाय वै गुणगुणिज्ञानप्रदातुवरम् ।**
**भाष्यं काम्यमथो क्रियामययजुर्वेदस्य भाष्यं मया ।।१।।**

यहाँ दो शंकायें उठती हैं—

१—प्रथम श्लोक में कहा है—**ऋग्वेदस्य विधाय वै** । इससे साधारण जन भ्रमित होते हैं, वे समझते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद का भाष्य पूरा करके यजुर्वेद का भाष्य आरम्भ किया था । इस शङ्का का समाधान तो अति सरल है । दोनों भाष्यों के आरम्भ करने की जो तिथियाँ लिखी हैं, उनमें केवल ३७ दिन का अन्तर है । इतने स्वल्प समय में ऋग्वेद का भाष्य पूरा हो ही नहीं सकता । अतः **विधाय** का अर्थ 'आरम्भ करके' ही अभिप्रेत है ।

२—दूसरी शङ्का यह है कि ऋग्वेद का भाष्य पूर्ण न करके उसके आरम्भ करने के ३७ दिन पश्चात् ही यजुर्वेद का भाष्य क्यों आरम्भ किया ?

इस शङ्का का समाधान स्वामी दयानन्द सरस्वती के लाहौर से ६ जून १८७७ को गोपालराव हरि देशमुख को अंग्रेजी में लिखे पत्र से मिलता है । पत्र का अभिमत अंश इस प्रकार है—

Lahore 6th June 1877

Dear Sir,

I am exceedingly glad to read yours of the 30th ult. Which refreshed my soul very much.....

I am willing to follow your advice, and ready to translate white Yajur Veda as you wish.....

भाषानुवाद—

**प्रिय महोदय !**

**मैं आपका गत ३० ता० का पत्र पढ़कर बहुत प्रसन्न हुआ और मेरी आत्मा को शान्ति मिली.....।**

**मैं आपकी सम्मति के अनुसार चलने के लिये उद्यत हूं और जैसी कि आपकी इच्छा है, शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य करने को तैयार हूं ।**

इस पत्र से यह ध्वनित होता है कि गोपालराव हरि देशमुख ने शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य करने के लिये लिखा था। गोपालराव हरि देशमुख के पत्र में संकेतित ३० मई १८७७ का पत्र हमें प्राप्त नहीं हुआ। गोपालराव हरि देशमुख ने किन कारणों से प्रेरित होकर शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य करने का सुझाव दिया था, यह हम नहीं जानते। प्रतीत होता है, यजुर्वेद का सम्बन्ध याज्ञिक कर्मकाण्ड के साथ जुड़ा हुआ है, इस कारण यजुर्वेद के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ भी लोक में फैली हुई हैं। सम्भव है उनके निराकरण की दृष्टि से यजुर्वेद का भाष्य करने के लिये स्वा० द० स० को लिखा हो। गोपालराव हरि देशमुख का पत्र उपलब्ध न होने की दशा में हमारा लेख अनुमान मात्र है।

यह ध्यान रहे कि गोपालराव हरि देशमुख का पत्र ३० मई १८७७ का था और स्वामी दयानन्द सरस्वती का पत्र ६ जून १८७७ का है। यह वह समय है, जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की रचना करके उस ऋग्वेदभाष्य की रचना कर रहे थे, जो छपा नहीं अर्थात् उपरिनिर्दिष्ट ऋग्वेद का प्रथम भाष्य। द्वितीय ऋग्वेद भाष्य की रचना ११ दिसम्बर १८७७ को आरम्भ की थी। पत्र लेखन (६ जून १८७७) और यजुर्वेदभाष्य आरम्भ (१७ जनवरी १८७८) करने के मध्य लगभग ७ मास का अन्तर है।

**भाष्य-लेखन की समाप्ति**—यजुर्वेदभाष्य के लेखन की समाप्ति **मार्गशीर्ष कृष्णा १, सं० १९३९** के दिन हुई थी। यह लेखनकाल की समाप्ति सूचना परोपकारिणी सभा से मुद्रित यजुर्वेदभाष्य के अन्त में छपी हुई मिलती है। इसके अनुसार सम्पूर्ण यजुर्वेद के भाष्य की रचना में स्वामी दयानन्द सरस्वती को **चार वर्ष और दस मास** लगे थे।

**मुद्रण का आरम्भ और समाप्ति**—यजुर्वेदभाष्य का मुद्रण सम्भवतः श्रावण सं० १९३५ में प्रारम्भ हुआ था[1]। और समाप्ति वैशाख शुक्ला ११ शनिवार सं० १९४६ में हुई थी।[2] यह ११७ अङ्कों में पूरा हुआ था।

**जीवनकाल में छपा अंश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल

---

१. प्रथम अङ्क के मुख पृष्ठ पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाद्रमास में मेरठ नगर में निवास करने की सूचना छपी थी।

२. यह काल-निर्देश छपे भाष्य के अन्त में मुद्रित मिलता है।

में यजुर्वेदभाष्य के ५१ अंक छपे थे। ५१वें अङ्क में १५वें अध्याय के ११वें मन्त्र तक का भाष्य छपा था। आगे का भाष्य ऋग्वेदभाष्य के साथ-साथ उनके निधन के पीछे छपा।

**जीवनकाल में छपे अंश से आगे के भाग की स्थिति**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवन काल में यजुर्वेदभाष्य का जितना अंश छपा था, उससे आगे के भाष्य के हस्तलेखों की स्थिति इस प्रकार है--

१—१५वें अध्याय के १२वें मन्त्र से लेकर २१वें मन्त्र तक कापी छपने के लिये मुंशी समर्थदान के पास प्रेस में थी।

२—१५वें अध्याय के २१वें मन्त्र से लेकर २३वें अध्याय के ४९वें मन्त्र तक छपने योग्य शुद्ध प्रति तैयार है।

३—२३वें अध्याय के ५०वें मन्त्र से आगे [भाष्य के] अन्त तक भाषा नहीं बनी है।

४—२४वें अध्याय·····अध्याय तक भाषा बनाने के लिये पं० ज्वालादत्त के पास प्रयाग में है।

५. २७वें अध्याय के आरम्भ से लेकर ४०वें अध्याय के अन्त तक केवल संस्कृत की पाण्डुलिपि (रफ कापी) है।

द्र०—'ऋ० द० स० के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ २६६-२६८ तक (द्वि० सं०) छपा रामानन्द ब्रह्मचारी का मिती पौष कृष्णा १ रवि सं० १९४० का लिखा विवरण पत्र।

**यजुर्वेदभाष्य में छपा मन्त्रपाठ**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस यजुर्वेद का भाष्य किया है, वह शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के अनुसार है। माध्यन्दिन संहिता में यत्र-तत्र जो पूर्वपठित मन्त्रों की प्रतीकें उपलब्ध होती हैं, उनको छोड़ दिया गया है। यजुर्वेद के ३२वें अध्याय में (३, ७) दो मन्त्रों का भाष्य ऐसा है, जिसमें प्रतीकों का व्याख्यान भी है। तीसरे मन्त्र के भाष्य में यह वैचित्र्य है कि एक पक्ष में मन्त्रार्थ में प्रतीकें छोड़ दी हैं, पक्षान्तर में मन्त्रों का अवयव मानकर अर्थ किया है।

**भाष्य में अपपाठ**—मुद्रित भाष्य में अपपाठों की भरमार है। कई स्थानों पर मन्त्र और पदपाठ शुद्ध छपा है, परन्तु भाष्य में दिया मन्त्रपद अशुद्ध है और उसी का व्याख्यान किया है। यथा—यजुर्वेद ८।१४ में मन्त्र

और पदपाठ में **त्वष्टा** शुद्ध छपा है, परन्तु पदार्थ में (**त्वष्ट्रा**)**तनूकर्त्रा** पद और अर्थ दोनों ही अशुद्ध हैं।[1] इसी प्रकार यजुर्वेद १२।४७ में मन्त्र और पदपाठ में **सहस्त्रियम्** शुद्ध छपा है परन्तु पदार्थ में (**सह स्त्रियम्**) **सहप्राप्तां भार्याम्**[2] अशुद्ध पाठ है। यजुर्वेद २५वें अध्याय के अन्त में एक द्विपदा बढ़ाकर एक मन्त्र बढ़ा दिया है।[3]

## स्वा० द० स० के वेदभाष्य को समझने के लिये विशेष निर्देश

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा वेदोद्धार के लिये किये गये वेदभाष्य-रूप प्रमुख कार्य का संक्षिप्त वर्णन कर चुके (पृष्ठ १२७)। वेदसम्बन्धी स्वामी दयानन्द सरस्वती की कतिपय मान्यताओं का भी उल्लेख किया जा चुका है (पृष्ठ १११-११३)। यहाँ हम उनके वेदभाष्य को यथावत् समझने के लिये उन कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश करेंगे, जिनको विना समझे स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य समझ में नहीं आ सकता। यथा—

१. वेदसंज्ञा केवल मन्त्रसंहिताओं की ही है। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र तथा एतदर्थक जितने भी वचन श्रौत सूत्रों में उपलब्ध होते हैं, उन सबका सम्बन्ध **कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं के साथ है**। कृष्णयजुर्वेद की जितनी भी शाखाएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें **मन्त्र और ब्राह्मण का संमिश्रण** मिलता है। अतः कृष्णयजुः शाखाओं के श्रौतसूत्रकारों को ब्राह्मण की वेदसंज्ञा का विधान करना पड़ा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के किन्हीं श्रौतसूत्रों में ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा का विधायक वचन नहीं मिलता[4], क्योंकि इनकी मन्त्रसंहितायें और ब्राह्मण ग्रन्थ पृथक्-

---

१. ग्रन्थकार स्वामी दयानन्द सरस्वती की टिप्पणी पूर्व पृष्ठ ८० पर उद्धृत की है, वह भी देखें।

२. यह अशुद्धि संस्कृत पदार्थ अन्वय और भाषार्थ सर्वत्र व्याप्त है।

३. द्र०—पूर्व पृष्ठ ९३-९४ पर विस्तृत विवेचना।

४. शुक्ल यजुर्वेद के तथाकथित कात्यायनीय 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' में **मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' सूत्र मिलता है। प्रतिज्ञापरिशिष्ट नाम के दो परिशिष्ट

पृथक् हैं।[1] अतः उनको इस प्रकार के वचनों की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि लोक में मन्त्रसंहिताओं के लिये वेद शब्द सुविदित था।

यहाँ दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) शास्त्रकारों की शैली है कि जो विषय लोकसिद्ध (=लोकविज्ञात) हो उसका अपने शास्त्र में उल्लेख नहीं करते। हाँ, जहाँ लोकसिद्ध विषय से भिन्नता व्यक्त करनी हो तो उसका निर्देश करते हैं। यथा लोक में दो या दो से अधिक पदों का संक्षेप से निर्देश करने के लिये प्रत्येक पद के आद्यक्षर को सम्बद्ध करके एक संक्षिप्त नामकरण का रूप देते हैं। जैसे 'शुक्ल दिवस, बहुल दिवस' शब्दों के आद्यक्षरों को सम्बद्ध करके शुक्लपक्ष

---

मिलते हैं। एक कात्यायन श्रौतसूत्र से सम्बद्ध अष्टादश परिशिष्टों के अन्तर्गत है। उसमें उक्तार्थ कोई भी वचन नहीं मिलता। दूसरा कात्यायनीय प्रातिशाख्य से सम्बद्ध है। उसमें उक्त वचन मिलता है। अतः इस वचन का अस्थान में उपलब्ध होना ही इसकी अप्रामाणिकता को भली प्रकार उजागर कर रहा है।

ऋग्वेद के कौषीतकि गृह्यसूत्र में **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः'** (३।१२।२३) सूत्र उपलब्ध होता है। शुक्लयजुर्वेद के पारस्कर गृह्य (२।६।५-६-७) तथा कात्यायन-गृह्य (२।८।५-६-७) **'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः, षडङ्गमेके, न कल्पमात्रे'** में षडङ्ग-पर्यन्त वेदसंज्ञा की व्याप्ति दर्शाई है।

१. शुक्लयजुर्वेद में बहुत उत्तरकाल में **'विधायकं ब्राह्मणं भवति'** इस लक्षण के अनुसार कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध यजुः सर्वानुक्रमणी यजुः १९।१२।३१; २४ वाँ सम्पूर्ण अध्याय, २५।१-९; अ० ३० के ५ से अन्त तक भाग को ब्राह्मण बताया गया है। यह सब कथन चिन्त्य है। ब्राह्मणरूप से कहे गये भाग भी मन्त्ररूप ही हैं, इसका सप्रमाण निराकरण हमने 'वैदिकसिद्धान्तमीमांसा'न्तर्गत **'मूलयजुर्वेद'** शीर्षक लेख में किया है। विनियोग स्वरूप जो मन्त्र हैं, उन्हें याज्ञिक परिभाषा में **'श्रुति-मन्त्र'** कहा जाता है। उव्वट ने यजु० अ० २४ के आरम्भ में लिखा है—**इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवतासंबन्धरूपाभिधायिनः**·····। काण्व संहिता का भाष्यकार आनन्दबोध ब्रह्मणे ब्राह्मणम् (काण्व अ० ३८, माध्य० अ० ३०) के आदि को मन्त्र नाम से स्मरण करता है और उनके ऋषि देवता और छन्दों का निर्देश करता है—**ब्रह्मणे ब्राह्मणमिति ब्रह्मदेवत्या, अष्टिः। अस्य अध्यायस्य पुरुषो नारायणः ऋषिः प्रतिमन्त्रं स एव** (काशीस्थ सरस्वती भवन का प्रकाशन, पृष्ठ १०२)। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि ब्राह्मणवचनों के ऋषि देवता छन्दों का निर्देश कोई भी नहीं करता।

और कृष्णपक्ष के लिये **शुदि** तथा **बदि** सांकेतिक संज्ञाएँ प्रयुक्त की जाती हैं। यह नियम प्रायः सभी भाषाओं में उपलब्ध होता है। पाणिनि को इस नियम से भिन्न अक्षर समाम्नाय में उपदिष्ट आद्यक्षर और अन्त्य इत्संज्ञक अक्षर को संबद्ध करके **अण् इण् अक् इक् उक्** आदि प्रत्याहार बनाने थे, अतः उन्होंने नियम बनाया—**आदिरन्त्येन सहेता** (अष्टा० १।१।७०)। अतएव पतञ्जलि ने कहा है—**अथवा अस्थानेऽयं यत्नः क्रियते। नहीदं लोकाद् भिद्यते। यदि भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्** (महा० १।१।१)। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रसंहिताओं की वेदसंज्ञा लोक में सुविदित थी, अतएव ऋक् शुक्ल यजुः साम और अथर्वसंहिताओं के श्रौतसूत्रों में वेदसंज्ञा-विधायक वचन उपलब्ध नहीं होता है। इस तथ्य की प्रतीति आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र की पुष्टि हरदत्त और धूर्त स्वामी की व्याख्याओं में भी होती है। उन्होंने लिखा है—**कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम् (वेदत्वमाश्रितम्)**।

(ख) कृष्णयजुर्वेदीय जिन श्रौतसूत्रों में मन्त्र और ब्राह्मण के वेद-संज्ञा विधायक वचन पढ़े हैं, वे सब तत्तत्सूत्रों के परिभाषाप्रकरण में पठित हैं। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी शास्त्र की पारिभाषिक संज्ञाओं का सम्बन्ध न तद्भिन्नविषयक ग्रन्थों के साथ होता है और न वह लोकपरिगृहीत ही होता है। इसे नैयायिक 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' कहते हैं।[1] यथा पाणिनीय गुण वृद्धि आदि संज्ञाएँ। अतः कृष्णयजुर्वेदीय श्रौत-कर्मविषयक ग्रन्थों में ही मन्त्र और ब्राह्मण की वेदसंज्ञा अभीष्ट है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि कृष्णयाजुषशाखा वाले आचार्य यज्ञविषयक से भिन्नविषयक ग्रन्थों में भी स्वशाखीय विशेष संज्ञाओं का व्यवहार करते हैं। यथा महाभाष्यकार पतञ्जलि जो सम्भवतः कृष्णयजुओं की काठक शाखा से सम्बद्ध थे[2], ने महाभाष्य में अनेकत्र वेद शब्द से ब्राह्मण पाठ उद्धृत किये हैं।[3]

---

१. समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः। न्यायदर्शन १।१।२९॥

२. द्र०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३६१, ३६२ (चतुर्थ संस्करण)।

३. यथा—पस्पशाह्निक में **'यथा लौकिकवैदिकेषु'** वार्तिक के व्याख्यान में महाभाष्यकार ने **'वेदे खल्वपि'** का निर्देश करके ब्राह्मणादि के व्रतविषयक,

**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** वचन की विशद मीमांसा के लिये हमारी 'वैदिकसिद्धान्तमीमांसा', भाग १ के अन्तर्गत **'वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा'** निबन्ध (संस्कृत हिन्दी दोनों में) देखना चाहिये।

२—**वेद के सभी शब्द यौगिक वा योगरूढ हैं** अर्थात् आख्यातज हैं। कोई भी शब्द रूढ अथवा यदृच्छारूप नहीं है। इसलिये वैदिक शब्दों का तात्पर्य जानने के लिये व्याकरणशास्त्र के अनुसार यथायोग्य धातु-प्रत्यय सम्बन्ध के अनुसार अर्थ जानने का प्रयत्न करना चाहिये। वैदिक शब्द तीन प्रकार के हैं—जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द। क्रियाशब्दों के अन्तर्गत तिङ्प्रत्ययान्त तथा भावप्रत्ययान्त कृदन्त दोनों का अन्तर्भाव होता है।[1] कृदभिहित भाव द्रव्यवत् होता है, अतः उनसे स्वादि विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं।[2]

मीमांसा शास्त्र में **आकृत्यधिकरण** के अन्तर्गत एक अधिकरण है—**लोकवेदशब्ददर्थैक्याधिकरणम्** (मी० १।३ अधि० १०)। इस अधिकरण में जातिशब्द गुणशब्द और क्रिया शब्दों का ही लोक वेद में ऐक्य तथा उनके समान अर्थों का प्रतिपादन किया है। रुढ शब्दों के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। इससे स्पष्ट है कि मीमांसाकार जैमिनि भी वेद में यौगिक वा योगरूढ शब्दों को ही स्वीकार करता है, रूढ शब्दों को नहीं। यहाँ इतना और जान लेना आवश्यक होगा कि अर्वाचीन मीमांसकों ने ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा स्वीकार करके **वेदापौरुषेयत्वाधिकरण** (१।१। अधि० ८) में ब्राह्मणवचनों को उद्धृत करके उन्हें भी **श्रुतिसामान्यमात्र** (१।१ सूत्र ३१) माना है।

लोक में किन्हीं आचार्यों के मत में चतुर्थ प्रकार के यदृच्छा शब्दों की गणना भी की जाती है।[3] यदृच्छा शब्द का अर्थ है—अर्थगत प्रवृत्ति-निमित्त की अपेक्षा न करके जो शब्द प्रयोक्ता के अभिप्रायमात्र से प्रवृत्त

---

यूपसम्बन्धी तथा कपालोपधानविषयक ब्राह्मण वचन उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी निर्देश मिलता है।

१. 'यावति च शब्दे क्रियानुषङ्गोऽस्ति [तस्य] सर्वस्य क्रियाशब्दत्वं कृदन्तेषु तिङन्तेषु' भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, ऋलृक् सूत्र, पृष्ठ ६०, पूना संस्क०।

२. 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति'। महाभाष्य २।२।१९॥

३. 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छा-शब्दाश्चतुर्थाः' महाभाष्य ऋलृक् सूत्र।

है, वह यदृच्छा शब्द कहाता है। यथा किसी के **डित्थ डवित्थ नाम**।[1] अन्य आचार्य लोकभाषा में भी उक्त तीन प्रकार के शब्द ही मानते हैं। वे यदृच्छा शब्दों को लौकिकभाषा का अवयव नहीं मानते। वस्तुतः यदृच्छा शब्दों में स्वाभाविक वाचकत्व शक्ति न होने से वे भाषा में भार-रूप ही होते हैं। माघ कवि ने कहा है—

**यदृच्छाशब्दवत् पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम्**। शिशु० २।४७।।

अर्थात्—जो पुरुष जन्म अध्ययनादि क्रिया और शौर्यादि गुण से किसी प्रकार प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता, उसका जन्म यदृच्छा शब्दों के समान केवल पुरुष संज्ञा मात्र के लिये है अर्थात् निरर्थक है।

लोक में जो रूढ शब्द स्वीकार किये गये हैं, वे दो प्रकार के हैं। एक संज्ञा शब्द और दूसरे जो देशकाल परिस्थिति के कारण अर्थविशेष में ही संकेतित मान लिये गये हैं। संज्ञा शब्द भी दो प्रकार के हैं। एक यदृच्छा रूप हैं, जिनका संज्ञारूप में प्रयोग करते समय वक्ता उसके किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता यथा पाणिनीय टि घु आदि संज्ञा अथवा लोक में किसी बालक का डित्थ डवित्थ आदि नामकरण। और दूसरे संज्ञा शब्द वे होते हैं, जो अपने अर्थ विशेष को बोधित करने में समर्थ तो होते हैं, परन्तु उन्हें एक सीमित अर्थ के साथ संबद्ध कर दिया जाता है। यथा पाणिनीय व्याकरण की प्रगृह्य अव्यय आदि संज्ञाएँ और लोक में किसी व्यक्ति, देश वा देशावयव पर्वत नदी आदि के नाम। जो रूढ शब्द देश-काल परिस्थिति आदिवश अपने मूल अर्थ को व्यक्त न करते हुए, किसी अर्थविशेष में ही रूढ मान लिये गये हैं, वे शब्द वस्तुतः पुराकाल में यौगिक अथवा योगरूढ शब्दों के अन्तर्गत ही थे, परन्तु उत्तरकाल में अपने अर्थ को व्यक्त न करके संज्ञा शब्दों के समान ही नियत अर्थ को द्योतन करने के कारण रूढ मान लिये गये। ऐसे भूतपूर्व कृदन्त शब्दों का सन्नि-वेश प्राचीन वैयाकरणों ने व्याकरण के मुख्यभाग से पृथक् करके **उणादि-पाठ** के रूप में संकलित किया। इस प्रक्रिया से उनका कृदन्तत्व भी

---

१. 'अर्थगतं प्रवृत्तिनिमित्तमनपेक्ष्य यः शब्दः प्रयोक्त्राभिप्रायेणैव प्रवर्तते स यदृच्छाशब्दो डित्थादिः' कैयटकृत महाभाष्य टीका प्रदीप, ऋलृक् सूत्र। भर्तृहरि ने यदृच्छा शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है—'यदृच्छा नाम याऽसति प्रवृत्ति-निमित्तेऽर्थगतं प्रवर्त्तकं निवर्त्तकं वा नियमहेतुमन्तरेण प्रवर्तते निर्वतते वा सा यदृच्छा'। महाभाष्य दीपिका ऋलृक् सूत्र, पृष्ठ ५९।

सुरक्षित रहा और लोकप्रसिद्ध रूढत्व भी। उणादिपाठ की मूलशब्दानुशासन से पृथक् प्रवचन की प्रक्रिया को पाणिनि से उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी यथासम्भव निभाया। भोजदेव ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन में गणपाठ के समान उणादिपाठ को भी संकलित कर लिया।

विविध उणादिपाठों की जितनी भी वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनके रचयिताओं ने औणादिक शब्दों को रुढ ही माना है, परन्तु भगवान् पतञ्जलि ने **उणादयो बहुलम्** (अष्टा० ३।३।१)के महाभाष्य में उणादिपाठ की महत्ता दर्शानेवाली जो दो कारिकाएँ लिखी हैं, उनके अनुसार उणादिपाठ का प्रयोजन लौकिक वैदिक शब्दों और रूढ शब्दों का अन्वाख्यान दर्शाया है। ऋलृक् सूत्र के भाष्य में भी ऋतक ऋफिड और ऋफिड्ड नामों को शास्त्रान्वित बताते हुए इनका उणादिपाठ द्वारा साधुत्व स्वीकार किया है। वस्तुतः देखा जाय तो उणादिपाठ के कतिपय सूत्रों में ही संज्ञा शब्द का निर्देश मिलता है। यह संज्ञा शब्द निर्देश उसी प्रकार है, जैसे अष्टाध्यायी के कृदन्त प्रकरण में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। अतः उणादिसिद्ध संज्ञा शब्दों से भिन्न शब्द अन्य कृदन्तों के समान ही यौगिक वा योगरूढ हैं। इस तत्त्व को उणादिपाठ के वृत्तिकारों में से केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ही समझा है इसलिये उन्होंने उणादिकोश नाम्नी वृत्ति में प्रत्येक शब्द के यथासम्भव यौगिक और योगरूढ दोनों अर्थों का निर्देश किया है। यथा—

**करोतीति कारुः—कर्ता शिल्पी वा।**[1]

**वाति गच्छति जानाति वेति वायुः—पवनः परमेश्वरो**[2] **वा।**[3]

**पाति रक्षति स पायुः—रक्षकः गुदेन्द्रियं वा।**[3]

औणादिक शब्दों को यौगिक मानकर स्वामी दयानन्द सरस्वती

---

१. उणादिकोश १।१ व्याख्या में।

२. वेद में अग्नि वायु इन्द्र आदि नाम परमेश्वर के वाचक हैं। इसका निर्देश शुक्लयजुर्वेद के अ० ३२ के प्रथम मन्त्र **तदेवाग्निस्तदादित्यः** में किया है। शङ्कराचार्य ने भी वेदान्तभाष्य १।२।२८ में लिखा है— **अग्निशब्दोऽपि अग्रणीत्वादियोगश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति।**

३. उणादिकोश १।१ व्याख्या में।

ने अपनी वृत्ति में यत्र तत्र वैदिक अर्थों का निर्देश भी किया है। यथा—

**वर्तते सदैवासौ वृत्रः—मेघः शत्रुः तमः पर्वतः चक्रं वा।**[1]

इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी व्याख्या में प्रत्येक पाद के अन्त में **उणादिव्याख्यायां लौकिकवैदिककोषे** विशिष्ट पद का निर्देश किया है।

एक समय ऐसा भी आया जब कतिपय वैयाकरणों ने समस्त कृदन्त शब्दों को, जो निर्विवाद यौगिक वा योगरूढ थे, रूढ शब्द मानकर अपने व्याकरण में उनका अन्वाख्यान ही नहीं किया। इसी प्रकार का एक व्याकरण है—कातन्त्र या कालापक। इसके वर्तमान संस्करण के संस्कर्त्ता ने कृदन्तों का अन्वाख्यान नहीं किया। उत्तरवर्ती किसी कात्यायन ने प्राचीन परिपाटी को जीवित रखने के लिये इसमें चतुर्थ अध्याय के रूप में कृदन्तों का सन्निवेश किया। अतएव कातन्त्र का वृत्तिकार दुर्गसिंह चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में लिखता है—

**वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृताः कृतः।**
**कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये॥**

इस प्रकरण से यह सिद्ध है कि लौकिकभाषा के मुख्य शब्द जाति शब्द गुण शब्द और क्रिया शब्द हैं, और वे सभी धातुज हैं। रूढ शब्द केवल वे ही हैं, जो किसी व्यक्ति देश वा देशावयव पर्वत नदी और नगरों के वाचक हैं। यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा के अवयव नहीं हैं। इनमें केवल प्रयोगार्थ स्वादिविभक्तियों का योगमात्र होता है।

इनके अतिरिक्त कुछ अवयव और निपात संज्ञक शब्द भी ऐसे हैं, जिन्हें रूढ अर्थात् अव्युत्पन्न माना जाता है। परन्तु इनमें से कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति वा निर्वचन निरुक्त एवं उणादिसूत्रों में उपलब्ध होता है। यथा—

**अच्छ—अभेराप्तुमिति शाकपूणिः।** निरुक्त ५।२८॥

**स्वाहा—इत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वयं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा।** निरुक्त ८।२०॥

**पृथक्—प्रथेः कित् सम्प्रसारणं च।** उणादि १।१३७॥

---

१. वही १।१३ व्याख्या में।

यद्यपि नैरुक्तों के मत में सब नाम आख्यातज माने जाते हैं--**नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च** (निरुक्त १।१२), तथापि यहाँ नाम शब्द से केवल उन शब्दों का ही ग्रहण इष्ट नहीं है, जो जाति द्रव्य वा गुणों के वाचक हैं, अपितु नाम शब्द से आख्यात भिन्न सभी शब्द अभिप्रेत हैं। अतः नाम शब्द से अव्ययों और निपातों का भी ग्रहण इष्ट है। यद्यपि अव्ययों और निपातों के निर्वचन निरुक्त में साक्षात् उपलब्ध नहीं होते, तथापि ऊपर **अच्छ** और **स्वाहा** पद के जो निर्वचन उपस्थित किये हैं, उनसे इस बात का संकेत मिलता है। अतः 'नाम' शब्द यहाँ वैयाकरणों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा के तुल्य है। जिन शब्दों से नामिक विभक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे नाम कहाते हैं। अव्ययों और निपातों की भी **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (अष्टा० १।२।४४) से प्रातिपदिक संज्ञा होती है और उनसे उत्पन्न नामिक विभक्तियों का लोप होता है। इस प्रकार उन्हें सुबन्त मानकर उनकी पदसंज्ञा होती है।

यदि नाम का लक्षण **सत्त्वप्रधानानि नामानि** (निरु० १।१) इतना ही माना जाये तो भावप्रत्ययान्त कृदन्तों का नाम से ग्रहण हो ही नहीं सकता। क्योंकि वे भावप्रधान हैं। अतः निरुक्तकार को कहना पड़ा—**यत्रोभे भावप्रधाने भवतः·····मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः—व्रज्या पंक्तिः** (निरु० १।१) अर्थात् जहाँ आख्यात और भावप्रत्ययान्त दोनों ही क्रिया-प्रधान होते हैं, वहाँ 'उपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्त' क्रिया को **व्रजति पचति** आदि शब्द कहते हैं। मूर्त सत्त्ववत् प्रतीयमान क्रिया भाव प्रधान शब्दों से कही जाती है। यहाँ भावप्रत्ययान्त कृदन्तों को सत्त्ववाचक न होने पर सत्त्ववत् मानकर उनका नामत्व स्वीकार किया है। इसे ही वैयाकरण **कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति** (महाभाष्य २।२।१९) कहते हैं। अतः जैसे कृदभिहितभाव सत्त्वरूप नहीं है, उनमें सत्त्वधर्म के सादृश्य को आरोपित करके उनका नामत्व नैरुक्त और वैयाकरण दोनों मानते हैं। उसी प्रकार अव्ययों और निपातों के सत्त्ववाचक न होने पर भी उनमें सत्त्व सादृश्य को आरोपित करके उनके नामत्व का अपलाप कैसे किया जा सकता है। अन्यथा नैरुक्तों के मत में अव्ययों और निपातों का पदत्व कैसे उपपन्न होगा ?

**अव्ययों और निपातों का धातुजत्व**—आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय व्याकरण की बृहद् वृत्ति के स्वोपज्ञ शब्दार्णवन्यास में समस्त अव्ययों और निपातों की भी औणादिक व्युत्पत्तियाँ दर्शाई हैं। द्र०—१।१।३०॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अपने वेदभाष्य में कतिपय निपातों का व्युत्पत्तियाँ दर्शाई हैं। यथा—

**वाट्—वहन्ति सुखानि यया क्रियया सा। वाट् निपातोऽयम्।**

यजुर्वेदभाष्य २।१८॥

इस दृष्टि से यदि यह कहें कि जब लौकिक भाषा में भी कोई शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक नहीं है, तो उससे प्राचीन वैदिक भाषा में तो किसी शब्द को अव्युत्पन्न अर्थात् रूढ मानना उपपन्न ही नहीं हो सकता। इसीलिये प्राचीन सभी ऋषि-मुनियों का सिद्धान्त है कि **वेद में कोई शब्द भी रूढ अर्थात् व्यक्ति आदि का वाचक नहीं है। सभी शब्द यौगिक व योगरूढ हैं।**

अतएव स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में उन सभी शब्दों की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए, उनके यौगिक वा योगरूढ अर्थों को ही प्रधानता दी है।

३—**वेद में अनित्य इतिहास का अभाव**—यतः वेद में कोई शब्द रूढ नहीं है, अतः वेद में किसी व्यक्ति नगर नदी पर्वत वा देशविशेष का **'इति ह आस'** (=निश्चय से ऐसा ही था) रूप का शब्दप्रमाणान्तर्गत इतिहास[1] नहीं है। इस विषय में समस्त वैदिक वाङ्मय वा प्राचीन ऋषि मुनि आचार्य एक मत हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है।

जो आचार्य ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेदसंज्ञा स्वीकार करते हैं[2], वे ब्राह्मणग्रन्थों के अपौरुषेयत्व की सिद्धि के लिये उनमें भी अनित्य इतिहास नहीं मानते। आचार्य शबर स्वामी ने भी मीमांसा अ० १, पाद १ के वेदापौरुषेयत्व अधिकरण (सूत्र १७-३२) में पूर्वपक्ष के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों के **बबरः प्रावाहणिरकामयत** (तै० सं० ७।१।१०।२), **कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत** (तै० सं० ७।२।२।१) वचनों को उद्धृत करके उन्हें श्रुतिसामान्यमात्र कह कर बबर प्रावाहणि और कुसुरुबिन्द औद्दालकि

---

१. आठ प्रमाण माननेवाले कतिपय नैयायिक इतिहास को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। गौतम मुनि इतिहास को शब्दप्रमाणान्तर्गत स्वीकार करते हैं। द्र०—न्यायदर्शन २।२।२॥

२. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ १५३-१५६॥

नामों को व्यक्तिविशेषवरक न मानकर उनका यौगिक अर्थ दर्शाने का प्रयत्न किया है ।[1]

जहाँ तक ब्राह्मणग्रन्थों के अपौरुषेयत्व का संबन्ध है, उसके विषय में स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में एक भी ऐसा वचन उपलब्ध नहीं होता, जिसमें स्पष्टरूप से ब्राह्मणग्रन्थों को ईश्वर प्रजापति अथवा महाभूत निःश्वसित कहा गया हो । इसके विपरीत ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि वर्तमान ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन भारतयुद्ध के १०० वर्ष पूर्व से १०० वर्ष पश्चात् के काल में हुआ है । यह इनमें उस समय में वर्तमान ऋषियों तथा राजाओं के नामों के उल्लेख से स्पष्ट है ।[2] इस विषय में जो विस्तार से जानना चाहें वे पं० भगवद्दत्त विरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के 'ब्राह्मण और आरण्यक' संज्ञक तृतीय भाग में **'ब्राह्मणग्रन्थों के समकालीन आचार्य वा राजा'** शीर्षक चतुर्थ अध्याय में देखें ।

---

१. भाष्यकार शबर स्वामी ने लिखा है—**प्रवाहणस्य पुरुषस्याऽसिद्धत्वात् न प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणिः** । यह कथन भाष्यकार के स्वकथन के विपरीत है । शबर स्वामी ने मी० २।३।३ की उत्थानिका में लिखा है—**य उदमेधं नाम कञ्चित् पुरुषं नावेदिषुः, तस्य तु पुत्रम् औदिमेधिरित्येवं विदुः, शक्नुयुस्ते यस्तस्य पिता स उदमेध इति कल्पयितुम्** । इसी नियम के अनुसार प्रवाहण नाम, पुरुष के अप्रसिद्ध होने पर भी 'प्रावाहणि' नाम से उसके पिता प्रवाहण की कल्पना की जा सकती है ।

इसी प्रसङ्ग में शबरस्वामी ने कहा है—**इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धस्तथा क्रियायामपि कर्तरि । तस्माद् यः प्रवाहयति स प्रावाहणिः** । यह लेख व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है । इसकी मीमांसा हमारी शाबरभाष्य की व्याख्या भाग १, पृष्ठ ९३ पर देखें ।

२. ब्राह्मणग्रन्थों के समान तैत्तिरीय कठ मैत्रायणी आदि शाखाओं के विषय में भी जानना चाहिये । शाखाओं के सम्बन्ध में मीमांसाशाबरभाष्य की व्याख्या भाग १, पृष्ठ १०७ से ११४ तक विशेषरूप से लिखा है । यही विषय संस्कृत में 'मीमांसा शाबर भाष्य' (मूल) के प्रथम भाग के अन्त में प्रथम परिशिष्ट में पृष्ठ १२ से १९ तक विस्तार से लिखा है ।

यहाँ हम एक ऐसा वचन उद्धृत करते हैं, जिससे ब्राह्मणग्रन्थों के रचनाकाल पर साक्षात् प्रकाश पड़ता है। शतपथब्राह्मण ३।३।४।१९ में कहा है—**शश्वद्ध स्मैनदारुणिनाऽधुनोपज्ञातं यद् गौतमब्रुवाणेति**। अर्थात् सुब्रह्मण्या निगद में पठ्यमान **गौतमब्रुवाण** अंश आरुणि को निश्चय ही अधुना (=सम्प्रति) उपज्ञात हुआ है। यहाँ **अधुनोपज्ञातम्** पद महत्त्वपूर्ण हैं।

इसी तथ्य का प्रकाशन मीमांसासूत्रकार जैमिनि ने स्वप्रोक्त जैमिनिब्राह्मण (२।७९-८०) में इस प्रकार किया—**अत्र ह वा एके कौशिक ब्राह्मण गौतमब्रुवाणेति आह्वयन्ति। तदु ह वा आरुणिनैव यशस्विनोपज्ञातम्**।

इस दृष्टि से जो आचार्य ब्राह्मणग्रन्थों को भी मन्त्रसंहिता के समान अपौरुषेय सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वह वैदिक वाङ्मय के इतिहास के सर्वथा विरुद्ध है।

वेदसम्बन्धी इतिहास के विषय में **एक पौराणिक पक्ष** और भी है, जो वेद में व्यक्तिविशेषों का इतिहास मानकर भी **योऽयं कल्पः स कल्पपूर्वः सोऽपि कल्पपूर्वः** इत्यादि रूप से वैदिक इतिहास अनित्य व्यक्तियों का मानते हुए भी उसे प्रवाह से नित्य मानता है।[1] इस धारणा के अनुसार वर्तमान कल्प जैसे पूर्वकल्प के अनुरूप है, उसी प्रकार उत्तरकल्प भी वर्त्तमानकल्प के अनुरूप होगा। अर्थात् न केवल वैदिक वसिष्ठ विश्वामित्र आदि अपितु आप हम सब प्रतिकल्प तत्तत् समयों में हुए थे और आगे भी होंगे। यदि इस पक्ष को मान लिया जाये तो प्रत्येक प्राणी प्रतिकल्प तत्तत्समयों में अपनी-अपनी भूमिका निभाने के लिये प्रतिबन्धित होगा। अतः वह न कर्म करने में स्वतन्त्र होगा और न परमपुरुषार्थ मोक्ष का कभी भागी बन सकेगा। क्योंकि उसे तो प्रतिकल्प अपनी निश्चित भूमिकाएँ निभाने के लिये जन्म लेना ही पड़ेगा।

मीमांसा के वेदापौरुषेयत्वाधिकरण के पूर्वोत्तरपक्षों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उस काल में कतिपय व्यक्ति 'वेद में इतिहास' मानते

---

१. यथा—'सूर्याचन्द्रससौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० १०।१९०।३) में सूर्य चन्द्रादि की उत्पत्ति कहते हुए भी उन्हें यथापूर्व अर्थात् पूर्वकल्प के अनुसार कहा है।

थे, परन्तु उनके आक्षेप साधारण थे। इसी कारण जैमिनि आचार्य ने उनके उत्तर भी साधारण रूप में दिये हैं।

**उत्तरकाल में 'वेद में इतिहास' पक्ष में वृद्धि**—निरुक्तशास्त्र जो वेदार्थ की प्रक्रिया की दृष्टि से लिखा गया प्रमुख वेदाङ्ग है, उसमें अनेक स्थानों पर **तत्र इतिहासमाचक्षते इत्यैतिहासिकाः, इत्याख्यानम्** आदि का उल्लेख करके वेद में इतिहास वा आख्यान का कथन किया गया है। इसके साथ ही बृहद्देवता ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि में भी वैदिक इतिहासों वा आख्यानों का उल्लेख मिलता है। निरुक्तकार ने बहुत्र अप्रत्यक्षरूप से भी मन्त्रों की इतिहासपरक व्याख्या की है।[1] जो आधुनिक विद्वान् वेद में इतिहास मानते हैं, वे निरुक्तकार के उक्त स्थलों का विशेषरूप से प्रमाण देते हैं।[2] अतः निरुक्तकार के इतिहास पक्ष पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

**पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उत्थापित 'वेद में इतिहास' पक्ष**—ख्रैस्ताब्द की उन्नीसवीं सदी में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का विविधरूप से

---

१. निरुक्त में प्रत्यक्ष वा परोक्षरूप से 'वेद में इतिहास' विषयक लगभग ६० स्थल हैं।

२. सन् १९३१ के मई मास की १८-२२ तारीखों में महात्मा हंसराजजी की अध्यक्षता में **'निरुक्तकार यास्क वेद में इतिहास मानता है या नहीं'** विषय पर आर्यसमाज के दो विचारधारावाले विद्वानों का शास्त्रार्थ हुआ था। इसकी प्रति बैठक के विद्वानों के कथनोपकथन का कई व्यक्तियों ने यथासम्भव लेखन किया था (लेखकों में मैं भी सम्मिलित था)। शास्त्रार्थ के पश्चात् प्रादेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के साहित्य विभाग के अध्यक्ष पं० वाचस्पति एम० ए० ने सब लिखित अंशों के आधार पर इसकी दो प्रामाणिक प्रतियाँ तैयार की थीं। एक प्रादेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा लाहौर के कार्यालय में रखी गई और दूसरी प्रति पूज्य गुरुवर पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु को सौंपी गई। यह प्रति देशविभाजन के पश्चात् 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' के पुस्तकालय के साथ भारत आ गई। यद्यपि उक्त शास्त्रार्थ निजीरूप का था अतः इस शास्त्रार्थ की कार्यवाही भी प्रकाशित नहीं की गई। इस शास्त्रार्थ में उभय पक्ष के जिन प्रमुख विद्वानों ने भाग लिया था, उनके निधन हो जाने के पश्चात् मैंने उसे वेदवाणी वर्ष २६, अङ्क ७ से वर्ष २७ अङ्क ४ तक (मई-फरवरी सन् १९७४-७५) दस भागों में प्रकाशित कर दिया। जिससे आर्यसमाज के दोनों पक्षों के विद्वानों के कथनोपकथन सुरक्षित हो जायें।

अनुशीलन किया। इनमें इतिहास, भाषाविज्ञान, मैथोलोजी प्रभृति दृष्टियों का प्रमुख योगदान रहा। वेद में इतिहास पक्ष को सम्पुष्ट करने के लिये अनेक विद्वानों ने ग्रन्थ लिखे। इनमें प्रो० मैक्डानल का **वैदिक इण्डैक्स** ग्रन्थ प्रमुख है। प्रो० मैक्डानल प्रभृति ने समस्त उपलब्ध वैदिक वाङ्मय, लौकिक वाङ्मय एवं इतिहास पुराणों में विद्यमान यथासम्भव अधिकतम ऐतिहासिक सामग्री का संकलन करके वेद में विविध ऋषियों राजाओं व नगर नदी पर्वत देश सम्बन्धी इसिहास को संकलित करने का ऐसा महान् प्रयत्न किया है, जिसकी उपेक्षा करना वैदिक धर्मियों के लिये घातक सिद्ध होगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्मुख उस काल के प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों की वेदविरोधी एवं आर्यैतिहासविरोधी सभी विचारधाराएँ विद्यमान थीं, उन्होंने इन सभी विचारधाराओं के विरोध में कुछ न कुछ लिखा है, परन्तु सभी विषयों पर विस्तृतरूप से लिखना एक व्यक्ति के लिये सम्भव न था। अतः उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के वेद के सम्बन्ध में जो प्रमुख आक्षेप थे, उनके समाधान के लिये ही ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य, यजुर्वेदभाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों वा पुणें तथा बम्बई के प्रवचनों में प्रयत्न किया।

**पाश्चात्य विद्वान् और वेद में इतिहास**—वस्तुतः वेद में इतिहास के प्रतिपादन के लिये जितना प्रयत्न पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, उतना प्रयत्न अपौरुषेयवादी विद्वानों ने 'वेद में इतिहास नहीं है' के प्रतिपादन के लिये नहीं किया। आर्यसमाज के कतिपय विद्वानों ने इस विषय में तीन चार ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु उन्होंने समाधान के लिये केवल **'वेद के सब शब्द यौगिक हैं'** पक्ष का प्रमुखरूप से आश्रय लिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने वेद में इतिहास की सिद्धि के लिये जैसे विविध ग्रन्थों से ऐतिहासिक अंशों का संकलन किया, उसी प्रकार 'वेद में इतिहास नहीं है' पक्ष की सिद्धि के लिये किसी विद्वान् ने विविधग्रन्थों से ऐतिहासिक अंश संकलित करके वास्तविक लौकिक इतिहास से वेद में वर्णित तथाकथित इतिहास की विषमता दर्शाने का गुरुतर प्रयत्न नहीं किया। आक्षेप्ता जिस आधार पर अपना पक्ष उपस्थित करता है, उसका समाधान भी जब तक उसी आधार पर नहीं किया जायेगा, तब तक आक्षेप का न वास्तविक समाधान होगा और न आक्षेप्ता को ही स्वपक्ष के पुनर्निरीक्षण के लिये बाधित किया जा सकेगा।

वेद में अनित्य इतिहास नहीं है, इसका निदर्शन कराने के लिये इसे चार भागों में बाँटा है—

(१) मैकडानल की ऋ० मं० १०, सूक्त ९८ में श्रूयमाण देवापि और शन्तनु के इतिहास के सम्बन्ध में सम्मति।

(२) उपक्रम और उपसंहार पर ध्यान देने पर तथाकथित इतिहास का सिद्ध न होना।

(३) निरुक्त में वर्णित इतिहास वा आख्यानों पर संक्षेप से विचार।

(४) मन्त्रों के तथाकथित ऋषियों के सम्बन्ध में संक्षेप से विचार।

वेद में इतिहास के निदर्शन के लिये मैकडानल ने 'वैदिक इण्डेक्स' नामक एक बृहद्ग्रन्थ की रचना की, उसमें उसने ऋग्वेद मं० १० सूक्त ९८ में आये देवापि और शन्तनु पदों को ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने के लिये सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय से देवापि और शन्तनु विषयक आख्यानों का संकलन किया।

मैकडानल अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वैदिक इण्डैक्स(Vedic Index) Vol. I, पृ० ३३ पर लिखते हैं—

"Devapi Arshtisen—(descendant of Rishtisen) is mentioned in a hymn of the Rigveda (R. 10-98) and in the Nirukta (Ni. 2-10). According to the latter source, there were two brothers Devapi and Shantanu, princes of Kurus. The elder was Devapi, but Shantanu got himself anointed king, whereupon no rain fell for twelve years. The draught being attributed by the Brahmans to his having superseded his elder brother, Shantanu offered the kingdom to Devapi. The latter, however, refused, but acting as Purohita, or domestic priest, for his brother, obtained rain.

The Brihaddevata tells much the same tale, but adds that the reason for Devapi's exclusion from the throne was the fact that he suffered from a skin disease, the Epic and the later legends further develop the story. presenting two somewhat discrepant accounts.

According to the one version, the grounds of the Devapi's being passed over was laprosy, while in the other his devoting himself to asceticism in his youth was the cause of his brother's taking his place. The Epic, moreover, treats him as a son of Pratipa and names as his brothers Bahlika and Arshitsen, who is a new figure developed from the patronymic of Devapi.

Possibly Sieg is right in holding that two stories, those of Devapi, Pratipa's son and of Devapi, Rishtisena's son, have been confused; but in any case it is impossible to extract history from them.

The Rigvedic hymn certainly appears to represent Devapi, as sacrificing for Shantanu, who seems to be called Aulana. But there is no trace in it of the brotherhood of the two men, nor there is anything to show that Devapi was not a Brahaman but Ksatriya. Sieg, who interprets the hymn by the Nirukta, thinks that he was a Ksatriya. but on this occasion was enabled by the favour of Brhaspati to officiate as priest, and that the hymn shows clear recognition of the unusual character of his action, but this view seems very improbable."

अर्थात्—"देवापि आर्ष्टिषेण (ऋष्टिषेण का पुत्र) का वर्णन ऋग्वेद १०।९८ तथा निरुक्त २।१० में किया गया है। उत्तरवर्ती साहित्य के अनुसार देवापि और शन्तनु कुरुवंशी राजकुमार दो भाई थे। ज्येष्ठ देवापि था, परन्तु शन्तनु अपने आप राजा बन बैठा। जिससे कि वहाँ १२ वर्ष तक वर्षा न हुई। ब्राह्मणों ने उसे बुरा भला कहा कि तुमने अपने भाई से राज्यापहरण किया है, इससे तुम्हारे राज्य में वर्षा नहीं होती। शन्तनु ने देवापि को राज्य करने को कहा। उसने मना कर दिया, अपितु उसने शन्तनु का पुरोहित बनकर वर्षा प्राप्त की। बृहद्देवता (७।१४८) में भी अधिकतर इसी प्रकार इस कहानी का वर्णन है, परन्तु उसमें इतना

अधिक लिखा है कि देवापि को कुष्ठ का रोग था, इसीसे वह राज्य से वञ्चित रहा।

महाभारत तथा उसके पश्चाद्वर्ती गाथायें इस कहानी को परस्पर अनेक अंशों में विरुद्ध लिखते हुए बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करती हैं। उनमें दो भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णन दिये हैं। एक मत के अनुसार देवापि को कुष्ठ रोग था, इसलिये वह राज्य से वञ्चित रहा। दूसरा मत यह है कि उसको युवावस्था में ही वैराग्य हो गया। इसी से उसका भाई राज्यसिंहासन पर बैठ गया। महाभारत इसे प्रतीप का पुत्र वर्णन करता है और आर्ष्टिषेण और बाह्लीक को उसका भाई वर्णित करता है। आर्ष्टिषेण एक नया व्यक्ति है, जो देवापि के पैतृकनाम से बना है।

सम्भवतः सीज (Sieg) का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि प्रतीप के पुत्र देवापि और ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि कथाओं का दोनों इन ग्रन्थों में मिश्रण कर दिया गया है। **परन्तु किसी भी अवस्था में इनसे इतिहास का निकालना असम्भव है।**

ऋग्वेद का यह सूक्त निश्चयरूपेण दर्शाता है कि देवापि ने शन्तनु का पुरोहित बनकर यज्ञ किया और जिसको (ऋ० १०।९८।११ में) **औलान** भी कहा है। **परन्तु (वेद में) इसका कोई भी चिह्न वा प्रमाण नहीं मिलता कि ये दोनों भाई थे। और न ही कोई ऐसी बात है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि वह ब्राह्मण नहीं था, अपितु क्षत्रिय था।**

सीज (जो इस सूक्त को निरुक्त के आधार पर अनूदित करता है) का विचार है कि देवापि क्षत्रिय था, इस अवसर पर बृहस्पति की कृपा से वह पुरोहित का कार्य करने के योग्य हुआ। और वह सूक्त देवापि की इस अलौकिक क्रिया को दर्शाता है। परन्तु यह सब बात ठीक प्रतीत नहीं होती।"

मैक्डानल विरचित वैदिक इण्डैक्स से देवापि और शन्तनु विषयक विस्तृत लेख को उद्धृत करने के दो प्रमुख प्रयोजन हैं—

(क) वेद में इतिहास निदर्शन के लिये कटिबद्ध मैकडानल सदृश व्यक्ति को भी ऋग्वेद १०।९८ में वर्णित देवापि और शन्तनु को ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने में सफलता नहीं मिली।

(ख) यदि कोई भारतीय व्यक्ति मैकडानल सदृश पुरुषार्थ करके समस्त संस्कृत वाङ्मय से ऋषियों मुनियों और राजाओं के वंशों तथा

उनके पारस्परिक सम्बन्ध के ऐतिहासिक चित्रपट तैयार करके उनसे वेद में वर्णित तथाकथित इतिहास की तुलना करे, तो निश्चय ही वेद में वर्णित तथाकथित इतिहासों का अनैतिह्य स्पष्ट हो जायेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

देवापि और शन्तनु के निरुक्त, बृहद्देवता तथा महाभारत में निर्दिष्ट आख्यानों में कितनी भिन्नता है, इसका सरलता से बोध करने के लिये हम नीचे तीनों ग्रन्थों की तुलना प्रस्तुत करते हैं[1]—

| निरुक्तस्थ इतिहास[2] | बृहद्देवतानिर्दिष्ट[3] | महाभारतस्थ[4] |
|---|---|---|
| १. देवापि और शन्तनु कौरव्य भ्राता थे। | (निरुक्तसदृश) | देवापि शन्तनु और बाह्लीक तीन भाई थे। |
| २. पितृनाम—ऋष्टिषेण | ऋष्टिषेण | प्रतीप |
| ३. देवापि को राज्य से वञ्चित करके शन्तनु राजा बना। देवापि वन में चला गया। | देवापि ने कहा मुझे कुष्ठ है,[5] शन्तनु को राजा बनाओ। देवापि वन में चला गया। | धर्म की इच्छा से देवापि के बाल्यावस्था में ही वन में चले जाने के कारण शन्तनु राजा बना। |
| ४. ऋषियों ने शन्तनु से कहा—तुमने अधर्माचरण किया है। | धर्म व्यक्तिक्रम मात्र का निर्देश है।[6] | ×× |
| ५. अधर्माचरण के कारण राज्य में १२ वर्ष का सूखा पड़ा। | (निरुक्तवत्) | ×× |

---

१. यह तुलना हमने मीमांसाशाबरभाष्य की आर्षमतविमर्शिनी व्याख्या के भाग १, पृष्ठ १२२ पर तथा शाबरभाष्य मूल भाग १ के अन्त में छपे परिशिष्ट भाग के पृष्ठ ३२ पर संस्कृत में दर्शाई है।

२. निरुक्त २।१०॥ ३. बृहद्देवता ७।१५५-१५७; ८।१-९०॥

४. महाभारत आदिपर्व अ० ९४।६०-६२॥ तथा आदिपर्व अ० ९५।

५. बृहद्देवता ७।१५६॥ ६. बृहद्देवता ८।३॥

| | | |
|---|---|---|
| ६. शन्तनु ने वन में जाकर क्षमा माँगी और देवापि को राज्य संभालने को कहा। | निरुक्तवत् | ×× |
| ७. ×× | मैं त्वक्दोष से नष्टेन्द्रिय हूं अतः राज्य के योग्य नहीं हूं। | ×× |
| ८. देवापि ने कहा— मैं पुरोहित बनकर वर्षा कराऊँगा। | हे राजन् मैं स्वयं वृष्टिकामेष्टि से यजन कराऊँगा। | ×× |
| ९. यज्ञ कराकर वर्षा कराई। | (निरुक्तवत्) | ×× |

मत्स्यपुराण ५०।५१ में देवापि को कुष्ठी कहा है। भागवतपुराण स्कन्द ९, अ० २२, १०-१५ में महाभारतस्थ देवापि शन्तनु की कथा में ही शन्तनु के राज्य में १२ वर्ष वर्षा न होने का तथा वर्षा कराने का उल्लेख किया है।

इन विभिन्न ग्रन्थस्थ कथाओं में तो अन्तर है ही, परन्तु निम्न दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

(क) यदि बृहद्देवता का "ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि त्वग्दोष से दूषित (=कुष्ठी) था (७।१५६) मैं राज्य के योग्य नहीं (७।१५७) शन्तनु राजा होवे (८।१), मैं त्वग्दोष से नष्टेन्द्रिय राज्य के योग्य नहीं हूं।" लेख सत्य होवे तो शास्त्रमर्यादानुसार कुष्ठी के राज्याधिकारी न होने से तथा देवापि की अनुमति से शन्तनु के राजा बनने पर शन्तनु ने कौन-सी धर्ममर्यादा का उल्लङ्घन किया (=अधर्माचरण किया) जिसके कारण शन्तनु के राज्य में १२ वर्ष का सूखा पड़ा।

(ख) यज्ञशास्त्र के नियमों के अनुसार कुष्ठी पुरोहित नहीं बन सकता। पुरोहित बनने से पूर्व कुष्ठ नष्ट हो गया था, इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। फिर देवापि ने पुरोहित बन कर वृष्टिकामेष्टि कैसे कराई।

इन सब विरोधों से स्पष्ट है कि निरुक्तकार यास्क ने जिस इतिहास का

वर्णन किया है, वास्तविक **इति ह आस** रूप शब्दप्रमाणान्तर्गत इतिहास नहीं है, ऐसी स्थिति में निरुक्तकार ने इतिहास शब्द का प्रयोग क्यों किया, इसकी मीमांसा हम आगे स्थालीपुलाक न्याय से करेंगे।[1]

यहाँ हम एक दो अन्य तथाकथित ऐतिहासिक प्रकरणों पर विचार करते हैं--

(१) **ऋग्वेद में श्रूयमाण गङ्गा-यमुना आदि**—ऋग्वेद के १०वें मण्डल का ५वाँ सूक्त **नदी सूक्त** के नाम से प्रसिद्ध है। इस सूक्त के ५वें मन्त्र में गङ्गा यमुना सरस्वती शुतुद्री आदि लोकप्रसिद्ध नदियों के नाम आये हैं। वेद में इतिहास माननेवाले उत्तर प्रदेश में बहनेवाली गङ्गा यमुना और पञ्जाब की विलुप्त सरस्वती तथा सतलुज आदि नाम से प्रसिद्ध नदियों का वर्णन मानते हैं। इस विषय में हम अपने विचार प्रस्तुत करते हैं—

(२) मीमांसाशास्त्रकार का मत है कि जिस विषय में सन्देह हो उसके निर्णय में उपक्रम वा उपसंहार महत्तम भूमिका निभाते हैं। यथा —**उपक्रम**—मीमांसा के तृतीय अध्याय के तीसरे पाद का प्रथम अधिकरण है—**उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताधिकरणम्**। इस अधिकरण में **उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः सामा, उपांशु यजुषा** वाक्य में श्रुत ऋक् साम और यजुः शब्द तत्तत्लक्षणवाले मन्त्रों के वाचक हैं अथवा ऋगादि वेद के वाचक हैं? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये कहा है—**वेदो वा प्रायदर्शनात्** (३।३।२)। अर्थात् वेदप्राय वाक्य में वेदोपक्रम वाक्य में श्रूयमाण ऋगादि शब्द वेदविषयक हैं अर्थात् ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ उच्चैः स्वर से, सामवेद के मन्त्रों का पाठ उच्चैः स्वर से तथा यजुर्वेद के मन्त्रों का, चाहे वे ऋग्रूप (=पादबद्ध) हों चाहे गद्यरूप, उपांशुस्वर से उच्चारण करना चाहिये।[2]

---

१. देवापि-शन्तनु के इतिहास का वास्तविक स्वरूप तथा उनसे संबद्ध सूक्त का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये गुरुवर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु लिखित **'देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप'** निबन्ध देखें।

२. द्र०—इस अधिकरण का शाबरभाष्य और उसकी हमारी 'आर्षमतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या।

**उपसंहार**—मीमांसा अ० १, पाद ४ का १८वाँ अधिकरण है, **वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकरणम्**।[1] इसमें **अक्ताः शर्करा उपदधाति तेजो वै घृतम्** वचन पर विचार किया है – तै० ब्रा० ३।१२।५ में 'चतुर्होत्र-चयन' याग के प्रसंग में कहा है—यदि हिरण्यनिर्मित इष्टका प्राप्त न होवे तो उसके स्थान में **शर्करा अक्ता उपदध्यात्**—चुपड़ी हुई या भीगी हुई शर्करा=रोड़ियाँ रखे। यहाँ केवल चुपड़ी हुई शर्करा के उपधान का कथन किया है। शर्करा (रोड़ियों) का अञ्जन घृत तैल चरबी आदि किसी भी चिकने (=स्नेहवाले) द्रव्य से हो सकता है। अतः सन्देह होता है, किस द्रव्य से शर्करा का अञ्जन किया जाये? इस विषय में मीमांसासूत्रकार कहते हैं—**सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्**। सन्दिग्ध वाक्यों में अथवा सन्दिग्ध पदार्थों में वाक्यशेष से निश्चय करना चाहिये। **अक्ताः शर्करा उपदधाति** वाक्य के आगे **तेजो वै घृतम्** वचन पठित है। इस वाक्यशेष से **घृत से अक्त शर्करा का उपधान करना चाहिये**, यह अर्थ निर्णीत होता है।[2]

प्रकृत नदीसूक्त में श्रूयमाण गङ्गा यमुना आदि उत्तरभारतीय नदियाँ अभिप्रेत हैं अथवा इन नामों का तात्पर्य कुछ अन्य है? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये प्रकृत सूक्त के उपक्रम पर ध्यान देना चाहिये। प्रकृत सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

**प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।**
**प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा॥**

इसका सामान्य शब्दार्थ इस प्रकार है "हे आपः! कारु (=स्तुति-कर्ता) तुम्हारी जो उत्तम महिमा विवस्वान् (=आदित्य) के सदन (घर =स्थान) में है, उसको कहता है। आपः सात-सात के विभाग से त्रेधा (=तीन स्थान द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी) में गति करते हैं। उन गतिशील आपों में सिन्धु अति ओज से गति करती है।"

'त्रेधा' शब्द का अभिप्राय द्यु-अन्तरिक्ष और पृथिवीस्थानीय तीन विभागों से है। इसके लिये देखिये—**तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्** (ऋ० १०।८८।१०) का यास्क मुनि का व्याख्यान—**"तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय**

---

१. इस अधिकरण के नामान्तर 'अक्ताधिकरण', 'वाक्यशेषाधिकरण' भी हैं।

२. द्र०—इस अधिकरण का शाबरभाष्य तथा उसकी 'आर्षमतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या।

**पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः**" (निरुक्त ७।२८)। इसका अर्थ है—"उस अग्नि को तीन प्रकार से होने के लिये देवों ने प्रयत्न किया। अर्थात् अग्नि को तीन विभागों में बाँटा—पृथिवी में, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में, ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है।"

इसी नैरुक्त व्याख्यान के प्रकाश में **प्र सप्तसप्त त्रेधा विचक्रमुः** का अर्थ होगा—उक्त आपः सात-सात करके तीन प्रकार से अर्थात् पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में गतियुक्त हुए।[1] यदी **नदीसूक्त** संज्ञा के आधार पर इस सूक्त में नदियों का वर्णन भी मान लें, तब भी यह मानना होगा कि इस सूक्त में स्मृत गङ्गा यमुना आदि नदियाँ पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु तीनों लोकों में बहनेवाली नदियाँ हैं, न कि केवल उत्तर पश्चिमी भारत में बहनेवाली गङ्गादि नदियाँ मात्र।

मन्त्र शब्द का अर्थ है जो मनन से=गम्भीर विचार से जाना जाये। अतः इन तीन स्थानों में बहनेवाली नदियों पर गम्भीरता से विचार करना होगा। इसमें वैदिक वाङ्मय ही सहायक हो सकता है। यहाँ यह भी ध्यान करने योग्य है कि **आपः** पद केवल लौकिक जलमात्र का वाचक नहीं है। 'आपः' का अर्थ है—व्याप्त होनेवाला। 'आपः' का विशेषण दिया है, 'सृत्वरी'—गति करनेवाला ('सृत्वरी' में स्त्रीलिङ्ग, 'आपः' के स्त्रीलिङ्ग होने के कारण है)। ये तीन स्थानों में रहनेवाले व्याप्ति-युक्त सात-सात विभाग वाले पदार्थ कौन-से हैं, इस पर विचार करना चाहिये।

**द्युलोक** में व्याप्त सात गतियुक्त हैं—इन्द्र=आदित्य की सात किरणें।

**अन्तरिक्ष** में व्याप्त सात गतियुक्त हैं—सप्तविध मेघ। तैत्तिरीय आरण्यक १।९।४-५ में लिखा है—**वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः स्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति**। पर्जन्यों=मेघों का सप्तविधत्व सप्तविध परिवह(=अन्तरिक्ष के ७ उच्च-नीच विभागों) में उत्पत्ति वा स्थिति के कारण है। इन सप्तविध पर्जन्यों को ऋग्वेद २।१२।१२ में **सप्तसिन्धु** भी कहा है।

---

१. वेङ्कटमाधव और सायणाचार्य ने 'त्रेधा' पद का अर्थ **पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि** ही किया है।

**पृथिवी** पर सप्तविध गतियुक्त हैं—आपः सोमतत्त्व तथा अग्नितत्त्व के तारतम्य (=न्यूनाधिक संसर्ग) से युक्त जल। दूसरे शब्दों में पृथिवी पर विद्यमान पेय जलों का विभाग गङ्गा आदि पदों से दर्शाया है। जल के इन सात विभागों का वैज्ञानिक परीक्षण होना चाहिये। प्राचीन ऋषियों ने इन सात प्रकार के जलों का विश्लेषण करके उस-उस गुण युक्त जलधारा के गङ्गादि नाम रखे थे। यद्यपि हमें इन सात प्रकार के जलों के विशिष्ट गुणों का वर्णन प्राचीन वाङ्मय में नहीं मिला, तथापि सौभाग्यवश गङ्गा अथवा गाङ्ग जल का लक्षण हमें प्राचीन वाङ्मय में मिल जाता है—

**गङ्गाजल=गाङ्ग जल**—'सुश्रुत' सूत्रस्थान जलवर्ग अ० ४५।३ में आश्विन मास में बरसनेवाले जलों के **गाङ्ग** और **सामुद्र** दो विभाग लिखकर गाङ्ग जल की परीक्षा का प्रकार बता कर उसे चिकित्सा के लिये संगृहीत करने का विधान किया है। उसके अनुसार **आश्विन मास में बरसे हुए जल को पात्र में लेकर शाल्योदन के पिण्ड को कुछ समय उसमें रखने पर यदि वह पिण्ड जैसे का तैसा रहे, तो उसे 'गाङ्ग जल' जानना चाहिये**। और यदि उसमें कुछ **विकार** आ जाये, **तो उस जल को 'सामुद्र जल'** जल जानना चाहिये।[1] यही बात 'भावप्रकाशनिघण्टु' में वारिवर्ग में लिखी है। 'चरक' सूत्रस्थान (जलवर्ग) अ० २७, श्लोक १९७ में लिखा है कि—**'आकाश से गिरता हुआ जल,सोम वायु और सूर्य किरणों से संस्पृष्ट होकर अनेक गुणोंवाला हो जाता है'**।[2]

आकाश से आश्विन मास में बरसनेवाले गाङ्ग जल में सोम का संयोग अधिक होने से न वह स्वयं विकृत होता है, और न उसमें रखी गयी वस्तु शीघ्र विकृत होती है। यही **'विकृत न होना'** धर्म गङ्गा नदी के जल में है। इसलिये आकाशीय गाङ्ग जल के अनुरूप इस पार्थिव जल की धारा का नाम भी लोक में **गङ्गा** रखा गया।[3] वायुपुराण ५१।२२

---

१. तत्र गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति। तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत—शाल्योदनपिण्डमकुथितमविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे बहिष्कुर्वीत। स यदि मुहूर्तं स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्यवगन्तव्यम्। वर्णान्यत्वे तु सिक्य-प्रक्लेदे सामुद्रमिति।

२. स्यात् पतत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः।

३. बाणगङ्गा रामगङ्गा आदि नदियों में क्या गङ्गा जल से कुछ साम्य है, जिस कारण इन्हें भी गङ्गा कहा गया है?

में गङ्गा को **सोमधारा** कहा—है—**सोमधारा नदी गङ्गा पवित्रा विमलोदका**। अन्य जलों में भी सोमतत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में रहता है, अतः अन्य नदियों को सोमपुत्री कहा है—**सोमपुत्र (त्र्यः) पुरोगाश्च महानद्यो द्विजोत्तम** (वायुपुराण ५१।२२)।

जैसे गङ्गा के जल में गाङ्ग जल[1] के विशिष्ट गुण की उपलब्धि से वह जलधारा गङ्गा नाम से प्रसिद्ध हुई, उसी प्रकार यमुना सरस्वती आदि जल धाराओं में भी विभिन्न विशिष्ट गुणों के सद्भाव के कारण ऋषियों ने इन विशिष्ट जलधाराओं के नाम यमुना सरस्वती आदि रक्खे।

यमुना सरस्वती आदि नदियों के जलों में भी गाङ्गजल के समान कोई विशेष गुण है, जिसके कारण ये जल धाराएँ उन-उन नामों से पुकारी जाती हैं,यह हमने छत्रि न्याय से अथवा प्राणभृत् न्याय (द्र०—मी० १।४।२८) से कहा है। यमुना सरस्वती आदि नदियों के जलों में क्या वैशिष्टच है, इसकी जानकारी तो इन नदियों के जलों के विशिष्ट परीक्षण से ही हो सकती है। हमारे पास ऐसे साधन नहीं है कि हम इसे प्रमाणित कर सकें, परन्तु गङ्गा के जल के विशिष्ट गुण का परिज्ञान होने से उसके आधार पर कल्पना ही कर सकते हैं। गङ्गा यमुना सरस्वती नर्मदा नाम्नी नदियों के जलों का विशिष्टतानिदर्शक एक श्लोक शब्दकल्पद्रुम कोश में नर्मदा नाम के विवरण में दिया है, वह इस प्रकार है—

**त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्तभिस्त्वथ यामुनम्।**
**नार्मदं दशभिर्मासैर्गाङ्गं वर्षेण जीर्यति॥**

अर्थात् सरस्वती का जल तीन महीनों में,यमुना का जल सात महीनों में, नर्मदा का जल दस महीनों में और गङ्गा का जल एक वर्ष में जीर्ण (=गुणरहित) होता है।

---

१. सुश्रुत आदि में जिस गाङ्ग जल का वर्णन मिलता है, वह आश्विन मास में अधिक ऊँचाई पर स्थित मेघों से बरसता है। सम्भवतः इसी कारण पुराणों में गङ्गा की जलधारा को आकाश गङ्गा से आने का उल्लेख किया गया है। मेघों से बरसा हुआ जल स्थानीय भूमि आदि के विशिष्ट गुणों से संस्पृष्ट हो जाता है। उस संस्पर्श दोष से बचाने के लिये पुराणकारों ने गङ्गा का अवतरण शिवजी की जटाओं में लिखा है।

**नर्मदा के जल का एक विशिष्ट गुण**—ऋग्वेद के परिशिष्ट (= खिलपाठ) में एक सर्पसूक्त है। उसका सातवाँ श्लोक (=मन्त्र) इस प्रकार है—

**नर्मदायै नमः प्रातर्नर्मदायै नमो निशि।**
**नमोऽस्तु नर्मदे तुभ्यं पाहि मां विषसर्पतः॥**[1]

इससे प्रतीत होता है कि नर्मदा के जल में सर्प-विषहरण की विशेष क्षमता है।

इस संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि ऋग्वेद में श्रुत गङ्गा यमुना सरस्वती आदि सात नदियाँ केवल भारत में प्रवर्तमान इन नामवाली नदियाँ नहीं हैं अपितु द्युलोक अन्तरिक्ष लोक और पृथिवीस्थानीय क्रमशः सप्तविध रश्मियाँ, उच्चावच स्थान में वर्तमान सप्तविध मेघ तथा विभिन्न विशिष्ट गुणों से युक्त सप्तविध जलधाराएँ हैं।[2]

इसलिये निरुक्तकार यास्क ने कहा है—**न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः** (१३।१२)। इसी प्रकार विशिष्टार्थ के बोधक मीमांसाशास्त्रोक्त उपक्रम और उपसंहार से विशेषार्थ की प्रतीति करनी चाहिये।

---

१. ऋग्वेद, पं० सातवलेकर द्वारा संवत् १९९६ में मुद्रित संस्करण, पृष्ठ ७६९।

२. जिस प्रकार **इमं मे गङ्गे यमुने** (ऋ० १०।७४।५) मन्त्र का विशिष्ट अर्थ उपक्रम (सूक्तस्थ प्रथम मन्त्र) प्रमाण से विदित होता है, उसी प्रकार अथर्ववेद १९।८ का दूसरा मन्त्र है—**अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि** आदि। इस सूक्त से पूर्व सूक्त में चित्रा आदि २८ नक्षत्रों का नामपूर्वक उल्लेख है। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि** मन्त्र को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उपासनाविषय में उद्धृत करके इसका अध्यात्मपरक व्याख्यान किया है। उस व्याख्यान की यथार्थता भी इसी ८वें सूक्त के उपक्रम=प्रथम मन्त्र से विदित होती है। उपक्रमरूप मन्त्र है—

**यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।**
**प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥**

इस विषय में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, द्वितीय संस्करण (सं० २०४१) के पृष्ठ १८६ पर टि० सं० २ (संस्कृत) में तथा पृष्ठ १८७, टि० २ (हिन्दी) देखें। वहाँ इस पर विशेष विचार किया है।

**यम-यमी सूक्त**—ऋग्वेद मण्डल १० का १०वाँ सूक्त ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार वैवस्वत यमयमी के संवादपरक है। यम और यमी भाई बहन हैं। यमी यम से शारीरिक सम्बन्ध की कामना करती है, यम उसे इस सम्बन्ध के लिये मना करता है। ऐसा सभी भाष्यकारों ने व्याख्यान किया है। निरुक्त ११।३४ में यास्क ने भी आख्यानपक्ष में ऐसा ही व्याख्यान दर्शाया है।[1]

**प्रकरणश एव तु मन्त्रा निर्वक्तव्याः** नियम के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस तथाकथित यमयमी संवादसूक्त का विषय अपनी चतुर्वेदविषयसूची के अन्तर्गत ऋग्वेदविषयसूची में **जलादिपदार्थ-विद्या** विषय का निरूपण किया है।[2] इस तथाकथित संवाद सूक्त से पूर्व (ऋ० १०।९) का सूक्त का देवता **आपः** है। अतः इस सूक्त में पठित यमयमी का संबन्ध भी आपः के साथ होना युक्त है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त का ऋषि **यम** और ऋषि का **यमी** विवस्वान् के पुत्र और पुत्री हैं।

**विवस्वान् आदित्य है**। आदित्य की किरणों से पृथिवीस्थ जल तपकर दो भागों में बँट कर ऊपर जाता है।[3] ये दो भाग ही यम यमी हैं। एक योनि आपः से उत्पन्न होने के कारण भाई बहन हैं। इन्हें ही अन्यत्र मित्र और वरुण कहा है।[4] आधुनिक वैज्ञानिक नामावली में ये हाईड्रोजन और आक्सीजन गैसें हैं। हाईड्रोजन आक्सीजन की अपेक्षा हल्की होती है। अतः यम (हाईड्रोजन) अन्तरिक्ष स्थान से अतिक्रमण करता हुआ द्युलोक तक पहुंचता है। अतः यम को निघण्टु (५।४,६) में अन्तरिक्ष एवं द्यु दोनों स्थानों में पढ़ा है। यमी (आक्सीजन) भारी होने से अन्तरिक्ष स्थान तक ही गति करती है। स्त्री प्रत्यय महत्त्व अर्थ में भी होता

---

१. यमी यमं चकमे। तां प्रत्याचचक्ष इत्याख्यानम्।

२. द्र०—दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह, पृष्ठ १३२।

३. 'कृष्णं नियान हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति'।
ऋ० १।१६४।४७॥

४. उर्वशी = विद्युत् के संयोग से मित्र और वरुण का मिलन हुआ तो उससे द्रवरूप गिरा हुआ बिन्दु वसिष्ठ = जल उत्पन्न हुआ। 'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः' ऋ० ७।३३।११॥

है।[1] जब यम सूर्य की किरणों के साथ वापस लौटता है[2], तब अन्तरिक्ष में यमी के साथ विद्युत् के योग से यम का मेल होता है और उससे दोनों के मेल से पुष्कर (अन्तरिक्ष) से द्रव रूप वसिष्ठ (=अतिशय वासयिता =जल) की उत्पत्ति होती है।[3] इसे ही **आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि** (ऋ० १०।१०।१०) से सूचित किया है।

यमयमी सूक्त से पूर्व सूक्त में ही केवल आपः का वर्णन नहीं है, अपितु उत्तर के ११-१२-१३-१४ सूक्तों में भी प्रकारान्तर से यम द्रप्स घृतस्नू द्यावाभूमी का सम्बन्ध उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह दशवाँ सूक्त संदश (सडासी के दोनों छोर) के मध्य में पठित होने से जलविद्या-विषयक ही है। इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद-विषयसूची में **जलादिपदार्थविद्या** विषय का जो उल्लेख किया है, वह सर्वथा युक्त है। इसमें यमयमी के संवाद पक्ष में जो घृणित पक्ष उपस्थित किया जाता है, वह भी नहीं है। आवश्यकता है, स्वामी दयानन्द सरस्वती की दिव्य दृष्टि के अनुसार पूरे सूक्त की व्याख्या की।

स्वामी दयानन्द सरस्वती संकलित **चतुर्वेदविषयसूची** के आधार पर यमयमी सूक्त के संबन्ध में जो विचार प्रस्तुत किया गया है, उससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(क) वेदभाष्य रचने के उपक्रम से पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चारों वेदों की जो विषयसूची संकलित की थी, उसके लिये उन्होंने बड़ी गम्भीरता से पूर्वापर के सम्बन्ध को ध्यान में रखा था।

(ख) इस चतुर्वेदविषयसूची के आधार पर ऋग्वेद के शेष भाग, सामवेद तथा अथर्ववेद, जिनका वे अपने जीवन में भाष्य नहीं कर पाये, के सम्बन्ध में उनके मूलभूत मन्त्र-विषय का परिज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यह चतुर्वेदविषयसूची उनकी दृष्टि को समझने में विशेष सहायक है।

---

१. हिमारण्ययोर्महत्त्वे ॥ महाभाष्य ४।१।४९॥ महद् हिमं हिमानी, महदरण्यम् अरण्यानी। महत्त्वं=घनत्वम्।

२. 'त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते' ॥ ऋ० १।१६४।४७॥

३. द्र०—पूर्व पृष्ठ टि० ४ में उद्धृत मन्त्र का उत्तरार्ध—'द्रप्सं स्कन्नं दैव्येन ब्रह्मणा विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त' ॥ऋ० ७।३३।११॥

३. **ब्राह्मणग्रन्थ और वेद में इतिहास**—मन्त्रों में जो तथाकथित ऋषि नाम प्रतीत होते हैं, उनको ब्राह्मणग्रन्थों के प्रवक्ता लौकिकव्यक्ति-विशेषों के नाम नहीं मानते हैं। इस विषय में हम उदाहरणमात्र निर्देश करते हैं—

यजुर्वेद १३।५४-५८ तक प्रत्येक कण्डिका के उत्तरार्ध में **वसिष्ठ ऋषिः, भरद्वाज ऋषिः, जमदग्निर्ऋषिः, विश्वामित्र ऋषिः, विश्वकर्म ऋषिः** नाम प्रयुक्त हैं। इन पाँचों ऋषिनामों की व्याख्या शतपथब्राह्मण में इस प्रकार की है—

**वसिष्ठ ऋषिः** (यजुः १३।५४)—**प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः, यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद् वस्तृतमो भवति तेनो एव वसिष्ठः**.....।
श० ८।१।१।६॥

**भारद्वाज ऋषिरिति** (यजुः० १३।५५ प्रतीक) **मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं**.....**वाजं भरति तस्मान्मनो भारद्वाज ऋषिः**॥
श० ८।१।१।९॥

**जमदग्निर्ऋषिरिति। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः**॥ श० ८।१।२।३॥

**विश्वामित्र ऋषिरिति। श्रौत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रौत्रं विश्वामित्र ऋषिः**॥
श० ८।१।२।६॥

**विश्वकर्मऽऋषिरिति वाग् वै विश्वकर्मर्षिः। वाचा हीदꣳसर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षिः**.....। श० ८।१।२।८॥

यजुर्वेद ३।६२ में **त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्** में जमदग्नि और कश्यप का उल्लेख है। 'कश्यप' के विषय में शतपथ ७।५।१।५,७ में लिखा है, **कश्यपो वै कूर्मः। प्राणो वै कूर्मः।**

४. निरुक्त वेदार्थ के परिज्ञान में परमसहायक षडङ्गों में प्रधान है। इस वेदाङ्ग में प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप से लगभग ६०-७० इतिहासों एवं आख्यानों का यास्क ने उल्लेख किया है।

**तत्रेतिहासमाचक्षते** (बहुत्र), **इत्यैतिहासिकाः** (बहुत्र), **तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति** (४।६), **इत्याख्यानम्** (बहुत्र) इत्यादि रूप में प्रत्यक्षरूप से वेद में इतिहासों और आख्यानों का उल्लेख

किया है। अप्रत्यक्ष रूप से मन्त्रार्थ वर्णन करते हुए इतिहास और आख्यानों का संकेत बहुत्र मिलता है। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि क्या निरुक्तकार यास्क वेद में अनित्य इतिहास मानते थे।

इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि यास्क वेद को अपौरुषेय मानता है अथवा पौरुषेय? इस विषय में निरुक्त १।२ का निम्न सन्दर्भ विशेष महत्त्व का है—

**व्याप्तिमत्त्वात् तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्। पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।**

इसका अभिप्राय है—शब्द के सर्वत्र व्याप्त होने से तथा अणीय सूक्ष्म अभिप्राय को दर्शानेवाला होने से लोक में व्यवहारार्थ पदार्थों की संज्ञाएँ रखी जाती हैं। उन शब्दों का अभिधान मनुष्यों के समान देवताओं=मन्त्रों में है। पुरुष विद्या के अनित्य होने से कर्मों की सम्पत्ति (=पूर्णता) जिनसे होती है, ऐसे मन्त्र वेद में हैं।

लोक में शब्दों का जो संज्ञाकरण अर्थात् इस शब्द का यह अभिधेय है, ऐसा ज्ञान तो परम्परागत लोकव्यवहार से जाना जा सकता है, परन्तु वेद में किस शब्द का क्या अर्थ है, इसका ज्ञान कैसे होवे? अतः कहा है—**मनुष्यवद् देवताभिधानम्** (=देवतासु मन्त्रेषु अभिधानं मनुष्यवत्)। देवताशब्द से यहाँ तत्तद्देवताक मन्त्र अभिप्रेत हैं। अर्थात् लौकिक और वैदिक शब्द तथा उनके अर्थ समान हैं।[1] मनुष्य की विद्या=ज्ञान के अनित्य होने से **कर्मणां सम्पत्तिः सम्पन्नता येन भवति तादृशो मन्त्रः वेदे पठ्यते**=लौकिक वैदिक कर्मों की सम्पत्ति=सम्पन्नता जिससे होती है, वैसा मन्त्र वेद में पठित है।

यहाँ मनुष्य विद्या के अनित्यत्व के प्रतिपक्ष में वेद में पठित मन्त्र को कर्म की सम्पन्नता वाला कहा है। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार यास्क **वेद को अपौरुषेय** मानता है। वेद को अपौरुषेय माननेवाला व्यक्ति वेद में अनित्य इतिहास की सम्भावना कैसे स्वीकार कर सकता है। यदि कहो कि यास्क स्वयं तो वेद में इतिहास नहीं मानता, परन्तु जो व्यक्ति

---

१. मीमांसकों का भी यही मत है कि '**य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः, त एव च तेषामर्थाः।**' द्र०—मी० अ० १ पाद ३ के आकृत्यधिकरण (१०) के अन्तर्गत 'लोकवेदशब्दैकाधिकरण'।

वेद में इतिहास मानते थे, उनके मत से **इत्यैतिहासिका:** आदि का निर्देश किया है। हमारे विचार में यह कथन भी युक्त नहीं है। क्योंकि ऐसी अवस्था में स्वमत से विपरीत ऐतिहासिक मत की कहीं न कहीं आलोचना तो उन्हें करनी चाहिये थी। जैसे उन्होंने सब नामों को आख्यातज न माननेवालों की तथा मन्त्रों को अनर्थक सिद्ध कहनेवालों की आलोचना निरुक्त में विस्तार से की है। यत: वेद में इतिहास माननेवालों के मत की आलोचना कहीं नहीं की है, इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार ने मन्त्र-व्याख्या को स्पष्ट करने के लिये यत्र-तत्र जो इतिहास दर्शाया है, अथवा **इत्यैतिहासिका:** कहकर ऐतिहासिकों का मत दर्शाया है, वहाँ सर्वत्र इतिहास पद का तात्पर्य शब्दप्रमाणान्तर्गत **इति ह आस** अर्थ का वाचक नहीं है।

महाभारत में बहुत्र **अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्** अथवा **अत्र चैवोदाहरन्तीमम्** लिखकर पशु-पक्षियों की कहानियाँ उद्धृत की हैं। उनसे ज्ञात होता है कि इतिहास शब्द का प्रयोग वहाँ भी किया जाता है, जहाँ किसी कहानी के लिये भूतकाल की क्रिया का प्रयोग किया जाता है। अत: ऐसा इतिहास सादृश्योपाधि से इतिहास कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इन स्थानों में इतिहास पद औपचारिक अर्थात् गौण है।

महाभारत में कहा गया है--**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्** (आदि १।२।६७) अर्थात् इतिहास और पुराणों के सहयोग से वेदार्थ को विस्पष्ट करे। **बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति** (आदि० १।२६८) अर्थात् वेद अल्पश्रुत व्यक्ति से डरता है कि मेरा यह नाश कर देगा।

निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने निरुक्त ७।२६ में निर्दिष्ट विश्वकर्मा भौवन संबन्धी इतिहास की व्याख्या के प्रसङ्ग से नैरुक्तों द्वारा यत्र-तत्र उद्धृत '**इतिहास**' की परिभाषा इस प्रकार स्पष्ट की है—

**एतस्मिन्नर्थे 'इतिहासमाचक्षते' आत्मविद इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण। य: कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वाऽर्थ आख्यायते दिष्ट्युदितार्थाविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहास: सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थ:, तदर्थप्रतिपत्तुणामुपदेशपरत्वात्।**

आनन्दाश्रम, पूना संस्करण भाग २, पृष्ठ ८५८।

अर्थात् 'विश्वकर्मा' (ऋ० १०।८२।२) में कहे गये अर्थ के विषय में परकृतिरूप अर्थवाद से आत्मविद् इतिवृत्त कहते हैं। 'जो कोई आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक दृष्टि से उदित (=किसी सुकृत से

अकस्मात् विज्ञात) अर्थ को प्रकट करने के लिये कहा जाता है, वह इतिहास कहा जाता है, यह सब प्रकार का इतिहास नित्य है, स्व अर्थ की विवक्षा से रहित होता है, उस अर्थ को जाननेवालों के लिये उपदेशपरक होने से।'

मीमांसकों का भी यही मत है कि अर्थवादों का स्व अर्थ विवक्षित नहीं होता है अर्थात् स्वार्थ में उनका प्रामाण्य नहीं होता है, उनका प्रयोजन विधि की स्तुति वा निन्दामात्र होता है—**अर्थवादानां स्वार्थेऽप्रामाण्यम्, स्तुतिनिन्दापरत्वात्**।

दुर्गाचार्य द्वारा स्पष्टीकृत इतिहास के प्रयोजन का ही निरुक्तकार यास्क आख्यान के प्रसङ्ग से उल्लेख करते हैं—**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता** (निरु० १०।१०।४६)।

अर्थात्—जिसने मन्त्रार्थ को देख लिया=जान लिया है, उस ऋषि की स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को अन्यों को सुगमता से बताने के लिये कहानी के रूप में प्रतिपादन करने में प्रीति होती है। अर्थात् किसी गूढ विषय को जाननेवाला जब कहानी के माध्यम से उसको अन्यों को बताता है, तब साधारण जन भी उस तात्पर्य को यथावत् समझ लेते हैं।

इस आख्यानसंयुक्त प्रीति का उत्कृष्टतम उदाहरण है—पञ्चतन्त्र ग्रन्थ। इसमें विष्णुशर्मा ने मूर्ख राजपुत्रों को राजनीति के सन्धि विग्रह आदि के गूढ रहस्यों को समझाने के लिये पशु-पक्षियों की कहानी का आश्रय लिया है।

**इतिहास और आख्यान में भेद**—निरुक्तकार यास्क ने कहीं इतिहास पद का प्रयोग किया है तो कहीं आख्यान का। दोनों पदों के विभिन्न प्रयोगों को देखने से विदित होता है कि जहाँ मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने के लिये मानव से सम्बद्ध कथानक का आश्रय लिया है, वहाँ इतिहास शब्द का प्रयोग किया है और जहाँ मानव से भिन्न कथानक का आश्रय लिया है, वहाँ आख्यान शब्द का व्यवहार किया है, परन्तु कहीं-कहीं सांकर्य भी देखा जाता है। यथा निरुक्त १२।१० में **'अपागूहन्'** मन्त्र के व्याख्यान में **तत्रेतिहासमाचक्षते** कहकर त्वाष्ट्री सरण्यू और विवस्वान् से यम यमी युगल की उत्पत्ति कहकर उत्तर खण्ड (११) में **महो जाया विवस्वतो ननाश** की व्याख्या में कहा है—**महतो जाया विवस्वतो ननाश रात्रिरादित्यस्य आदित्योदयेऽन्तर्धीयते**। इसी प्रकार यम यमी संवादसूक्त (ऋ० १०।१०) की १४वीं ऋचा के व्याख्यान के अन्त में यास्क ने

लिखा है—**यमी यमं चकमे। तां प्रत्याचचक्ष इत्याख्यानम्**। निरुक्त ११।३४॥

अब हम यास्क के द्वारा निर्दिष्ट इतिहासों में से दो चार इतिहासों के सम्बन्ध में विचार करते हैं—

**देवापि शन्तनु विषयक इतिहास**—निघण्टु १।३ में पठित अन्तरिक्ष नामों में एक नाम 'समुद्र' भी है। लोक में समुद्र शब्द पार्थिव समुद्र के लिये प्रसिद्ध है। इन दोनों समुद्रों के विभागों को दर्शाने के लिये यास्क **स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि** (ऋ० १०।९८।५) उत्तरार्ध वाली ऋचा को प्रस्तुत करना चाहते हैं। इस ऋचा में देवापि द्वारा यज्ञ में अन्तरिक्षस्थ उत्तर समुद्र से अधर=पार्थिव समुद्र के प्रति वर्षा के जल को बरसाने का उल्लेख है। इसी अभिप्राय को विशेषरूप से स्पष्ट करनेवाली अगली ऋचा उदाहृत की है। उसमें देवापि का शन्तनु के लिये यज्ञ में वरण करने का उल्लेख है। तात्पर्य यह है कि ऋ० १०। ९८ सूक्त में शन्तनु के द्वारा पुरोहित रूप से वरण किये देवापि ने दिव्य जल बरसाये। यास्क ने महाभारत में प्रसिद्ध देवापि और शन्तनु के आख्यान को ध्यान में रखकर **कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः** का उल्लेख किया। जब कि यहाँ देवापि के पिता का नाम ऋष्टिषेण है और महाभारत में प्रतीप है। महाभारत में देवापि का धर्म-कामना से अरण्य में जाने का उल्लेख है, परन्तु यास्क ने मन्त्रार्थ के अनुकूल कथानक को मोड़ने के लिये 'शन्तनु बड़े भाई देवापि की उपेक्षा कर स्वयं राजा बन गया' अंश कल्पित किया। इसी अधर्माचरण से बारह वर्ष अकाल पड़ने और देवापि द्वारा पुरोहित बनकर वर्षा बरसाने की भूमिका तैयार की (यह अंश महाभारत में नहीं है)। अर्थात् काशकुशावलम्बन न्याय से मन्त्रस्थ देवापि और शन्तनु दोनों नाम कुरुकुल में दो भाईयों के उपलब्ध हो गये, उनका आश्रय लेकर मन्त्रार्थ के स्पष्टीकरण के लिये तदनुकूल पीठिका की कल्पना कर ली।

वस्तुतः यह सूक्त आधिदैविक वृष्टिरूप यज्ञ की प्रवृत्ति का व्याख्यान करता है। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्व संकलित ऋग्वेद-विषय-सूची में इस सूक्त के [अष्टक ८, अध्याय ५ के १२-१३वें] दो वर्गों के क्रमशः **बृहस्पत्यादि पदार्थ विद्या** और **अग्निस्तुति-वृष्ट्यादि-पदार्थविद्या** विषय लिखे हैं। वास्तव में इस सूक्त में किन्हीं देवापि शन्तनु और बृहस्पति नामधारक लौकिक व्यक्तियों का आख्यान नहीं है। देवापि

विद्युत् है, शन्तनु नाम वृष्टिरूप उदक का है। देवापि को पुरोहित इसलिये कहा है कि पहले विद्युत् चमकती है तत्पश्चात् वृष्टि होती है।[1] इसी भाव को यास्क ने निरुक्त २।१६ में दर्शाया है—**अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते**।

वेद में इतिहास की सिद्धि के लिये प्रवृत्त मैकडानल को भी यह सत्य स्वीकार करना पड़ा, यह हम पूर्व (पृष्ठ १६६-१६८) विस्तार से उद्धृत कर चुके हैं।

इसी अध्याय के १५वें खण्ड में दिङ्नामों में पठित (निघण्टु १।६) 'काष्ठा' पद के अनेक अर्थों का उल्लेख करते हुए यास्क ने आपः वाचक काष्ठा के स्थावर और अस्थावर[2] भेद को दर्शाने के लिये अस्थावर काष्ठाओं के विषय में १६वें खण्ड में मन्त्र उद्धृत किया है—**अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानाम्**···(ऋ० १।३२।१०)। इस मन्त्र के उत्तरार्ध का पाठ है—**वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः**। इस मन्त्र में कहा गया है कि मेघरूप से विचरते हुए काष्ठाओं के मध्य मेघरूप शरीर स्थित है। वृत्र के निण्य=निर्णाम=नीचे झुकना नीचे गिरना को आप जानते हैं। इन्द्रशत्रु=इन्द्र है शत्रु शातयिता नष्ट करनेवाला जिनका, ऐसा वृत्र अपने शरीर की वृद्धि से अन्धकार को उत्पन्न करता है। अर्थात् विचरते हुए मेघ नीचे झुक के अन्धकार को फैलाते हैं। उस अवस्था में इन्द्र=विद्युत् मेघ को छिन्न-भिन्न करके जल बरसाता है।

सर्ग के आरम्भ में कश्यप की पत्नी अदिति के पुत्र देवों और दिति के पुत्र दैत्यों=दनु के दानवों=असुरों के जो दायभाग के निमित्त १२ देवासुर संग्राम हुए थे, उनमें अन्यतम इन्द्र और त्वष्टा के पुत्र वृत्र के मध्य हुआ था। इसमें इन्द्र ने वृत्र को मारा था। ऐसा ऐतिह्य पुरातन ग्रन्थों में मिलता है। इस मन्त्र में वृत्र और इन्द्रशत्रु का नाम श्रुत होने

---

१. देवापिर्विद्युत् शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्। यदा देवापिर्वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते, पश्चादुदकं·····। स्कन्द निरुक्त टीका, भाग २, पृष्ठ ७०।

२. क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति इति स्थावराणाम्(=क्रान्त्वा गत्वा जलाशयमेताः स्थिता भवन्ति)। अस्थावरकाष्ठा आपः क्रामन्त्येव न क्वचित्तिष्ठन्ति। द्र०—दुर्ग व्याख्या निरुक्त २।१५।।

से यास्क ने **तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः** का ऐतिहासिक मत उद्धृत किया है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि मन्त्र में वृत्र का तो निर्देश है परन्तु उसे त्वष्टा का पुत्र नहीं कहा है। इसके विपरीत इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में **त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष** (=त्वष्टा ने इन्द्र के लिये प्रकाशमान=चमकीले वज्र का निर्माण किया था) उल्लेख मिलता है। वज्र इन्द्र का आयुध है। अतः वह वज्री कहाता है। इसी का अपभ्रंश बिजुली वा बिजली है।

वस्तुतः इसमें वृष्टि विद्या का प्रतिपादन है। इसी का उल्लेख **अपां ज्योतिश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते** (=मेघरूप अपों के और विद्युत्रूप ज्योति के मिश्रीभाव क्रिया से वृष्टि होती है) में है। ऐसी अवस्था में मन्त्रों में जो इन्द्र वृत्र का युद्धवर्णन प्रतीत होता है, इसके विषय में यास्क ने कहा है—**तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति** (२।१६) अर्थात् उपमारूप से युद्ध का वर्णन है।

यह औपमिक युद्धवर्णन केवल इन्द्र वृत्र के रूप में ही नहीं कहा गया है, अपितु इन्द्र और अहि के रूप में भी मन्त्रों और ब्राह्मणों में कथन उपलब्ध होता है। यथा—अहि ने शरीर की वृद्धि से जलों के स्रोतों को रोक दिया। जब इन्द्र ने अहि को मारा तो जल प्रसृत होने लगे अर्थात् बरसने लगे।[1] इस अर्थ को कहनेवाली ऋचा इस प्रकार है—

**दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।**
**अपां बिलं यदपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार॥**
ऋ० १।३२।११॥

शतपथ के भाष्यकार हरिस्वामी ने **वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये** वचन को उद्धृत करके कहा है—

**वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये इत्यादि तदपि नैरुक्तदिशा प्रवाहनित्यमेव विद्युदादिव्यवहारवाचित्वेन। ऐतिहासिकदिशां वा सर्ववृत्तान्तानामेव शीतोष्णवर्षाद्यावर्तवद् यथाकालिकवर्तमानानां अनाद्यनन्तानां वेदेन कर्म-**

---

१. अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः। निरुक्त २।१६॥

**काले अतीतरूपेण प्रतिपादनाददोषः**। हस्तलेख[1] पृष्ठ १४।

अर्थात्—'वृत्र इस सबको आच्छादित करके सो गया' इत्यादि वचन भी नैरुक्त मतानुसार प्रवाह से नित्य विद्युदादि व्यवहारवाचक ही हैं। ऐतिहासिक दिशावाले सब वृत्तान्तों का ही शीत उष्ण वर्षा के समान यथाकाल वर्तमान आदि अनन्तों का वेद के द्वारा कर्मकाल में अतीतरूप से प्रतिपादन होने से दोष नहीं है।[2]

वस्तुतः वेद में तथा ब्राह्मणग्रन्थों में जो देवासुर संग्राम लक्षित होता है वह, वह नहीं है जो इतिहास वा अन्वाख्यान में कहा गया है। इसीलिये देवों और असुर की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में शतपथ ११।१।६।९ में कहा है—**तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्देवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्**।

निरुक्त ४।६ में **सं मा तपन्त्यभितः** (ऋ० १।१०५।८) मन्त्र के व्याख्यान के अन्त में लिखा है—**त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति** अर्थात् जिस सूक्त में **सं मा तपन्त्यभितः** मन्त्र आया है, वह सूक्त कुएँ में पड़े हुए त्रित को प्रतिभासित हुआ। वहाँ ब्रह्म = वेद इतिहास मिश्रित, ऋङ्मिश्रित और गाथामिश्रित है।

निरुक्तकार के उक्त लेख पर विचार करने से पूर्व त्रितविषयक इतिहास पर ध्यान देना आवश्यक है। बृहद्देवता (३।१३२-१३७) के अनुसार 'गौवों को ले जाते हुए त्रित को सालावृकी के शूरवीर पुत्रों ने कुएँ में गिराकर उसकी गौवों का अपहरण कर लिया। कुएँ में गिरे हुए मन्त्रवित्तम त्रित ने सोम का अभिषव किया। उसने देवों का आह्वान किया। किसी ने उसकी नहीं सुनी। बृहस्पति ने उसके आह्वान को सुनकर बृहस्पति से प्रेरित देवों ने उसके यज्ञ में आकर अपना-अपना भाग ग्रहण किया। और त्रित का कूप से उद्धार किया।'

सायणाचार्य ने शाट्यायिनों के द्वारा उक्त इतिहास इस प्रकार

---

१. यह हस्तलेख 'रामलाल कपूर ट्रस्ट (बहालगढ़)' के पुस्तकालय में विद्यमान है।

२. हमने पूर्व पृष्ठ १८५ पर इस मत का पौराणिक इतिहासवाद के रूप में उल्लेख किया है और उसमें दोष दर्शाया है। उक्त हरिस्वामी के उद्धरण में जो 'अदोष' कहा है, वह केवल प्रवाहनित्यत्व को लेकर ही कहा गया है।

वर्णित किया है—पुराकाल में एकत द्वित और त्रित नाम के तीन ऋषि भ्राता हुए थे। उन्होंने कभी मरुभूमि के अरण्य में वर्तमान पिपासा से सन्तप्तगात्र होकर एक कुएँ को उपलब्ध किया (देखा)। उनमें से एक त्रित नामवाला जल पीने के लिये कुएँ में उतरा। स्वयं जल पीकर अन्य दोनों भाइयों को पिलाने के लिये कुएँ से जल लाकर दिया। वे दोनों (एकत द्वित) त्रित को कुएँ में गिराकर उसके सब धन का अपहरण कर कुएँ के मुख को रथचक्र से ढककर चले गये। तदनन्तर कुएँ में गिरे हुए त्रित ने निकलने में असमर्थ होकर सब देवों को 'मेरा उद्धार करो' ऐसा मनसा स्मरण किया।

उक्त दोनों इतिहासों में आकाश पाताल का अन्तर है। बृहद्देवता के अनुसार सालावृकी के पुत्रों ने त्रित को ढकेला और शाट्यायन ब्राह्मण के अनुसार त्रित के ज्येष्ठ भाइयों एकत द्वित ने कुएँ में गिरा दिया। दोनों में इतना हा साम्य है कि त्रित को कुएँ में गिराया और उसने रक्षा के लिये देवों को पुकारा। इस साम्य का कारण केवल मन्त्र में आए हुए **त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये** (ऋ० १।१०५।१७) पद हैं। क्यों गिराया, इसकी कल्पना में कुछ न कुछ कारण लिखना ही था अतः 'गौ वा धन के अपहरणरूप' में साम्यता है। यदि किसी त्रित नामक व्यक्ति का इस सूक्त में इतिहास होता तो उसमें एकरूपता होनी चाहिये थी। तभी वह **'इति अ हास'** पदवाच्य हो सकता था। इसलिये सूक्त में किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास नहीं है अपितु सूक्त के तात्पर्य को समझाने के लिये **त्रितः कूपेऽवहितः** के आधार पर कहानियाँ घड़ी गईं।

ऋक्सर्वानुक्रमणी में त्रित को आप्त्य कहा है—**चन्द्रमा एकोनाऽप्त्यस्त्रितो वा** (१।१०५)। त्रित के अपों के पुत्र होने की और उसके एकत द्वित भाईयों की कथा का मूल है—यजुर्वेद १।२३ मन्त्र के अन्त में पठित **त्रिताय त्वा द्विताय त्वा एकताय त्वा** अंश की याज्ञिक प्रक्रिया। दर्शपूर्णमास में पुरोडाश के पिसे अंश को पात्री में लेकर उसको गरम जल से संयवन (मिलाने=गूँथने) का विधान है। इस कार्य में पात्री में तथा अध्वर्यु की अँगुलियों में हवि का कुछ अँश लग जाता है। पात्री में तथा अँगुलियों में लगे अँश को धोने के जल को कुछ गरम करके वेदि की उत्तर दिशा में स्फ्य से पूर्व पश्चिम में खींची तीन रेखाओं पर क्रमशः **त्रिताय त्वा द्विताय त्वा एकताय त्वा** मन्त्रों से तीन वार छोड़े।

इस क्रिया में मन्त्र के तीनों अँशों का पात्री और अँगुलियों के धुले हुए जल के साथ सम्बन्ध है। उसकी दृष्टि से एकत द्वित त्रित को अपों का पुत्र बताने की काल्पनिक आख्यायिका की शतपथ १।२।३ के आप्त्य ब्राह्मण में तथा तै० ब्रा० ३।२।८ में कल्पना की गई है। यह इस आख्यायिका के वर्णन से ही स्पष्ट है।

निरुक्त ९।२४ में **यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्** (ऋ० १।१८७।१) के व्याख्यान **यस्य त्रितो ओजसा बलेन त्रितस्त्रिस्थानो इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति** में त्रित को त्रिस्थानीय इन्द्र कहा। यजुर्वेद १२।१६-२० में अग्नि को त्रिस्थानीय कहा है। ऋ० १०।८८।१० में भी अग्नि के त्रेधाभाव का उल्लेख है। यास्क ने निरुक्त ७।१८ में शाकपूणि आचार्य के मत में पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में तीन रूप से वर्तमान होने का उल्लेख किया है।

त्रित इन्द्र है। नैरुक्तों के मत में इन्द्र विद्युत् है। उसकी उत्पत्ति मेघों के घर्षण से होती है। बिजली में तीन अंश होते हैं—चमक, दाह और शब्द। इन्हीं के अनुसार बिजली के क्रमशः तीन नाम हैं—उल्कुषी, स्तनयित्नु वा मदयित्नु। बिजली ही इन्द्र का वज्र है। अतः वज्र के तीन अंश ही एकत द्वित और त्रित हैं। ऐसी कल्पना इनके आप्त्य होने में स्वीकार्य हो सकती है।

निरुक्तकार ने त्रित का निर्वचन **तीर्णतमो मेधया बभूव** (४।६) किया है। इसका अर्थ है—जो मेधा (बुद्धि) से पार हो गया था। इसके साथ ही याज्ञिक सम्प्रदाय को ध्यान में रखकर **अपि वा सांख्यानामेवाभिप्रेतं स्यात्। एकतो द्वितः त्रित इति त्रयो बभूवुः।**

**त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये** (ऋ० १।१०५।१७) मन्त्र की दृष्टि से ही यास्क ने **त्रितं कूपे पतितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ** (=कुएँ में पड़े हुए त्रित को यह सूक्त प्रतिभासित हुआ) लिखा है और इसी दृष्टि से उसका निर्वचन **त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव** किया है। इस व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर ही स्कन्द स्वामी ने **सं मा तपन्त्यभितः** (निरुक्त ४।६) में व्याख्यात मन्त्र के विवरण में लिखा है—

**नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षणः, कर्मपाशैस्त्रिः स्वर्गनरकमर्त्येषु बद्धः कश्चित् क्षेत्रज्ञः। कर्मज्ञानसमुच्चयाभावादपवर्गमनाप्नुवन् नरके घटीयन्त्रवद् संघटिते सारे बम्भ्रम्यमाणः परिदेवयाञ्चक्रे। सन्तापयन्ति मां पुनर्मातुरुदरे मग्नमशुचिप्रस्तरके पुरीषजन्तुजालके यकृल्लोमावष्टम्भादेर्विभक्तोच्छ्वासं बीभत्समानमसृकपङ्कमध्यशायिनं तमसि निरालोके**

**संवर्त्तमानमभितो मातुः पर्शव इव तल्पस्थस्य च मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माद्यः सम्यग् दर्शनविषयाः कामा असम्पद्यमानाः। परं समानयोजनम् ...।**[1]
(स्कन्द नि० टी० भा० २, पृ० २१०, २११)।

भाव यह है कि 'नित्यपक्ष में त्रित नाम है किसी 'क्षेत्रज्ञ' (जीव) का। जो कर्मपाशों के द्वारा स्वर्ग, नरक और मर्त्यलोक इन तीनों में तीनों बार बन्धता है (अर्थात् आता जाता है)। कर्म और ज्ञान के समुच्चय के न होने से मोक्ष को प्राप्त न होता हुआ घटीयन्त्र की भाँति सदैव रहनेवाले संसार में भटकता हुआ दुःखित हुआ अपवित्रता से पूर्ण, मल के आगार, माता के उदर में मग्न हुए यकृल्लोमादि में फँसे, जिसका श्वास भी ठीक अवस्था में नहीं, गर्ह्य, रक्तरूपी पङ्क में फँसे, घोर अन्धकार में पड़े, मुझको असम्पद्यमान (अपूर्ण) कामनायें मूष (चूहे) की भाँति काटती चली जा रही हैं.....इत्यादि आगे पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिए ॥'

इस प्रसङ्ग में एक बात और ध्यान देने योग्य है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त का ऋषि त्रित आप्त्य तथा कुत्स आङ्गिरस है—**चन्द्रमा ऐकोनाप्त्यस्त्रितो वा।** यहाँ पूर्वानुवर्तमान कुत्स आङ्गिरस के साथ त्रित आप्त्य को ऋषि कहा है। ऐतिहासिक पक्ष में इस सूक्त के दो रचयिता नहीं हो सकते। 'वा' शब्द यहाँ समुच्चयार्थक है। त्रित का कूप में गिरने का उल्लेख इस सूक्त के १७वें मन्त्र में साक्षात् निर्दिष्ट है। ऐसी अवस्था में कुत्स का निर्देश कैसे उपपन्न होगा? सम्भवतः यह शङ्का सायणाचार्य को अवश्य हुई होगी। अतः उसने इस सूक्त के आरम्भ में सर्वानुक्रमणी के वचन की व्याख्या करते हुए लिखा है—**तथा चोभयोः कूपनिपात आम्नायते—त्रितः कूपेऽवहित (ऋ० १।१०५।१७) इति, काटे निबाह्व ऋषिरह्वदूतये (ऋ० १।१०६।६) इति च।** अर्थात् त्रित और

---

१. द्रष्टव्य—मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्सुहृदस्तथा ॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः।
सांख्यं योगं समभ्यस्येत् पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥
निरुक्त १४।६॥

कुत्स दोनों का कूएँ में गिरना कहा गया है। **त्रितः कूपेऽवहितः** (ऋ० १।१०५।१७) में त्रित का, तथा **काटे निबाह्व ऋषिरह्वदूतये** (ऋ० १।१०६।६) में कुत्स का। कुत्स के कुएँ में गिरने का उल्लेख अगले सूक्त में स्वीकार करने पर भी प्रकृत सूक्त का वह ऋषि कैसे हो सकता है? क्योंकि इस सूक्त में तो त्रित के ही कुएँ में गिरने का उल्लेख है।

इस प्रकार निरुक्त में निर्दिष्ट इतिहास को **इति+ह+आस** (वास्तविक) मानने पर अनेक दोष उपस्थित होते हैं। अतः निरुक्तकार ने जहाँ भी कहीं इतिहास का साक्षात् वा असाक्षात् निर्देश किया है, मन्त्रार्थ को सुगमता से समझाने के लिये कल्पित कथानक है। अतः उसे **इतिहास इव इतिहासः** समझना चाहिये। इसीलिये स्कन्दस्वामी ने निरुक्त टीका भाग २, पृष्ठ ७३ पर लिखा है—**सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलभूताः। ते चान्यपरा विधिशेषभूताः**। अर्थात्—सब इतिहास अर्थवादमूलभूत (=अर्थवाद से कहे गये) अन्यार्थपरक विधि के शेषभूत हैं। इतिहासों की अर्थवादमूलकता और विधिशेषभूतता पूर्वनिर्दिष्ट आप्त्य एकत, द्वित, त्रित के इतिहास से स्पष्ट है।

अब शेष रहता है—**तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति**। इसका तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत सूक्त इतिहासमिश्रित, ऋङ्मिश्रित और गाथामिश्रित है। इतिहास से अभिप्राय परोक्षभूत क्रिया से किसी तत्त्व का कथन युक्त, ऋक् अर्थात् स्तुतियुक्त तथा गाथा प्रशंसापरक है। सम्पूर्ण सूक्त ऋग्रूप (=पादबद्ध) ही है अतः ऋङ्मिश्र का अर्थ स्तुतियुक्त ही हो सकता है।

अब प्रसङ्गात् दो तीन उदाहरण निरुक्तनिर्दिष्ट आख्यानों के भी उपस्थित करते हैं—

निरुक्तकार यास्क ने ५।२१ में **अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य** (ऋ० १।११७।१६) मन्त्र के तात्पर्य को व्यक्त करने के लिये लिखा है—**आह्वयद् उषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता। तामश्विनौ प्रमुमुञ्चतुः। इत्याख्यानम्**। अर्थात् आदित्य से ग्रस्त वर्तिका नित्यक्रम से वर्तनशील उषा ने अश्विनौ की स्तुति की। दोनों अश्विनौ ने उस उषा को आदित्य के मुख से छुड़ाया।[1] यह आख्यान है।

---

१. सायणाचार्य के अर्थ के अनुसार 'वृक=भेड़िये के मुख में दबाई हुई चिड़िया ने अश्विनौ की स्तुति की। अश्विनौ ने वृक के मुख से चिड़िया को बचाया' मन्त्र का तात्पर्य है।

यहाँ उषा और आदित्य दोनों आधिदैविक देवता हैं। अश्विनौ भी आधिदैविक दो देव हैं। ये अश्विनौ हैं—अर्धरात्रि के पश्चात् क्षीयमाण तमः और प्रवर्धमान प्रकाश (निरुक्त १२।१)। इससे यह स्पष्ट है कि इस मन्त्र में अश्विनौ का आदित्य से ग्रस्त उषा को छुड़ाने का कहानी रूप में वर्णन है। यह कोई यथार्थ कहानी नहीं है।

यास्क ने मध्यमस्थाना 'सरमा' के व्याख्यान में **किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानट्** (ऋ० १०।१०८।१) मन्त्र के व्याख्यान के अन्त में लिखा है—**देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूचे। इत्याख्यानम्** (निरुक्त ११।२५)।

सरमाविषयक आख्यान इस प्रकार है—इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति की गौवों को 'वल'[1] नामक असुर के पणि नाम के वीरों ने अपहरण करके उन्हें गुहा में बन्द कर दिया। बृहस्पति से प्रेरित इन्द्र ने गौवों के अन्वेषण के लिये सरमा नाम की देवशुनी (=देवों की कुतिया) को भेजा। सरमा ने शतयोजन विस्तीर्ण नदी को पार करके वलपुर में पहुंचकर गुप्त स्थान में छिपाई गई गौवों को देखा। सरमा और पणियों का जो परस्पर संवाद हुआ, उसका वर्णन ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०८वें सूक्त में है।

देवशुनी सरमा विषयक यह आख्यान कुछ भेद से बृहद्देवता ८।२४-३६ में आया है। शाटचायन[2] ब्राह्मण में भी कुछ भेद से मिलता है।

---

१. वेद में प्रयुक्त 'वल' अन्तोदात्त निघण्टु १।१० में मेघ नामों में पढ़ा है। इसी प्रकार आद्युदात्त 'बल' शब्द भी वेद में बहुधा उपलब्ध होता है। दन्त्योष्ठ्य वकार का ओष्ठ्य बकार के रूप में उच्चारण बंगाल, असम उड़ीसा के निवासी प्रायः करते हैं। इसी दोष के कारण शब्दकल्पद्रुम जैसे कोष में अनेक दन्त्योष्ठ्य (वकारादि) शब्द ओष्ठ्यादि (बकारादि) प्रकरण में तथा ओष्ठ्यादि दन्त्योष्ठ्यादि प्रकरण में दिये गये हैं। वैदिकसंहिताओं में ऐसा घपला न हो जावे, इससे बचने के लिये किसी प्राचीन आचार्य द्वारा प्रोक्त अथर्ववेद का **दन्त्योष्ठ्यविधि** नाम का परिशिष्ट मिलता है। उसमें लिखा है—**आद्युदात्ते बले बाणे बिलशब्दे तथैव च।** अर्थात् आद्युदात्त बल शब्द में, तथा बाण और बिल शब्द में बकार है। इसका तात्पर्य है है अन्तोदात्त दन्त्योष्ठ्यादि=वकारादि है। यह एक निदर्शन है, प्राचीन आचार्यों द्वारा वेद की रक्षा के उपायों का।

२. नीतिमञ्जरी, पृष्ठ ४०।

यदि इस आख्यान को वास्तविक माना जाये तो देवों की कुतिया ने पणियों के साथ संवाद कैसे किया होगा ? अतः यह आख्यान प्रकृत सूक्त के मध्यमस्थानीय सरमा के तात्पर्य को संकेतित करने के लिये कल्पित किया गया है (द्र०—निरुक्त की दुर्ग वा स्कन्द स्वामी की टीकायें)। यहाँ एक बात और विचारणीय है। प्रकृत सरमा-पणि संवाद में पणि नाम के असुर कहे गये हैं और निरुक्त २।१७ में **पणिनेव गावः** की व्याख्या में पणि नाम बनिये का स्वीकार किया है—गौवों का विक्रेता जैसे गायों को बाड़े में घेरकर या बन्द करके रखता है, तद्वत् मेघों ने जलों का रोका हुआ है। असुरनाम निघण्टु १।१० में मेघ नामों में पठित है।

पुराकाल में वैदिक तथाकथित इतिहासों वा आख्यानों का प्रयोजन किसी वैदिक गूढ तत्त्व को कहानी के रूप में समझाने का था, परन्तु गत ५ सहस्र वर्षों में वैदिक परम्परा के लुप्त वा विकृत हो जाने से वर्तमान वेदाध्येताओं के लिये गले की फाँसी के समान बन गये। पाश्चात्य विद्वानों ने अपने तथाकथित शोध के द्वारा इस फाँसी के फन्दे को और कसा। ऐसे समय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने समय में उद्घोषणा की कि वेद में किसी भी व्यक्ति देश जाति आदि का इतिहास नहीं है। उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कतिपय वैदिक आख्यानों के वास्तविक स्वरूप को प्रकट किया।

**वैदिक इतिहासों वा आख्यानों का एक अन्य प्रयोजन**—विक्रम की १६वीं शती के प्रारम्भ में लब्धजन्मा **द्या द्विवेद** नाम के वैदिक विद्वान् ने सं० १५५० में **नीतिमञ्जरी** नामक एक ग्रन्थ की रचना की। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी नीतियों का वर्णन किया है। इसमें लगभग १६० इतिहास वा आख्यानपरक मन्त्रों को आधार बनाकर तत्तत् नीतिवचनों को संग्रथित किया है। इसका क्रम है—सुभाषित-विषयक अवतरणिका, सुभाषित श्लोक, सुभाषित की आख्यानानुकूल व्याख्या, वैदिक आख्यान से संबद्ध मन्त्रपाठ, पदपाठ तदनन्तर आख्यान-संयुक्त मन्त्र की व्याख्या तथा ग्रन्थान्तरों में वर्णित आख्यानों के उद्धरण।

इस प्रकार द्या द्विवेद ने ऋग्वेद के लगभग १६० मन्त्रों के विषय में जो वैदिक ग्रन्थों में आख्यान उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर विभिन्न नीतिविषयक सुभाषितों की रचना की है। हमने ऊपर जो देवशुनी सरमा

विषयक आख्यान लिखा है उसके आधार पर द्या द्विवेद ने ऋ० १।६२।३ **इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ** मन्त्र के प्रसङ्ग में —

**तत्त्वविदपि संसारान्न मुच्यत इत्याह—**
**तत्त्वविदपि संसारे मूढो भवति लोभतः ।'**
**तत्त्वज्ञा सरमाऽयाचदिन्द्रमन्नं गवां ग्रहे ॥२२॥**

इसका पाठान्तर[1] है—

**संसारे मायया सर्वं पीड्यत इत्यर्थं आह—**
**संसारे गहने सर्वं मायया बाध्यते जगत् ।**
**तुजे शुने ययाचेऽन्नं सरमा ब्रह्मवादिनी ॥** पृष्ठ ४० ॥

सुभाषित रचा और उसकी मन्त्र तथा इतिहास सहित व्याख्या की ।

इसी प्रकार ऋ० १०।१०८।९ की ऋचा **एवा च त्वं सरम आजगन्थ** के प्रसङ्ग में—

**असद्भिमैत्रीं न कुर्यादित्यर्थमाह—**
**वक्रैः क्रूरतरैर्लुब्धैर्न कुर्यात् प्रीतिसेवनम् ।**
**असुरैः पणिभिर्नेच्छन्मैत्रीं हि सरमा पुरा ॥** पृष्ठ ३३६ ।

सुभाषित की रचना की और उसकी मन्त्र तथा इतिहास सहित व्याख्या की ।

वैदिक तथाकथित इतिहासों वा आख्यानों के आधार पर सुभाषित की रचना द्या द्विवेद का एक ऐसा प्रयास है, जिसके अनुरूप विस्तृत वैदिक वाङ्मय में कोई अन्य ग्रन्थ नहीं मिलता । यदि विविध धर्म, अर्थ काम और मोक्ष पुरुषार्थचतुष्टय सम्बन्धी नीतियों का उपदेश करना इन तथाकथित इतिहासों वा आख्यानों का प्रयोजन मान लें तो ये तथाकथित वैदिक इतिहास वा आख्यान अर्थवान् बन जाते हैं और इनका स्वार्थ (=जो शब्दों से अर्थ विदित होता है) उनमें स्वतः समाप्त हो जाता है । यह स्थिति मीमांसकों के **अर्थवादानां स्वार्थे प्रामाण्यं न, विधेः स्तुतिपरत्वात्** के अनुरूप है ।

---

१. 'मन्त्रनिदानद्वारेण धर्मोऽयमत्र दर्शितो ज्येष्ठे तिष्ठति कनीयसो राज्यप्राप्ति-र्धर्मातिक्रमो धर्मातिक्रमे च देवो न वर्षति ।' निरुक्त दुर्गाचार्य कृत टीका, २।१२ अन्ते ।

निरुक्त में उक्त इतिहास वा आख्यानों के स्वरूपमात्र का निदर्शन कराने के लिये ऊपर दो चार इतिहास वा आख्यानों की समीक्षा की है। इस पर विस्तार से विचार पूज्य गुरुवर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने '**निरुक्तकार और वेद में इतिहास**' नामक निबन्ध में किया है।[1]

**५—अनुक्रमणियों आदि में निर्दिष्ट मन्त्रों के ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं**—वेद में इतिहास का प्रतिपादन करनेवाले विद्वान् तत्तत् मन्त्रों के ऋषियों को उनका रचयिता मानते हैं। सूत्रग्रन्थों में ऋषियों के लिये प्रयुक्त **मन्त्रकृत् मन्त्रकार** शब्दों को मन्त्रकर्तृत्व में प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं।[2]

इस विषय पर विचार करने से पूर्व सर्वानुक्रमणियों में तत्तत् मन्त्रों के ऋषियों के सम्बन्ध में संक्षेप से विचार करना उचित होगा।

**(क) दो वा दो से अधिक ऋषि**—ऋक्सर्वानुक्रमणी में अनेक सूक्तों एवं मन्त्रों के दो वा दो से अधिक ऋषि कहे गये हैं।[3] ऋ० ९।६६ सूक्त के १०० वैखानस ऋषि कहे गये हैं—**पवस्य शतं वैखानसाः, अष्टादश्यनुष्टुप् परास्तित्र आग्नेय्यः**। यही आर्षानुक्रमणी में भी लिखा है—**असिद्धगोत्रास्तु पवस्य सूक्तं वैखानसा नाम शतं विदुस्ते** ॥९।१६॥

इस बात में सभी लेखक विद्वान् सहमत हैं कि एक से अधिक व्यक्ति समानरूप से किसी विषय में चिन्तन तो कर सकते हैं, परन्तु समानरूप से किसी विषय को अक्षरबद्ध(लेखन) नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में निश्चय ही जिन मन्त्रों वा सूक्तों के एक से अधिक ऋषि हैं, वे उन मन्त्रों वा सूक्तों के रचयिता नहीं हो सकते।

**(ख) निर्दिष्ट ऋषि से पूर्व उस मन्त्र वा सूक्त की सत्ता**—वैदिक वाङ्मय में कतिपय मन्त्र वा सूक्त ऐसे भी हैं, जिनका जो ऋषि कहा गया है, उनकी उस ऋषि से पूर्व सत्ता विद्यमान थी। यहाँ हम निदर्शनार्थ दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

---

१. यह निबन्ध 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ सोनीपत-हरयाणा' द्वारा प्रकाशित किया गया है।

२. इस विषय के ११ वचन 'क्या ऋषि मन्त्ररचयिता थे ?' निबन्ध में उद्धृत किये हैं। द्र०—वैदिकसिद्धान्तमीमांसा, पृष्ठ ३१०-३११।

३. इस विषय के निदर्शनार्थ १० वचन पूर्वनिर्दिष्ट निबन्ध में उद्धृत किये हैं। द्रष्टव्य—वही, पृष्ठ ३१२ (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ३११-३१२(द्वितीय संस्करण)।

(i) ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १९, २२, २३ सूक्तों का ऋषि ऋक्सर्वानुक्रमणी में वामदेव लिखा है। परन्तु गोपथब्राह्मण २।६।१ में इनके विषय में लिखा है—

**तान् वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत् ··· एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि, कथा महामवृधत् कस्य होतुरिति। तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवोऽसृजत।**

अर्थात्—**एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्**··· (ऋ० ४।१९, २२,२३) इन सम्पात सूक्तों को विश्वामित्र ने पहले देखा था। विश्वामित्र से दृष्ट इन सूक्तों को वामदेव ने प्रकाशित[1] किया।

गोपथब्राह्मणनिर्दिष्ट पाठ ऐतरेयब्राह्मण ६।१८ (अ० २९, सं० २) में भी कुछ भेद से मिलता है। सम्पातसूक्तविषयक ब्राह्मणपाठ से स्पष्ट है कि वामदेव द्वारा उक्त सूक्तों को प्रकाशित करने से पूर्व विश्वामित्र ने इन्हें देखा था। अतः इन सूक्तों का रचयिता न विश्वामित्र है और ना ही वामदेव। विश्वामित्र इनका प्रथम द्रष्टा है और वामदेव इनका प्रकाशक।

(ii) ऋ० मं० ३ सूक्त २२ (**अयं सो अग्निः**) के विषय में तै० सं० ५।२।३ में लिखा है—**अयं सो अग्निरित्येतद् विश्वामित्रस्य सूक्तम्**। अर्थात् 'अयं सो अग्निः' विश्वामित्र का सूक्त है।[2]

ऋक्सर्वानुक्रमणी (३।२२) में इस सूक्त का ऋषि गाथी (गाधी) लिखा है—**अयं स उपान्त्यानुष्टुप् पुरीष्येभ्योऽग्नीभ्यः**। इस सूत्र में 'गाथी' की अनुवृत्ति १९वें सूत्र से आ रही है। उसी प्रकार शौनकीय आर्षानुक्रमणी ३।४ में सूक्त १९, २०, २१, २२ चार सूक्तों का द्रष्टा (= अपश्यत्) गाथी कहा गया है—

**अग्निहोतारमारभ्य गाधी नाम स कौशिकः।**
**सूक्तान्यपश्यच्चत्वारि·····।।**

गाथी (गाधी) विश्वामित्र के पिता का नाम है। इससे स्पष्ट है कि तैत्तिरीयसंहिता में जिस सूक्त को विश्वामित्र का कहा है, वह ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार विश्वामित्र के पिता गाधी को ज्ञात था। कर्तृ पक्ष में

---

१. सायणाचार्य ने ऐतरेय ब्रा० ६।१८ (अ० २९, खं० २) में 'वामदेवोऽसृजत' का अर्थ 'स्वकीयत्वेन प्रकटी कृतवान्' किया है।

२. यह सूक्त तै० सं० ४।२।४ में भी पूर्वापरभेद से विद्यमान है।

तो पिता पुत्र दोनों विरचयता हों यह संभव नहीं, दृष्ट पक्ष में दोनों का द्रष्टा होना सम्भव है।

अब रही ऋषियों के लिये मन्त्रकृत् और मन्त्रकार शब्दों के प्रयोग की समस्या। इसके विषय में जानना आवश्यक है कि 'कृञ् करणे' धातु का अर्थ एकमात्र 'अभूतप्रादुर्भाव' नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि १।३।१ में लिखते हैं—

**अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति। करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः। निर्मलीकरणे चापि दृश्यते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु—उन्मृदान इति गम्यते। निक्षेपणे चापि दृश्यते—कटे कुरु, घटे कुरु—स्थापयेति गम्यते।**

अर्थात् धातु बह्वर्थक भी होते हैं। जैसे 'कृञ् करणे' धातु अभूत-प्रादुर्भाव (करना=बनाना) अर्थ में पढ़ा है, परन्तु साफ करने अर्थ में भी देखा जाता है—**पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु** ऐसा कहने पर 'पीठ को साफ करो', 'पावों को साफ करो', अर्थ जाना जाता है। निक्षेपण (=किसी स्थान में रखना) अर्थ में भी देखा जाता है। [किसी वस्तु का निर्देश करके] **कटे कुरु, घटे कुरु** कहने पर 'घड़े में रख', 'चटाई पर रख' अर्थ जाना जाता है।

इस प्रकार मन्त्रकृत् और मन्त्रकार शब्द वैदिक वाङ्मय में मन्त्रार्थ-द्रष्टा, मन्त्रार्थाध्यापक और मन्त्रविनियोजक तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इन्हीं अर्थों में **मन्त्रवान्** (खादिर गृह्य २।४।१०) तथा **ब्रह्मकृत्** (महाभारत वनपर्व १३४।३) में प्रयुक्त हुआ है।

वैदिकवाङ्मयान्तर्गत विविध शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों, निरुक्त, ऋक्सर्वानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में ऋषि नाम के साथ **दृश्=पश्य** धातु का ही प्रयोग उपलब्ध होता है।

जो महानुभाव इस विषय में अधिक जानना चाहें, उन्हें हमारा **क्या ऋषि मन्त्ररचयिता थे?** निबन्ध देखना चाहिये[1]।

इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है—

---

१. यह निबन्ध पहले स्वतन्त्र छपा था। तत्पश्चात् 'वैदिकसिद्धान्तमीमांसा' के अन्तर्गत पृष्ठ ३०७-३४२ (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ३०७-३४० (द्वितीय संस्क०) में प्रकाशित हुआ है।

**जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिससे पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया[1] और दूसरों को पढ़ाया[2] भी, इसलिये अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ उस ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलावे उसको मिथ्यावादी समझें। वे तो उनके अर्थप्रकाशक हैं।**

स० प्र० समु० ७, पृष्ठ ३१८।[3]

ऐसा-ही उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्त में निबद्ध 'प्रश्नोत्तरविषय' में लिखा है।

अनुक्रमणियों में निर्दिष्ट ऋषि-नामों के सम्बन्ध में आगे 'ऋषि-देवता-छन्द' विषय में विशेष विचार करेंगे।

४—**वेद में कुछ भी बुद्धिविपरीत नहीं है**—महर्षि कणाद ने वैशेषिक शास्त्र में लिखा है—**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे** (६।१) अर्थात् वेद की रचना बुद्धिपूर्वक है। यह अलग विचारणीय विषय हो सकता है कि बुद्धिपूर्वक रचयिता कौन है। वेद की रचना बुद्धिपूर्वक होने से इसमें किसी देश जाति वा वर्ग राग-द्वेष ऊँच-नीच की भावना एवं निरर्थक बुद्धि से अग्राह्य तथा अश्लील वर्णन नहीं है।

महीधर ने यजुर्वेद के **गणानां त्वा गणपतिम्** (२३।१९) इत्यादि अनेक मन्त्रों के अत्यन्त अश्लील एवं बीभत्स अर्थ किये हैं। इनकी ग्रन्थकार ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'भाष्यकरणशंकासमाधान' प्रकरण में विस्तृत आलोचना की है और शतपथ के आधार पर इन मन्त्रों की राष्ट्रविषयक उत्तम व्याख्या की है। सायणाचार्य एवं मैक्समूलर प्रभृति के भ्रष्ट अर्थों की आलोचना वेदभाष्य में अनेकत्र की है।

---

१. सम्पातसूक्त विषयक उद्धरण—तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवोऽसृजत्। इसीलिये सर्वानुक्रमणी में वामदेव ऋषि का निर्देश है।

२. द्र०—'शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। स पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत्। ताण्ड्य ब्रा० १३।३।२४॥ इसकी तुलना करें—

'अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥' मनु० २।१५१॥

३. रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित शताब्दी संस्करण, द्वितीयावृत्ति संवत् २०१२।

लोक में जैसे मेधावी पुरुष वाग्व्यवहार में तात्त्विक कथन के साथ उपचार से अचेतन में चेतनवद् व्यवहार करता है अथवा वह किसी यान में यात्रा करता हुआ कहता है 'देहली आ गई', 'बम्बई आ गई', 'प्रयाग आ गया' आदि, उसी प्रकार वेद में भी वाग्व्यवहार देखा जाता है। यथा अचेतन में चेतनवद् व्यवहार—**वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्** (ऋ० १।२।१) तथा **इन्द्रा याहि चित्रभानो** (ऋ० १।३।४) में वायु और इन्द्र=विद्युत् को संबोधित किया है और उन्हें आने के लिये कहा है। लोक में भी **कूलं पिपतिषति**[1] =नदी का किनारा गिरना चाहता है। चाहना=इच्छा चेतन का धर्म है, उसका अचेतन कूल में औपचारिक प्रयोग होता है। **अचेतनेष्वपि चेतनवद् उपचारः** का उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९७५ में प्रकाशित 'सभाष्य सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधि' के अन्त में लक्ष्मीसूक्त की व्याख्या में दो स्थानों पर किया है।[2] इसी प्रकार सं० १९३३ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदभाष्य के नमूने का जो अङ्क छपवाया था, उसमें भी **वायवा याहि** (१।२।१) मन्त्र के भाष्य में भी **तत्राचेतने चेतनवद् व्यवहारे न दोषो भवति** का निर्देश उपलब्ध होता है।[3]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निरुक्तकार के **तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिकयश्च** आदि (७।१,२) की व्याख्या करते हुए लिखा है—

**अस्यायमभिप्रायः—व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमपुरुषौ च[4]। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे**

---

१. महाभाष्य ३।१।७ अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते। तद्यथा स्रस्तान्यस्य बन्धनानि, स्रस्यन्तेऽस्य बन्धनानि। महाभाष्य ४।१।२७॥

२. द्रष्टव्य मन्त्र ५, १२—अचेतनेऽपि चेतनवदुपचरारादोषः। द्र०—दयानन्दीयलघुग्रन्थसंग्रह, पृष्ठ ३६०, पं० १४; पृष्ठ ३६२, पं० २३।

३. वही, पृष्ठ १६५, पं० १९।२०। रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण। यह नमूने का अङ्क २४ पृष्ठ का छपा था। इसमें ऋ० १।२।१ का संस्कृतभाष्य भी अधूरा छपा था। १।२।१ का शेष संस्कृतभाष्य और भाषानुवाद गत वर्ष परोपकारिणी सभा अजमेर ने पृथक् छाप दिया है।

४. चात् चेतने प्रथमपुरुषोऽपि भवतीत्युच्यते।

**जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यम्—जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव [तस्य] प्रयोजनम्।**

**इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषया[1]ऽनुवादकारकैर्यूरोपदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजाऽस्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।** ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वैदिकप्रयोगविषय, पृष्ठ ४०२, रामलाल कपूर ट्रस्ट, संस्करण २।

अर्थात् व्याकरण की रीति से प्रथम मध्यम उत्तम पुरुष क्रमशः होते हैं। वहाँ जड़ पदार्थों में प्रथम पुरुष ही होता है और चेतनों में मध्यम और उत्तम पुरुष। [संस्कृत पाठ में चकार के निर्देश से चेतन में प्रथम पुरुष भी होता है, का संग्रह किया है।] यह वैदिक लौकिक शब्दों में सार्वत्रिक नियम है। परन्तु वैदिक व्यवहार में जड़ पदार्थों में भी प्रत्यक्ष में मध्यम पुरुष के प्रयोग होते हैं। इस विषय में यह जानना चाहिये कि जड़ पदार्थों का उपकारार्थ प्रत्यक्षीकरणमात्र ही उनका प्रयोजन है।

इस नियम को न समझकर सायणाचार्यादि वेदभाष्यकारों ने तथा उनके अनुसार स्वदेशभाषा[2] में अनुवाद करनेवालों ने तथा योरोपदेशनिवासी मनुष्यों ने वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा है, ऐसा मिथ्या वेदार्थ किया है।

यहाँ इतना और जानना आवश्यक है कि सायणाचार्य आदि जड़ पदार्थों में अभिमानी देवता मानते हैं, अतः उनके मत में जड़ पदार्थों की पूजा अभिप्रेत नहीं है अपितु उनमें वर्तमान जो चेतन अभिमानी देवता है, उसके प्रति सम्बोधन आदि का निर्देश है। मीमांसक विग्रहवती देवता वा तदभिमानी देवता नहीं मानते (द्र०—मी० ९।१।९ का शाबर भाष्य)।

स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने वेदभाष्य में **अचेतनेषु चेतनवदुपचारः** नियम के अनुसार अथवा भूमिका में कहे गये 'जड़ पदार्थों का उपकारार्थ प्रत्यक्षीकरण मात्र प्रयोजन' मानकर वेदों में जहाँ कहीं भी जड़पदार्थ के

---

१. इस काल में महाराष्ट्र प्रदेश से ऋग्वेद का 'वेदार्थयत्न' नामक भाष्य छप रहा था। यह संस्कृत, मराठी तथा अंग्रेजी भाषा में छपता था, उसकी ओर संकेत है। इसका खण्डन ऋग्वेदभाष्य में भी बहुत्र किया है।

२. द्रष्टव्य पूर्व टिप्पणी।

प्रति सम्बोधन तथा मध्यमपुरुष का प्रयोग हुआ है, वहाँ सर्वत्र उसका अर्थ प्रथम पुरुष में करते हैं। जैसे—**वायवा याहि** का अर्थ—वायु आता है। लोक में भी कवि लोग जड़ पदार्थों में सम्बोधन का प्रयोग करते हैं, परन्तु वहाँ किसी को यह भ्रम नहीं होता कि कवि उसे चेतन मानता है। 'किनारा गिरना चाहता है' आदि में 'किनारा गिरनेवाला है' यही तात्पर्य समझा जाता है। तद्वत् वेदभाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **वायवा याहि** का तात्पर्य रूप अर्थ जो 'वायु आता है' आदि दर्शाया है, वह युक्तियुक्त है।

कपिल मुनि ने सांख्यशास्त्र में स्पष्ट लिखा है—**लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः** (५।४०) अर्थात् लोकव्यवहार में व्युत्पन्न पुरुष को ही वेदार्थ की प्रतीति होती है। जब लोकव्यवहार में जड़ पदार्थों के सम्बोधनादि में तात्पर्यार्थ गृहीत होता है, तब वेद में भी वही अभिप्राय जानना चाहिये।

महाभाष्यकार ने यही बात व्याकरणशास्त्र के प्रसङ्ग में इस प्रकार कही है—**'नहीदं लोकाद् भिद्यते। यदि भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्'**[1] (महा० १।१।१)। यह शास्त्र का व्यवहार लोक से भिन्न नहीं है। यदि लोक से भिन्न होवे तो शास्त्रकार का उसके लिये विशेष प्रयत्न योग्य होवे। इस नियम के अनुसार वैदिक प्रयोग भी लोकव्यवहार के अनुसार हैं। यदि वैदिक प्रयोगों में लोकव्यवहार से कुछ भिन्नता होवे तो उसके लिये विशेष प्रयत्न किया जाये।

५—**वेदों में सब विद्याओं का मूलतः निर्देश है**—सभी प्राचीन विविध विद्याओं के आकर ग्रन्थों के प्रणेता ऋषि मुनि और आचार्यों का मन्तव्य रहा है कि वेद सभी विद्याओं का आकर हैं। इस समय जितनी विद्याओं के प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सब अपना उद्गम वेद से घोषित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वेदों में सभी विद्याओं का मूल उपदेश विद्यमान है। इसीलिये समाजशास्त्र के आद्य प्रवक्ता भगवान् स्वाम्भुव मनु ने कहा है—**सर्वज्ञानमयो हि सः**[2] (२।७)। अर्थात् वेद सब ज्ञानों से परिपूर्ण है।

इसी सिद्धान्त का भगवान् कृष्णद्वैपायन मुनि ने भी प्रतिपादन किया है—

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १५४, 'क' संकेतित सन्दर्भ।

२. द्रष्टव्य—मेधातिथि वा गोविन्दराज की मनुस्मृति की व्याख्या।

'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥'

महाभारत, अनु० १२२।४॥

अर्थात्—'लोक में जितने भी आगमशास्त्र (=विभिन्न विषयों के आद्य मूलग्रन्थ) और लोक-प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, वे सब वेद के आधार पर ही आरम्भ हुई हैं।'

परम ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य मुनि ने भी कहा है—

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥'

बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति १२।१॥

अर्थात्—'वेदशास्त्र से भिन्न कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है। समस्त शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं।'

यदि इस तरह से वेद ही सब तरह के ज्ञान के निधि हैं, तो किस कारण महर्षिगण उन-उन शास्त्रों का प्रवचन कर गये? तो कहते हैं—

जब सर्गादि में अपरिमित शक्ति के प्रभाव से प्रभावित सामर्थ्यवाले, धर्मसत्त्वशुद्ध तेज से युक्त[1], अपरिमित बुद्धिवाले, धर्म का साक्षात् किये हुये मानव थे, तब वे वेदों से ही सीधा सब तरह का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। उस समय वेद को छोड़कर अन्य कोई शास्त्र न था। जब उत्तरकाल में मानव क्रमशः सत्त्वहीन, प्रवर्धमान रजोगुण और तमोगुण से युक्त, अल्पमतिवाले, उपदेशों के द्वारा भी वेदों के मन्त्रों में विद्यमान विविध विद्याओं को जानने में असमर्थ हो गये, तब उस तरह के अल्प मेधावाले मनुष्यों को विविध विद्याओं का ज्ञान कराने के लिये विविध शास्त्रों का प्रवचन महर्षि लोगों ने किया।

इसी शास्त्रावतारूप इतिहास का भगवान् यास्कमुनि ने निरुक्त में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

---

१. द्र०—पाराशरीय ज्योतिषसंहिता का वचन—'पुरा खलु अपरिमितशक्ति-प्रभाप्रभाववीर्या·····धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमादपचीयमान-सत्त्वानां उपचीयमानरजस्तमस्कानां·····।' (भट्ट उत्पल कृत बृहत्संहिताटीका, पृष्ठ १५ पर उद्धृत)।

**'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।'** निरुक्त १।२०॥

अर्थात्—'सृष्टि के आरम्भ में साक्षात्कृतधर्मा (=मन्त्रार्थ का साक्षात् दर्शन करनेवाले) ऋषि हुये थे। उन्होंने असाक्षात्कृतधर्मा (=मन्त्रार्थ को साक्षात् न जाननेवाले) मनुष्यों के लिये उपदेश से मन्त्रों के अर्थ जताए। उत्तरकाल के अथवा हीनमेधावाले, उपदेश से ग्लानि करते हुए (=हमें उपदेशमात्र से वेद समझ में नहीं आता, ऐसा समझनेवाले) लोगों ने इस निघण्टु-निरुक्त ग्रन्थ का, और वेद तथा वेदाङ्गों का अभ्यास[1] किया।'

इसी इतिहास के अनुसार भगवान् याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—

**'दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।**
**तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्॥**

बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति १२।२॥

'जिनके लिये ज्ञान दुर्बोध्य हुआ, और जो वेदों का अध्ययन न कर पाये, उनके लिये सब वेदों से ज्ञान लेकर ऋषि लोगों ने शास्त्र बनाये।'

महाभारत (शान्ति २८४।९२) में भी भगवान् वेदव्यास जी ने लिखा है—**'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य'**, अर्थात् 'वेदों से वेदाङ्गों की रचना की।'

और भी—सम्प्रति शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थविज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तुशास्त्र इत्यादि विषयों के जो मुख्य ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब अपने-अपने विषयों की वेदमूलकता की मुक्तकण्ठ से घोषणा करते हैं। विस्तारभय से कुछ ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट अपने ग्रन्थ के अन्त में 'ज्योतिषशास्त्र का मूल वेद है', ऐसा कहते हैं।

(२) आयुर्वेदशास्त्र अथर्ववेद का उपाङ्ग है, ऐसा भगवान् सुश्रुत कहते हैं—**'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।** सू० अ० १॥

---

१. मूलधात्वर्थानुसारी पदार्थ। यह अर्थ निरुक्तश्लोकवार्तिक में उपलब्ध होता है। द्र०—पूर्व पृष्ठ ७८।

(३) न्यायसूत्रकार भगवान् गोतम भी अतीन्द्रियविषयक विज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले वेदभाग के प्रामाण्य को बताने के लिये कहते हैं—

**'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥'**

न्याय० २।१।६८॥

मन्त्रों में जो आयुर्वेद प्रत्यक्षरूप से उपदिष्ट किया गया है, उसके प्रामाण्य की सत्यता लोक में प्रसिद्ध है। उसके प्रमाणित होने से अतीन्द्रिय विज्ञान का प्रतिपादक वेदभाग भी प्रमाणित हो जाता है। क्योंकि जो आप्त ईश्वर प्रत्यक्षविषयभूत आयुर्वेद, जो वेद का ही एक विभाग है, का कर्ता है, वही इन्द्रियातीत विषय के प्रतिपादन करनेवाले भाग का भी है। इसलिये एक कर्ता होने से अतीन्द्रियविषयक वेदभाग का भी प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ता है।

(४) पदार्थविज्ञानप्रतिपादक वैशेषिकशास्त्र भी वेद-मूलक है, ऐसी भगवान् कणाद मुनि प्रतिज्ञा करते हैं। जैसे—**'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।'** वै० १।१।३॥

इसका अर्थ इस प्रकार है— **अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'**, अर्थात् 'अब धर्म का व्याख्यान करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा करके **तद्वचनात्** = वैशेषिक-प्रतिपाद्य पदार्थधर्म का प्रतिपादन करने से **आम्नाय** = वेद का प्रामाण्य है।

यहाँ यह भी जानना चाहिये कि भगवान् कणाद ने केवल **'वेदपदार्थ धर्म के प्रतिपादक हैं'** यह प्रतिज्ञामात्र ही नहीं की, अपितु कई प्रकरणों में विभिन्न पदार्थों के धर्मों का प्रतिपादन करने के लिये श्रुति-प्रामाण्य भी दर्शाया है। जैसे—

(क) ओलों की उत्पत्ति तेज के संयोग से ही होती है, ऐसा प्रतिपादन करके आकाश के पानी में तेज का संयोग होता है, इसका प्रतिपादन करते हुए **'वैदिकं च'** (५।१।१०) सूत्र से वैदिक वचनों का प्रमाण दर्शाया है। यथा—

**'या अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु'।**

तै० सं० ५।६।१॥

**'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।'**

ऋ० १०।१२१।७॥

**'वृषाऽग्नि वृषणं भरन्नपां गभ समुद्रियम् ।'** यजु० ११।४६।।
**'योऽनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः ।'** ऋ० १०।३०।४।।

इन मन्त्रों में जलों में दिव्य अग्नि का संयोग दर्शाया है। इस विषय का प्रतिपादन वेदों में अनेक मन्त्रों में मिलता है।

(ख) शरीर दो प्रकार के हैं—योनिज और अयोनिज, ऐसा बताते हुए अतीन्द्रिय जो अयोनिज शरीर है, उसका प्रतिपादन करते हुए **वेद-लिङ्गाच्च** (४।२।११) इस सूत्र से अयोनिज शरीर के प्रामाण्य के लिये निम्न वैदिक मन्त्र का संकेत किया है—

**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।**
**ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।।'**

ऋ० १०।९०।१२।।

इस मन्त्र में **'अस्य'** इस पद से **'विराट्'** नामक पुरुष का परामर्श होता है। वही विराट् पुरुष वैदिकग्रन्थों के सर्ग-प्रकरणों में प्रजापति—हिरण्यगर्भ—सुवर्णाण्ड—महदण्ड आदि शब्दान्तरों से कहा गया है।

इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने पुणे(पूना) के पाँचवें प्रवचन में कहा था—

**पदार्थज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है।**[1]

(५) भगवान् मनु ने राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से लिखा है—

**सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।**
**सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।१२।१००।।**

अर्थात् सेनापतित्व, राज्यशासन, दण्ड का विधान, चक्रवर्ती-राज्य का शासन, इन सब के लिये वही योग्य होता है, जो वेदशास्त्र को जानता है।

इससे स्पष्ट है कि वेदों में राजनीति के समस्त अङ्गों का यथावत् संकलन है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के तीसरे नियम में कहा है—**वेद सब सत्य विद्याओं के ग्रन्थ हैं**। वेद में विविध विद्याओं का मूल है, इसके निदर्शनार्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में कतिपय विद्याओं का निदर्शन कराया है। उनकी चतुर्वेद-विषयसूची भी इसके लिये महद् उपकारी है।

---

१. द्रष्टव्य 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन'। पृष्ठ ३१२, पं० १२, १३। इस पृष्ठ की तीसरी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

**ऋषि देवता और छन्दों पर विचार**—प्रायः सभी वेदभाष्यकारों ने प्रतिमन्त्र ऋषि देवता और छन्द का निर्देश नहीं किया है। स्कन्द स्वामी ने **न छन्दः, अनुपयुज्यमानवचनत्वात्**[1] लिखकर छन्द का निर्देश नहीं किया। दूसरे शब्दों में उसने **ऋषि** नाम को वेदार्थ में उपयोगी माना है। सायणाचार्य ने मन्त्रों के विनियोगों का भी उल्लेख किया है।

ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा ऋषि देवता और छन्दों के निर्देशपूर्वक यत्र-तत्र कर्मविशेषों में मन्त्रों का विनियोग दर्शाया है। यथा—

**ऋषिसंबन्ध से—गौरिवीतं षोडशिसाम कुर्वीत तेजस्कामः**। ऐ० ब्रा० ४।२ (अ० १६।२)। गौरिवीतेन ऋषिणा दृष्टं साम इति सायणः। **तान्येतानि सहचराणीत्याचक्षते। नाभानेदिष्ठं बालखिल्या वृषाकपिमेवयामरुतं तानि सहैव शंसेत्**। ऐ० ब्रा० ५।१४ (अ० २२।१०)। नाभानेदिष्ठेन दृष्टं सूक्तद्वयम्, बालखिल्यैर्दृष्टा मन्त्रा वृषाकपिना दृष्टं सूक्तम्, एवयामरुन्नाम्ना दृष्टं सूक्तम् (सायण)।

**देवतासम्बन्ध से—आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते, ऐन्द्र्या सदः, वैष्णव्या हविर्धानम्**। मीमांसा-शाबरभाष्य अ० ३, पाद २, अधि० ८, सूत्र २१ में उद्धृत।

**छन्दःसम्बन्ध से—गायत्रीं ब्राह्मणस्यानुब्रूयात्**.....**त्रिष्टुभं राजन्यस्य**.....**जगतीं वैश्यस्य**। ऐ० ब्रा० १।२८ (अ० ५।२)। **मिथुनानि सूक्तानि शस्यन्ते त्रैष्टुभानि च जागतानि च**। ऐ० ब्रा० ५।१८ (अ० २३।३)।

इसलिये यज्ञकर्म की समृद्धि के लिये प्रतिमन्त्र ऋषि देवता छन्दः का ज्ञान आवश्यक है। अतएव **आर्षेय ब्राह्मण** के आरम्भ में कहा है—

**यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति, गर्तं वा पद्यति, प्र वा मीयते पापीयान् भवति। यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति। अथ यो मन्त्रे मन्त्रे वेद सर्वमायुरेति श्रेयान् भवति। अयातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्।**

---

१. पाठा०—अर्थेऽनुपयोगित्वात्। माध्वमतानुयायी जयतीर्थ इस पर लिखता है—'एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति'। ऋ० भाष्य, पत्र १३ क।

अर्थात् जो व्यक्ति ऋषि, देवता, छन्द और ब्राह्मण (=विनियोग)[१] को विना जाने हुए मन्त्र से यज्ञ कराता है अथवा पढ़ाता है, वह स्थाणु-भाव (=ठूँठ भाव)[२] को प्राप्त होता है, गड्ढे में गिरता है अथवा मर जाता है, पापी होता है। इसके मन्त्र यातयाम (=बासी=साररहित)[३] हो जाते हैं। और जो प्रतिमन्त्र ऋषि आदि को जानता है, वह पूर्ण आयु जीता है, प्रशस्य होता है। इसके मन्त्र सदा प्रत्यग्र (नवीन=सारवान्) रहते हैं। इसलिये इन्हें प्रतिमन्त्र जाने।

यही बात कात्यायन मुनि ने भी ऋक्सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में कही है और अन्त में **इति ह विज्ञायते** शब्दों से उक्त ब्राह्मण पाठ की ओर संकेत किया है।[४]

इन निर्देशों के अनुसार ऋषि देवता छन्द और विनियोगों को जानना श्रौत स्मार्त कर्मों (यज्ञों) में आवश्यक है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में तो स्पष्ट कहा है—**न ह्येतज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्तकर्मसिद्धिः।**

यह परिस्थिति उस समय उत्पन्न हुई, जब श्रौत स्मार्त कर्मों का प्रचलन देश में अत्यधिक हो गया था। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि श्रौत कर्मों में तो ऋग्वेद का एक तृतीयांश ही विनियुक्त उपलब्ध होता है। स्मार्त कर्मों से गृह्य और धर्मसूत्रोक्त कर्म गृहीत होते हैं। यदि इनकी इयत्ता को भी प्राचीन वैदिक ग्रन्थों तक सीमित किया जाये तो इनमें भी ऋग्वेद का अल्पभाग ही विनियुक्त है। परन्तु उत्तरकाल में इनकी अत्यधिक प्रवृत्ति हो जाने पर प्रतिमन्त्र इनका जानना आवश्यक हो गया।

---

१. विनियोजकं ब्राह्मणं भवति। द्र०—तै० सं० भट्टभास्कर-भाष्य, भाग १, पृष्ठ ३ (मैसूर संस्करण)।

२. स्थाणु=ठूँठ=पत्र पुष्प रहित अर्थात् याजन अध्यापन निरर्थक होता है।

३. अर्थात् फल के असाधक होते हैं।

४. प्राचीन शैली के अनुसार जहाँ किसी ब्राह्मण पाठ का उद्धरण देना होता है वा उसका संकेत करना होता है, वहाँ **इति विज्ञायते** पदों का निर्देश किया जाता है और जहाँ मन्त्र को उद्धृत करना होता है, वहाँ **इत्यपि निगमो भवति** का निर्देश किया जाता है। इसी प्रकार जहाँ किसी मन्त्र वा ब्राह्मण का तात्पर्य कहना होता है तो क्रमशः **मन्त्रवर्णो भवति इति ब्राह्मणवादः** आदि का निर्देश किया जाता है (द्रष्टव्य—निरुक्तशास्त्र)।

यहाँ हम ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट ऋषि देवता और छन्दों के विषय में ही प्रमुखरूप से विचार करेंगे, क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के सातवें मण्डल के इकसठवें सूक्त के द्वितीय मन्त्र तक भाष्य किया है। यद्यपि उन्होंने सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य किया है और प्रतिमन्त्र ऋषि देवता छन्द का निर्देश भी किया है, परन्तु इनके निर्देश में उनका क्या आधार था, यह हम यथावत् नहीं जान पाये। यजुर्वेद की कात्यायन के नाम से एक सर्वानुक्रमणी उपलब्ध होती है, वह अनार्ष (जाली) है।[1] उसमें भी प्रायः ऋङ्मन्त्रों के ही ऋषि देवता और छन्द दिये हैं, यजुः=गद्यमन्त्रों के ऋषि आदि का निर्देश उसमें नहीं है।

**(क) ऋषि के सम्बन्ध में विशेष विचार**—ऋषि के सम्बन्ध में कात्यायन मुनि ने लिखा है—**यस्य वाक्यं स ऋषिः** अर्थात् जिसका वह वाक्य=कथन=मन्त्र है, वह ऋषि कहाता है। यहाँ कात्यायन मुनि ने **यस्य** का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है, जिसका कर्तृत्वसम्बन्ध से वाक्य है वा द्रष्टृत्वसंबन्ध से। सर्वानुक्रमणी में बहुत्र[2] **अपश्यत्** शब्द का प्रयोग मिलता है। यथा—**गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्**। इसलिये उक्त सूत्र का **यस्य ऋषेर्द्रष्टृत्वसम्बन्धेन यद् वाक्यं तस्य स ऋषिः** अर्थ ही ग्रन्थकार को अभिप्रेत है, यह जानना चाहिये। यदि अर्वाचीन विद्वानों के मतानुसार कर्तृत्व संबन्ध भी स्वीकार किया जाये, तब भी हम ऋषियों के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत कर रहे हैं, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

**'यस्य वाक्यं स ऋषिः' परिभाषा के अनुसार ऋक्सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट ऋषि-नामों पर विचार**—ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के जिन ऋषियों के नाम दर्शाये हैं, उन नामों की विवेचना यदि **यस्य वाक्यं स ऋषिः** परिभाषा के अनुसार द्रष्टृत्व वा कर्तृत्व किसी भी सम्बन्ध से की

---

१. यजुर्वेदीय सर्वानुक्रमणी के अप्रामाणिक होने के विषय में हमने **'मूल यजुर्वेद'** शीर्षक निबन्ध में संक्षेप से लिखा है (द्र०—वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, पृष्ठ २४५-२४६ (प्र० सं०); पृष्ठ २४१-२४२ (द्वि० सं०)।

२. 'अपश्यत्' शब्दयुक्त ऋक्सर्वानुक्रमणी के १० वचन हमने 'क्या ऋषि मन्त्र-रचयिता थे ?' लेख में उद्धृत किये हैं। द्र०—वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, पृष्ठ ३४० (प्र० सं०), पृष्ठ ३३८ (द्वितीय संस्क०)।

जाये तो स्पष्ट विदित होता है कि ऋग्वेद के अनेक ऋषि कोई मानव व्यक्ति नहीं थे क्योंकि दर्शन अथवा करण (=रचना) क्रिया मानव व्यक्तियों में ही सम्भव है न कि अचेतन अथवा मानवेतर प्राणियों में।

**अचेतन पदार्थ ऋषि**—ऋक्सर्वानुक्रमणी में अनेक मन्त्रों के अचेतन पदार्थ भी ऋषिरूप में निर्दिष्ट हैं। यथा—

ऋग्वेद का ३।३३वाँ सूक्त नदी विश्वामित्र का संवादसूक्त माना गया है। इसमें ४, ६, ८, १० की विपाट् (व्यास) और शुतुद्री (=सतलुज) नाम्नी नदियाँ ऋषिकाएँ हैं।[1]

ऋग्वेद ९।८६।१-१०, ३१-४० मन्त्रों का ऋषि **अकृष्टा माषाः** कहे गये हैं। 'अकृष्टा माषाः' का सीधा सा तात्पर्य है—वे माष (उड़द) जो खेत को विना जोते छिड़कने मात्र से उत्पन्न होते हैं।

ऋग्वेद १०।१० यम-यमी संवादसूक्त है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त की २, ४, ८, ९, १०, १२, १४ ऋचाओं का यम ऋषि है और १, ३, ५, ७, ११, १३ की ऋषिका यमी है। यम-यमी विवस्वान् सूर्य की सन्तति हैं। इनकी माता सरण्यू सरणशील 'आपः' हैं। सूर्य के ताप से आपः जो दो भागों में बँटते हैं (जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक आक्सीजन और हाईड्रोजन नाम देते हैं) वे ही यम-यमी हैं। यह हम पूर्व (पृष्ठ १७७) कह आये हैं। निरुक्तकार के मत में सरण्यू सूर्य की पत्नी है। उषा ही जब सूर्योदय के समीपवर्ती होती है, तब वह सरण्यू कहाती है (द्र०—निरुक्त १२।९,१० दुर्ग-व्याख्या)। ऋग्वेद १०।१७।१ की व्याख्या में यास्क ने लिखा है—यम की माता पर्यूहमाना (विवाही गई) महत् विवस्वान् की भार्या नाश को प्राप्त हो जाती है। रात्रि आदित्य की भार्या आदित्य के उदय होने पर नष्ट हो जाती है। इस सरण्यू नाम्नी उषा के ही दो पुत्र यम और यमी प्रकाश और अन्धकाररूपी हैं (निरुक्त १२।१३)। इस प्रकार भी यम-यमी अचेतन प्रकाश और अन्धकाररूप दो भाई बहन हैं।

ऋग्वेद १०।१२४ की २, ३, ४ ऋचाओं का ऋषि **अग्नि** है। ९।१०३ के १।३, १०।१४ आठ ऋचाओं का ऋषि **अग्नि चाक्षुष** है। १०।१४१ पूरे सूक्त का ऋषि **अग्नि तापस** है। ८।१०१ सूक्त तथा १०।१४०

---

१. 'प्र पर्वतानां' सप्तोना संवादो नदीभिर्विश्वामित्रस्योत्तितीर्षोस्तत्र नदीवाक्यं चतुर्थीषष्ठचष्टमीदशम्यः·····। ऋक्सर्वा० १८।४॥

सूक्त का ऋषि **अग्नि पावक** है। ९।१०९ सूक्त के **अग्नयः विष्ण्या ऐश्वरयः** है। प्रथम अग्नि का पिता कौन है यह नहीं कहा गया। मन्त्रों पर विचार करने से विदित होता है कि यह अरणियों से उत्पन्न अग्नि है। दूसरा अग्नि चक्षु सम्बन्धी है, तीसरा तप से उत्पन्न अग्नि है। इसे ही १०।८३, ८४ का मन्यु तापस रूप ऋषि कहा है। अगला ऋषि अग्नि पावक है। एक ही भौतिक अग्नि स्थानभेद से शुचि पावक पवमान नाम से वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध है। सोमयाग में सदोमण्डप के अन्तर्गत अच्छावाक आदि ऋत्विजों से सम्बद्ध जो ६ गोलाकार स्थान बनाये जाते हैं, उन्हें 'धिष्ण्य' कहा जाता है। इन पर अँगारे रखे जाते हैं।[1] इन्हीं धिष्ण्य अग्नियों को यहाँ ऋषि कहा गया है।

इस प्रकार यह अग्नि जिसे भिन्न-भिन्न सूक्तों वा मन्त्रों का भिन्न-भिन्न विशेषण युक्त ऋषि कहा गया है, भौतिक अग्नियों के ही भेद मात्र हैं।

**मानवेतर प्राणी ऋषि**—ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋ० मं० ८ सूक्त ६७ के ऋषि **मत्स्यः साम्मदो मैत्रावरुणिर्मान्यो वा बहवो वा मत्स्या आदित्यानष्टुवन्** लिखे हैं। तदनुसार 'जाल में फँसी हुई बहुत सी मछलियाँ' ऋषिकाएँ कही गई है। यहाँ यह विचारणीय है कि जाल में फँसी हुई मछलियाँ आदित्य की स्तुति करनेहारी ऋषिकाएँ कैसे सम्भव हो सकती हैं।

ऋ० मं० १०, सू० १०८ की २, ४, ६, ८, १०, ११ संख्यावाली ऋचाओं की ऋषिका 'सरमा' नाम्नी देवशुनी (=देवों की कुतिया) कही गई है। उसने पणियों के साथ संवाद किया था। भला कुतिया ऋषिका अथवा पणियों के साथ संवाद करनेवाली कैसे हो सकती है? सरमा देवशुनी के विषय में पूर्व (पृष्ठ (१९१-१९२) लिख चुके हैं।

**अजाश्च पृश्नयश्चैव सिकताश्चैव भारत।**
**अरुणाः केतवश्चैव स्वाध्यायेन दिवंगताः॥**

—महा० शान्तिपर्व २६।९

**अजादयो बालखिल्यवदृषीणां गणविशेषाः॥** —नीलकण्ठ

---

१. द्र०—श्रौतपदार्थनिर्वचन, अग्नीषोमीय पदार्थसंख्या ३०६, '**धिष्ण्येष्वङ्गारविहरणम्**' पृष्ठ २५६ (हमारे द्वारा सम्पादित संस्करण)।

**ऋषि और देवता का ऐक्य**—ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों वा सूक्तों के जो ऋषि हैं, वे ही उनके देवता भी हैं। यथा—

ऋ० १०।४८, ४९, ५० सूक्तों का ऋषि इन्द्र वैकुण्ठ (=विकुण्ठा का पुत्र) है और वही उनका देवता भी है। ऋक्सर्वानुक्रमणी (५७।३-४) में कहा है—**विकुण्ठा नामासुरीन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन्ती महत्तपस्तेपे। तस्याः स्वयमेवेन्द्रः पुत्रो जज्ञे। स सप्तगु स्तुतिसहृष्ट आत्मानमुत्तरैस्त्रिभिस्तुष्टाव।**

ऋ० १०।८१,८२ सूक्तों का ऋषि विश्वकर्मा भौवन और देवता भी विश्वकर्मा ही है।

नैरुक्तों के मत में विश्वकर्मा मध्यमस्थानीय देवता है। इसकी व्याख्या यास्क ने निरुक्त १०।२६, २७ में की है। वहाँ विश्वकर्मा भौवन विषयक इतिहास का भी निर्देश किया है। तदनुसार विश्वकर्मा भौवन ने सर्वमेधयाग में सब भूतों को होम दिया और अन्त में अपने आपको भी होम दिया। **तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति** (=इस अर्थ को कहने वाली यह ऋक् है)।

निरुक्त के इस इतिहास को स्वीकार किया जाये तो सर्वमेध में स्वयं को होमनेवाला विश्वकर्मा ऋ० १०।८१, ८२ का वक्ता वा दृष्टा ऋषि कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार ऋ० १०।८३ का ऋषि मन्यु तापस है और मन्यु ही देवता भी है।

ऊपर उदाहरण के रूप में ऋग्वेद के अचेतन पदार्थरूप और मानवेतर प्राणिरूप ऋषियों के दो चार निर्देश किये हैं। जो कथमपि ऋक्सर्वानुक्रमणी के **यस्य वाक्यं स ऋषिः** परिभाषा के अनुसार वक्ता वा द्रष्टा के रूप में ऋषि नहीं हो सकते। इसी प्रकार जिन मन्त्रों और सूक्तों के ऋषि और देवता समान हैं, उनके भी तीन उदाहरण दिये हैं। उनके विषय में भी यह विचारणीय है कि ऋषि (स्तोता) है, वही देवता स्तुत्य कैसे हो सकता है?

(क) क्या सर्वानुक्रमणी में जो ऋषिनाम गोत्रनामों के साथ दिये गये हैं और जिनके अमानव होने में सन्देह की सम्भावना भी क्वचित् ही सकती है, वे नाम उन व्यक्तियों के वास्तविक नाम थे, अथवा उनके पूर्व

नाम अन्य थे और मन्त्रप्रवक्ता अथवा द्रष्टा होने पर उन्होंने अपने नाम बदल लिये थे।

विश्वामित्र एक ऐसा नाम है, जिसके विषय में स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि ऋषि बनने से पूर्व उसका नाम **विश्वरथ** था और वे क्षत्रिय राजा थे। विश्वामित्र नाम भी विचित्र नाम है। इसको विभक्त किया जाये तो इसका अर्थ होगा विश्व का अमित्र=शत्रु। क्या कोई अपना ऐसा नाम रख सकता है? वस्तुतः वेद में पठित विश्वामित्र नाम सूर्य का है। विश्व का स्त्रीलिङ्ग विश्वा है। यह स्त्रीप्रत्यय, महत् सरः के लिये प्रयुक्त **सरसी**[1] और महत् या सम्पूर्ण जगत् अर्थ के लिये जैसे **जगती**[2] में स्त्री-प्रत्यय होता है[3] तद्वत् विश्व से महत् अर्थ में विश्वा में स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय है। इसका तात्पर्य है, सम्पूर्ण विश्व का जो मित्र वह विश्वामित्र। जब यही वैदिक पद विश्वरथ ने अपना लिया, तो वैयाकरणों को **मित्रे चर्षौ** (अष्टा० ६।३।१२९) नियम से विश्व में दीर्घत्व का विधान करना पड़ा।

विश्वामित्र के सम्बन्ध में महाभाष्य ४।१।१०४ में लिखा है—

**विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषिः स्यामिति तत्र भवान् ऋषिः सम्पन्नः। स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः पुत्रः स्यामिति तत्र भवान् गाधिरपि ऋषिः सम्पन्नः। स पुनस्तपस्तेपे, नानृषेः पौत्रः स्यामिति तत्र भवान् कुशिकोऽपि ऋषिः सम्पन्नः।**

अर्थात् विश्वामित्र ने तपस्या की कि मैं अनृषि न रहूं, वह ऋषि बन गया। फिर उसने तपस्या की कि मैं अनृषि का पुत्र न होऊँ, तब उसके पिता गाधि भी ऋषि बन गये। फिर तप किया कि अनृषि का पौत्र न होऊँ, तब कुशिक भी ऋषि हो गये।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि ऋक्सर्वानुक्रमणी और आर्षानुक्रमणी में विश्वामित्र के पिता का **गाथी** नाम निर्दिष्ट है और महाभाष्य में **गाधि**। अष्टाध्यायी के **गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च** (६।४।१६५) में गाथिन् (=गाथी) स्मृत है, तदनुसार **गाथिनोऽपत्यम्** (गाथी=गाथिन् का पुत्र)

---

१. दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते। (महाभाष्य १।१।१९)।

२. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। यजु० ४०।१॥

३. तुलना करो—हिमारण्ययोर्महत्त्वे। महद् हिमं हिमानी, महदरण्यम् अरण्यानी। महा० ४।१।४९॥

विश्वामित्र **गाथिन** का पुत्र होगा। अतः सन्देह होता है कि विश्वामित्र के पिता का नाम 'गाधि' था या 'गाथिन्'।[1]

(ख) यजुर्वेद अ० ३४ के मन्त्र १-६ तक का ऋषि **शिवसंकल्प** है। इन मन्त्रों के अन्त में प्रतिमन्त्र **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** पाठ मिलता है। मन्त्र में शिवसंकल्प का सम्बन्ध 'मन' के साथ है। क्या इन मन्त्रों के द्रष्टा ने दर्शन के पश्चात् अपना नाम बदलकर 'शिवसंकल्प' रख लिया था?

(ग) ऋग्वेद मं० १ के आदिम कुछ सूक्तों का ऋषि मधुच्छन्दा वैश्वामित्र है? ऋ० ६।११।३ में दो पृथक् पदों के रूप में 'मधु छन्दः' पद श्रुत हैं (स्वरानुसार ये दो पद हैं)। क्या मधुच्छन्दा वैश्वामित्र थे या यह नाम इस मन्त्र के आधार पर रखा था।

ऊपर तीन उद्धरण ऐसे दिये हैं, जो व्यक्तिनाम तो हैं, परन्तु उनके पूर्व नाम अन्य थे। सम्भवतः मन्त्रदर्शन के अनन्तर उन्होंने वेद में श्रुत विश्वामित्र शिवसंकल्प और मधुच्छन्दाः नाम रख लिये।

**दृष्टलिङ्ग ऋषि**—ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋ० मं० ५ सूक्त ४४ के ऋषि-परिगणन में दृष्टलिङ्ग ऋषियों का निर्देश है—**तं प्रत्नथा पञ्चोना काश्यपोऽवत्सारोऽन्ये च ऋषयोऽत्र दृष्टलिङ्गा द्विस्त्रिष्टुबन्तम्**[2] दयानन्दभाष्य में भी दृष्टलिङ्ग ऋषियों का निर्देश है। उसका तात्पर्य समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

दृष्टलिङ्ग उन देवताओं का वर्णन तो बहुत्र मिलता है, जिसका अर्थ होता है—जिस देवता का लिङ्ग=चिह्न=नाम मन्त्र में मिलता हो वह उस मन्त्र का देवता होता है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के **या तेनोच्यते सा देवता** इस परिभाषा के अनुसार मन्त्र के द्वारा जिसका वर्णन किया जाता है, वह देवता कहाता है अर्थात् मन्त्र का वर्ण्य विषय देवता कहाता है। तदनुसार मन्त्र में देवता का लिङ्ग दर्शन तो उपपन्न होता है, परन्तु

---

१. ऋषि नामों में पठित मैत्रावरुणि वसिष्ठ भी इसी प्रकार जलतत्त्व का वाचक है। द्रष्टव्य—वैदिक सिद्धान्त मीमांसा (भाग २) में "तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द" शीर्षक लेख (पृष्ठ ३७१-३७६)।

२. इस सूत्र की व्याख्या षड्गुरुशिष्य ने इस प्रकार की है—

**अत्र सूक्ते ये दृष्टलिङ्गका अधीतस्वनामधन्तः सदापृण-यजत-बाहुवृक्त-श्रुतवित्-तर्यादयस्ते चर्षित्वेऽवत्सारेण समुच्चीयन्ते स्वनामवतीष्वृक्षित्यर्थः।**

ऋषि तो **यस्य वाक्यं स ऋषिः** परिभाषा के अनुसार जिसका द्रष्टृसम्बन्ध से वाक्य=मन्त्र हो वह ऋषि कहाता है। द्रष्टृ पक्ष में मन्त्र में ऋषि नाम का दर्शन कैसे सम्भव है। यह ध्यान में रहे कि कात्यायन ने स्वीय सर्वानुक्रमणी में दृश्=पश्य धातु का ही सर्वत्र प्रयोग किया है, कृत का नहीं। संस्कृत वाङ्मय में कृत से दृष्ट भिन्न विधा है।[1] दृष्ट विधा में ऋषि नाम का दर्शन सम्भव ही नहीं है।

**ऋषि विचार का उपसंहार**—ऋक्सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट ऋषियों के सम्बन्ध में ऊपर जो संक्षिप्त विचार किया है, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जिस काल में प्रतिमन्त्र ऋषि देवता छन्द जानना आवश्यक स्वीकार कर लिया गया, उस समय जिन मन्त्रों के द्रष्टाओं के नाम पुराने इतिहास में उपलब्ध हो गये, उनको उसी रूप में स्वीकार कर लिया गया। जिन मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के नाम ज्ञात नहीं हुए, उन मन्त्रों में जो पद ऋषि नाम रूप में स्वीकार किये जा सकते थे, उन्हें मन्त्र देखकर ऋषि नाम बना दिया। इस प्रक्रिया के कारण ही अचेतन तथा मानवेतर प्राणी भी ऋषि बना दिये गये। इस प्रकार ऋग्वेद के समस्त ऋषि मन्त्रद्रष्टा ही हैं, यह मत सर्वाङ्ग में सम्बद्ध नहीं होता है। अधिक से अधिक भूमान्याय[2] से ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कह सकते हैं।

अनेक विद्वान् अचेतन वा मानवेतर प्राणी सम्बन्धी ऋषिनामों की संगति लगाने के लिये कविनिबद्ध नाम स्वीकार करते हैं। जैसे नाटकों में नाटककार किसी व्यक्ति से कोई संवाद कहलाना चाहता है, तो उस संवाद के कहनेवाले का नाम नाटक में निर्दिष्ट करता है। कालान्तर में उस नाटक का जब मञ्चन किया जाता है, तब उस संवाद को कहनेवाला व्यक्ति यद्यपि भिन्न होता है, परन्तु उसका निर्देश मूल नाटककार-

---

१. द्रष्टव्य पाणिनीय सूत्र—दृष्टं साम ४।२।७; तस्य व्याख्यानः ४।३।६६; तेन प्रोक्तम् ४।३।३०१; कृते ग्रन्थे ४।३।८७,११६; उपज्ञाते ४।३।११५। विशेष द्रष्टव्य 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' का 'पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय' शीर्षक अध्याय, भाग १।

२. बहुशब्द से अतिशय अर्थ में इमनिच् प्रत्यय। 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (अष्टा० ६।४।१५८) से इमनिच् के इकार का लोप और बहु को भू आदेश। भूमा न्याय के लिये मीमांसा १।४।२७ सूत्र और उसका शाबरभाष्य देखें।

निर्दिष्ट नाम से ही किया जाता है। हमारे विचार में यह प्रक्रिया भी सर्वत्र उपपन्न नहीं होती।

वेद के स्कन्दस्वामी वेङ्कटमाधव प्रभृति व्याख्याता ऋषिनामों को भी देवतावत् मन्त्रार्थज्ञान में सहायक मानते हैं। इस मन्त्र की उपपत्ति भी तभी सम्भव है, जब ऋषिनामों का निर्देश मन्त्र में देखकर ही कल्पित किया गया हो। यदि सभी ऋषि ऐतिहासिक व्यक्ति हों तो व्यक्तिनामों के अर्थज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती।

**स्वा० द० स० और मन्त्रसंबद्ध ऋषि**—स्वामी दयानन्द सरस्वती का ऋषिनामों के सम्बन्ध में जो मत है, वह हम पूर्व लिख चुके। ऋग्वेद भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सर्वत्र सर्वानुक्रमणी में निर्दिष्ट ऋषिनामों का अनुगमन नहीं किया है। कहीं-कहीं भेद भी मिलता है। यथा—

ऋ० मं० ३ सूक्त ३३ के ऋषि सर्वानुक्रमणी के अनुसार मं० १-२-३-५-७-९-११-१२-१३ की नदी ऋषिकाएँ हैं और मं० ४-६-८-१० का ऋषि विश्वामित्र है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य में इस पूरे सूक्त का ऋषि विश्वामित्र ही लिखा है। भाष्य का यह अंश स्वामी दयानन्द सरस्वती के निधन के पश्चात् छपा है। उनके जीवनकाल में छपे भाष्य में भी ऋषिभेद उपलब्ध होता है। सर्वानुक्रमणी में ऋ० मं० १ सूक्त १६५ के मन्त्र १-२-४-६-८-१० का इन्द्र, मन्त्र ३-५-७-९ का मरुतः, मन्त्र १३-१५ का अगस्त्य लिखा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य में सम्पूर्ण सूक्त का अगस्त्य ऋषि मुद्रित है। अगले सूक्तों में दोनों में 'अगस्त्य' ऋषि प्रायः समान है।[1] अन्यत्र भी कहीं-कहीं इसी प्रकार का भेद उपलब्ध होता है।

हम पूर्व पृष्ठ १४९ में अति संक्षेप से स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल में मुद्रित और उसके पश्चात् मुद्रित ऋग्वेदभाष्य की स्थिति का उल्लेख कर चुके, उसको परिप्रेक्ष्य में रखकर भी स्वामी

---

१. इसी प्रकरण के ऋ० १।१७० के ऋषिनामों में भेद है। सर्वानुक्रमणी में १-३-४ का इन्द्र और २-५ का अगस्त्य ऋषि कहा है। यहाँ यास्कोक्त 'अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः संप्रदित्सांचकार। स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे' (निरुक्त १।५) संवाद द्रष्टव्य है।

दयानन्द सरस्वती के ऋग्वेदभाष्य में मुद्रित ऋषिनामों को उनके द्वारा स्वीकृत मानने में संकोच होता है।

ऋषिसंबन्धी इस विचार को प्रस्तुत करने का मुख्य प्रयोजन यह है कि सर्वानुक्रमणीयों में निर्दिष्ट सभी ऋषिनाम ऐतिहासिक नहीं हैं। जब याज्ञिक सम्प्रदाय का प्रभाव अत्यन्त हो गया, तब याजन और अध्यापन के समय प्रत्येक मन्त्र के ऋषिदेवताछन्द और विनियोग को जानना प्रारम्भ कर देने से मन्त्रों के साथ अनेक ऐसे नामों को संकलित किया, जो जड़ पदार्थ एवं मानवेतर प्राणीरूप थे और बहुत से मन्त्रों में से कल्पित किये गये (**दृष्टलिङ्गा ऋषयः**)। अब प्रामाणिक माने गये, सर्वानुक्रमणी ग्रन्थों का ही ऋषिनामों में कोई पक्का आधार नहीं है, तब उस पर प्रायः आश्रित स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्य में निर्दिष्ट ऋषिनामों पर विचार कैसे किया जाता है। न्यूनातिन्यून ऋषिनामों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है—**गतानुगतिको लोकः**। अन्य कोई गति मेरी समझ में नहीं आती।

**हाँ, हम इतना कह सकते हैं कि ब्राह्मणादि ग्रन्थों में जिन मन्त्रसंबद्ध ऋषिनामों का निर्देश मिलता है, वे नाम प्रामाणिक हो सकते हैं। और ये ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं, द्रष्टा थे।** इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों पर आधृत है।

**देवता-विचार**—मन्त्रार्थ के ज्ञान के लिये देवता का ज्ञान परम आवश्यक है, यह सभी आचार्यों और भाष्यकारों का सर्वसम्मत मत है। इसीलिये सभी भाष्यकार प्रतिमन्त्र वा सूक्त देवता का निर्देश करते हैं।

**देवता की परिभाषा**—ऋक्सर्वानुक्रमणी में कात्यायन मुनि ने लिखा है—**या तेनोच्यते सा देवता**। अर्थात् ऋचा से जो कही जाती है, वह देवता है।

निरुक्त में यास्क ने देवता की परिभाषा इस प्रकार दी है—**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति** (७।१)। अर्थात् जिस अर्थ की कामना करता हुआ ऋषि जिस देवता की स्तुति करने पर मैं अमुक देवता की कृपा से अमुक अर्थ का स्वामी हो जाऊँगा, इस विचार को ध्यान में रखकर स्तुति करता है, वह मन्त्र उस देवतावाला होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निरुक्त में उक्त वचन की व्याख्या इस प्रकार की है।

**ऋषिरीश्वरः सर्वदृक्, यःकामः यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थमत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्तवानस्ति स एव मन्त्रस्तद्वतो भवति।** ऋ० भा० भूमिका, वेदविषयविचार।

अर्थात् सर्वदृक् ईश्वर, मैं इस अर्थ का उपदेश करूँ ऐसी कामना-वाला जिस देवता में अर्थ का स्वामित्व उपदेश करने की इच्छा करता हुआ उस अर्थ के गुणों का कीर्तन करता है, वह ही उस मन्त्र की देवता होती है।

एक अन्य परिभाषा है—**यस्यै हविः प्रदीयते सा देवता**। अर्थात् जिसे यज्ञ में हवि दी जाती है, वह देवता होती है।

देवता के अन्य लक्षण भी न्यूनाधिकरूप से इसी प्रकार के हैं।

**दो प्रकार के देवता**—मन्त्रों के देवता दो प्रकार के हैं—प्रधान और गौण। जिनकी प्रधानरूप से मन्त्र में स्तुति होती है, वह प्रधान देवता कहाती है। जिस देवता का अन्य प्रधान देवतावाले मन्त्र में प्रसङ्गवश उपादान होता है, वह अप्रधान देवता होती है। निरुक्तकार ने इसे नैघण्टुक देवता कहा है—**यदन्यदेवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्** (१।२०)।

इन देवताओं के विषय में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। कई व्यक्ति इन्हें विग्रहवती (=शरीरधारी) मानते हैं, तो कोई अशरीरी। कई जड़पदार्थों में अभिमानी देवता स्वीकार करते हैं। मीमासकों के मत में देवता शब्दमयी ही है। मध्यकालीन सामान्य याज्ञिक देवताओं को विग्रहवती मानते हैं।

मन्त्र दो प्रकार के हैं—एक वे हैं, जिनमें स्तोतव्य देवता का उल्लेख स्पष्ट प्रतीत होता है और कुछ वे हैं, जिनमें देवता का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं है। जिन देवताओं का लिङ्ग मन्त्र में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, उनके विषय में प्रायः मतभेद का अवकाश नहीं रहता, परन्तु अनादिष्ट देवता वाले मन्त्रों में देवता के परिज्ञान में न केवल कठिनाई ही होती है अपितु उनमें मतभेद का प्रायः अवसर बना रहता है। इसी प्रकार जो मन्त्र पहेली सदृश हैं, उनमें भी विभिन्न देवताओं की कल्पना देखी जाती है। यथा—**चत्वारि शृङ्गा** (ऋ० ४।५४।३) मन्त्र का देवता के यास्क के मत में यज्ञ है—**महो देव इत्येष हि महान् देवो यद् यज्ञः** (नि० १३।७) और

महाभाष्यकार पतञ्जलि के मत में शब्द है—**महान् देवः शब्दः**।..... **महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादिति**(पस्पशाह्निक)।

प्राचीन आचार्यों का मत है कि देवता का निश्चय बहुत कठिनाई से होता है। वेङ्कटमाधव देवतानुक्रमणी में लिखता है—

**देवतातत्त्वविज्ञानं महता तपसा भवेत्।**
**शक्यते किमस्माभिर्यथातथ्येन भाषितम्॥**

बृहद्देवता जो ऋग्वेदीय मन्त्रों का देवतानिर्देशक ग्रन्थ है, उसमें लिखा है—

**योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्धया बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।**
**उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवता या ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्॥**
बृ० दे० ८।१३०॥

इस तात्पर्य को उद्घाटित करनेवाली **अयं स शिङ्क्ते** (ऋ० १।१६४।२९) ऋक् का यास्क ने आख्यानपुरःसरः[1] व्याख्यान किया है (द्र०—२।९)।

**वेदार्थ के प्रक्रियाभेद से देवताभेद**—वेदार्थ के प्रक्रियाभेद से भी देवता का भेद देखा जाता है। यहाँ निदर्शनार्थ याज्ञिक प्रक्रिया और नैरुक्त प्रक्रिया से जो देवताभेद पड़ता है, उसका संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

याज्ञिक मत में विशेषणरहित इन्द्रादि सविशेषण महेन्द्रादि से भिन्न देवता माने जाते हैं। इसीलिये कर्मविधान के समय यागोत्पत्ति वाक्य में तत्तद्विशेषणविशिष्ट देवता का ही उल्लेख करते हैं। यथा—

**इन्द्रायांहोमुच एकादशकपालम्। मै० सं० २।२।१०॥**
**इन्द्राय वैमृधायैकादशकपालम्। मै० सं० २।२।१०॥**
**इन्द्राय वृत्रघ्न एकादशकपालम्। मै० सं० २।२।११॥**
**इन्द्राय क्षेत्रंजयायैकादशकपालम्। मै० सं० २।२।११॥**

इसी प्रकार सोमयाजी के दर्शेष्टि में साम्नाय्य हवि का देवता यजमानभेद से इन्द्र और महेन्द्र **दोनों** कहे गये हैं।

---

१. शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति। तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ विविदिषाणि त्वेति। सास्मा एतामृचमादिदेशैषा मद्दैवतेति। निरु० २।८॥

नैरुक्त शुद्ध नाम को ही देवता मानते हैं। अतः यास्क ने लिखा है—**अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने इन्द्राय वृत्रतुरे इन्द्रायांहोमुच इति तान्यप्येके समामनन्ति।**····**यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत्समामने।** निरुक्त ७।१३॥

याज्ञिक मतानुसार विशेषणयुक्त देवतानामों का समाम्नान किन्हीं नैरुक्तों ने किया था, यह यास्क के उक्त वचन से स्पष्ट है। यास्क से प्राचीन कौत्सव्य का निघण्टु (निरुक्त) अथर्ववेद-परिशिष्टों में उपलब्ध होता है। उसमें देवताप्रकरण में अनेकविशेषणविशिष्ट देवता-नाम पठित हैं। नैरुक्त मत (=आधिदैविक पक्ष) में सभी देवता पद विशेषणरहित ही यास्क ने पढ़े हैं।

नैरुक्त आचार्यों ने (इनमें याज्ञिक मतानुयायी भी सम्मिलित हैं) देवताओं का विभाग पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक के भेद से किया है। यह साम्य ध्यान देने योग्य है। निरुक्त के १३वें अध्याय के आरम्भ में लिखा है—**अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते। अपि वा सम्प्रत्यय एव वा स्यात्। महाभाग्याद्देवतायाः** लिख कर आगे अन्त तक मन्त्रों की अध्यात्मपरक व्याख्या ही की है। इस प्रकरण को आरम्भ करते हुए लिखा है—**सोऽप्यग्निमेव प्रथममाह।** इस लेख से प्रतीत होता है कि अध्यात्मपक्षीय किसी निरुक्त में (जिसके अनुसार यह अध्याय संगृहीत किया गया है) भी देवता-नामों का निर्देश पृथिव्यादि लोकभेद से ही संगृहीत किया गया था। यदि हमारा यह अनुमान प्रमाणान्तर से भी सुदृढ हो जावे तो बहुत महत्त्वपूर्ण होगा। इस स्थिति में पृथिवीस्थानीय अग्नि की अध्यात्मव्याख्या में वही प्रक्रिया अपनानी होगी, जिसके द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भ्रान्तिनिवारण में पृथिवीस्थानीय अग्नि की अध्यात्मप्रक्रिया की संगति लगाई (द्र०—पूर्व पृष्ठ ७१)।

**बहु देवताओं का तैंतीस में, तैंतीस का तीन में, तीन का एक में अन्तर्भाव**—वेद में यज्ञादि के प्रसङ्ग से अनेक देवताओं का वर्णन मिलता है। उनका वेदों में ही **त्रयस्त्रिंशद् देवाः** के रूप में संक्षिप्त निर्देश भी बहुत्र उपलब्ध होता है। उन्हीं ३३ देवों का पुनः स्थानभेद से अग्नि, वायु वा इन्द्र तथा सूर्य में (निरुक्त, ऋक्सर्वा०), तीन का भी एक महान् आत्मा में। वह महान् आत्मा ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार सूर्य है। वेद के अनुसार वह अग्नि है, उसी के इन्द्र मित्र वरुणादि नाम हैं। ब्रह्मिष्ठों की दृष्टि से वह ब्रह्म है, उसी का मुख्य नाम ओम् है। उसे अक्षर भी

कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उस एक महान् आत्मा को मेधावी अनेक नामों से स्मरण करते हैं। यथा—

१. **महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।**
निरुक्त ७।४॥

२. **एकैव वा महानात्मा देवता। स सूर्य इत्याचक्षते। स हि सर्वभूतात्मा। तदुक्तमृषिणा—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति।**
(ऋ० १।११५।१ ऋक्सर्वा०)।

३. **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥**
ऋ० १।१६४।४६॥

(यमेकं सन्तं विप्रा बहुधा वदन्ति स अग्निः। तस्य मन्त्रे द्विः प्रयोगात्)[1]।

४. **ओं खं ब्रह्म।** यजुः ४०।१७॥

५. **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।**
**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सग्रहेण ब्रवीम्योम् इत्येतत्॥**
कठो० २।१५॥

६. **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।**
**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥**
ऋ० १।१६४।३६॥

**वेद में स्मृत त्रयस्त्रिंशद् देवों पर विचार**—त्रयस्त्रिंशद् देवों का वेद में जहाँ उल्लेख आता है, भाष्यकार प्रायः वहाँ शतपथब्राह्मण (१४।६।६।३-१०) उक्त आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य आदि का उल्लेख करते हैं।[2] वेदों में इनका वर्गीकरण अन्य प्रकार से मिलता है। ऋग्वेद १।१३६।११ का एक मन्त्र है—

**ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामेकादश स्थ।**
**अप्सु क्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥**

इस मन्त्र में द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष तीनों लोकों में ११-११ देव कहे गये हैं। और ये ग्यारह-ग्यारह रुद्र हैं। यह प्रतीति अग्निचयन में रुद्रहोम

---

१. द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार।

२. इस ११-११ देवताओं की गणना पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

के प्रसङ्ग में स्थण्डिल पर उच्चावचभेद से ग्यारह-ग्यारह आहुतियों का प्रयोग देखने से हुई ।[1]

देवता के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने याज्ञिकादि सभी मन्त्रार्थ-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेद-विषयविचार' प्रकरण में विस्तारपूर्वक लिखा है। सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में जो देवता लिखे गये हैं, वे यद्यपि प्रमुखतया याज्ञिक-प्रक्रिया के अनुसार हैं, तथापि इनमें बहुत्र मतभेद भी उपलब्ध होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के साथ भी कहीं-कहीं भेद देखा जाता है। द्र०—पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा मुद्रापित ऋग्वेदसंहिता, द्वितीय संस्करण, सं० १९९६, के आरम्भ में 'ऋग्वेदीयसर्वानुक्रमण्यनुक्तदेवता-तद्विशेष-सूची', पृष्ठ ४५-५३ स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्वेदभाष्य में भी ऋक्सर्वानुक्रमणी-निर्दिष्ट देवताओं से कहीं-कहीं भेद उपलब्ध होता है। यजुर्वेद-भाष्य में तो पुरातन प्रामाणिक सर्वानुक्रमणी के उपलब्ध न होने से उन्होंने प्रायः स्वयं देवताओं की प्रकल्पना की है।

**छन्दोविचार**—छन्दों का मन्त्रों के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। ऋङ्मन्त्रों का सारा ढांचा ही छन्दों पर आधृत है। छन्द का लक्षण ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने **'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः'** किया है। इसके अनुसार ऋचा के अक्षरों की इयत्ता बताना छन्द का प्रयोजन है। परन्तु ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा ऋक्प्रातिशाख्य आदि में जिन छन्दों की भेद-प्रभेद-पूर्वक पाद और अक्षर-संख्या दर्शाई है, उनसे सर्वत्र ऋचाओं के अक्षर-परिमाण का यथावत् बोध नहीं होता। इसका कारण यह है कि इन्होंने याज्ञिक-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ब्राह्मणग्रन्थों में उक्त छन्दों का विधान किया है। ब्राह्मणग्रन्थों में बहुत्र कृत्रिम काल्पनिक छन्द दिये हैं। इतना ही नहीं बहुत्र निरपवाद स्वरशास्त्र के नियमों का भी उल्लङ्घन हुआ है।[2]

---

१. अग्निचयन के तीनों प्रयोग हमने यज्ञमूर्ति श्री रंगनाथकृष्ण सेलूकर दीक्षित द्वारा क्रियमाण अग्निचयन महायाग के समय देखे थे।

२. ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा ऋक्प्रातिशाख्य में निर्दिष्ट छन्दःप्रकरण में बहुत से मन्त्रों के कृत्रिम=काल्पनिक छन्द दिये गये हैं, जिनमें ४-५-६ अक्षरों तक छन्दो-लक्षणनिर्दिष्ट संख्या से न्यूनता उपलब्ध होती है (द्र०—वैदिक-छन्दोमीमांसा अ० १८, पृष्ठ २४४-२५३)। इसी प्रकार अनेक स्थानों पर जो पदविभाग किया गया

**वैदिक छन्दःशास्त्र**—वैदिक छन्दों का शासन (=लक्षणादि) सम्प्रति जिन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, वे हैं—

१—ऋक्सर्वानुक्रमणी—कात्यायनमुनिप्रोक्त।

२—ऋक्प्रातिशाख्य—शौनकमुनिप्रोक्त

३—निदानसूत्र—पतञ्जलिप्रोक्त

४—उपनिदानसूत्र—गार्ग्यमुनिप्रोक्त

५—शांखायनश्रौत—शांखायनमुनिप्रोक्त

६—ऋगर्थदीपिका-अन्तर्गत छन्दोऽनुक्रमणी—वेङ्कटमाधव

७—छन्दःसूत्र—पिङ्गलमुनिप्रोक्त

८—छन्दःसूत्र—जयदेवप्रोक्त

इन आठ ग्रन्थों में से शांखायनश्रौतसूत्र के छन्दोभाग को छोड़कर शेष सातों ग्रन्थों में निर्दिष्ट प्रत्येक छन्द के भेद-प्रभेद उनके लक्षण, पाद-अक्षर-संख्या और उदाहरणों का विवरण हमने **वैदिक-छन्दोमीमांसा** में विस्तार से दिया है।

**वैदिक-छन्दों के दो प्रमुख भेद**—वैदिक-छन्दों के दो प्रमुख भेद हैं। इनमें प्रथम में केवल अक्षरगणना ही प्रमुख होती है। इनके प्रमुख भेद हैं—दैवी, आसुरी, प्राजापत्या और आर्षी। इन प्रमुख चार भेदों से युक्त छन्दों में किन्हीं ने केवल गायत्री आदि प्रथम सप्तक का ही वर्णन किया है, तो किन्हीं ने अतिजगत्यादि द्वितीय सप्तक का भी निर्देश किया है। द्वितीय भेद में अक्षरगणना के साथ पादविभाग और पादाक्षरसंख्या की भी विशेषता होती है।

**पादबद्ध छन्द**—मन्त्र दो प्रकार के हैं—पद्यरूप और गद्यरूप। पद्यरूप मन्त्र ऋक् कहाते हैं। इन्हीं में पादबद्ध छन्द प्रयुक्त होते हैं। ऋक् का लक्षण महामुनि जैमिनि ने **तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था** (मी० २।१।३५) किया है। इसके भाष्य में शबरस्वामी ने **क्वचित् छन्दोवशेनापि पादव्यवस्था** लिखकर **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः** (ऋ० १।१।२) उदाहरण दिया है। यहाँ पर प्रथम पाद में क्रियावाचक पद के न होने से किसी अवान्तर अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसी दृष्टि से वेङ्कटमाधव ने

---

है, उसमें स्वरशास्त्रीय दोष के अतिरिक्त व्याकरणशास्त्र के सर्वसम्मत नियमों का भी उल्लङ्घन होता है (द्र०—वही, पृष्ठ २५३-२५६)।

छन्दोऽनुक्रमणी में **पादे-पादे समाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः** (८।१४) में 'प्रायेण' पद का प्रयोग किया है।

**अपादबद्ध (गद्य) मन्त्रों के छन्द**—अपादबद्ध अर्थात् गद्यरूप जो यजुःसंज्ञक मन्त्र हैं, उनमें अनेक विद्वान् छन्दों का सम्बन्ध नहीं मानते। यथा—

**यजुषामनियताक्षरत्वाद् एकेषां छन्दो न विद्यते।**

—यजुःसर्वानुक्रमणी

**यजुषां च विशेषविहितं छन्दो न दृश्यते क्वचित्।** गुणविष्णु, छान्दोग्य-मन्त्र ब्रा० भाष्य, पृष्ठ ७।

**यजुर्मन्त्राणां त्वपरिमिताक्षरोपेतत्वात् छन्दोविभागो नास्ति।**

सायण, वही पृ० ८।

परन्तु अनेक विद्वान् यजुःसंज्ञक मन्त्रों के भी छन्द मानते हैं। यथा—दुर्गाचार्य ने निरुक्त ७।२ की व्याख्या में लिखा है—**नाच्छन्दसि वागुच्चरति।**

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र १४।४५ में लिखा है—**छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्।**

जो विद्वान् यजुओं के छन्द मानते हैं, वे केवल अक्षरगणनामूलक दैवी आसुरी छन्द ही मानते हैं। यजुःसर्वानुक्रमणी का व्याख्याता अनन्तदेव पूर्व उद्धृत यजुःसर्वानुक्रमणी के वचन की व्याख्या में लिखता है—**एकेषामित्युक्तत्वात् केषांचिन्मते यजुषामपि छन्दोऽस्तीति।**

यजुःसर्वानुक्रमणी का अन्य अज्ञातनामा व्याख्याकार[1] लिखता है—**केषाञ्चिन्मते यजुषामपि 'दैव्येकम्' 'आसुरी पञ्चदश' इत्यादि पिङ्गलोक्तं छन्दो भवति। अपरे तु व्यवस्थितविकल्पमिच्छन्ति। येषां यजषां पिङ्गलोक्तं छन्दः संभवति तेषामस्त्येव। येषां तु न सम्भवति अधिकाक्षरत्वात् तेषां नास्त्येव।**

**स्वामी दयानन्द सरस्वती और यजुर्मन्त्रों के छन्द**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के भाष्य में यजुःसंज्ञक गद्यमन्त्रों के छन्द पिङ्गल के छन्दःशास्त्र के अनुसार दिये हैं। यजुःसर्वानुक्रमणी के दूसरे व्याख्याता के व्यवस्थित विकल्प पक्ष, जिनके अधिकाक्षर होने से छन्दोऽभाव कहा है,

---

१. इसके विषय में 'वैदिक-छन्दोमीमांसा', संस्क० २, पृष्ठ ८ की टि० १, (ख) देखें।

के भी एक से अधिक विभाग करके छन्दों का निर्देश किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समस्त यजुर्वेदीय गद्य-पद्य मन्त्रों के छन्द अक्षरों की गणना करके दिये हैं।[1] अतः अक्षरगणना में प्रमाद से भूल हो जाने पर उसका छन्दोनिर्देश अशुद्ध होना स्वाभाविक है।

**ऋग्वेद के छन्द**—ऋग्वेद की ऋचाओं के छन्द कात्यायन ने स्वीय छन्दःपरिभाषाओं के अनुसार दिये हैं, जो पादबद्ध मन्त्रों के लिये ही हैं। तथा ये छन्द और इनकी परिभाषाएँ भी ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में निर्दिष्ट छन्दोनिर्देशों के अनुसार हैं। प्रायः सभी भाष्यकारों ने प्रतिमन्त्र वा सूक्त ऋषि, देवता और छन्दों का प्रसिद्ध सूक्त के आरम्भ में निर्देश किया है। केवल स्कन्द स्वामी ही एक ऐसा भाष्यकार है, जिसने छन्दों का निर्देश नहीं किया। वह ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में लिखता है—

**तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्॥**

अर्थात् ऋषि और देवताओं का मैं निर्देश करूंगा अर्थ में उपयोगी होने से। छन्द का निर्देश नहीं करूंगा, अर्थ में अनुपयोगी होने से।

माध्वसम्प्रदाय के आचार्य जयतीर्थ ने मध्वाचार्यविरचित ऋग्वेद-भाष्य (आदि के तीन अध्याय) की व्याख्या करते हुए लिखा है—**एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति** (पत्रा १३, क)।

जयतीर्थ ने **एतेन** पद से किस हेतु की ओर संकेत किया है, इसका परिज्ञान हमें उसकी व्याख्या तथा जयतीर्थ की व्याख्या पर लिखे गये, नृसिंह के विवरण (छलारी-टीका) से ही विदित हुआ।[2]

पिङ्गल और जयदेवप्रोक्त छन्दःशास्त्र के अतिरिक्त पूर्वनिर्दिष्ट (पृष्ठ २२१) छन्दःसम्बन्धी जो ग्रन्थ हैं, वे सब याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार लिखे गये हैं। ऐसा होने पर भी इनमें बहुत्र विषमता वा विरोध उपलब्ध होता है।[3]

---

१. यह अक्षरगणना स्वयं न करके सहयोगी पण्डितों से कराई थी।

२. इस समय 'फरीदाबाद' में मेरे पास ये ग्रन्थ नहीं हैं अतः पुनः पूर्व लेख (वै० छ० मी० पृष्ठ ६९, संस्क० २) की परीक्षा नहीं कर सका।

३. द्र०—वैदिक-छन्दोमीमांसा पृष्ठ २४९-२५३, संस्क० २।

स्कन्दस्वामी ने छन्दों को अर्थ में अनुपयोगी कहा है। यद्यपि सायणादि अन्य भाष्यकारों ने छन्दों का निर्देश किया है, परन्तु उनकी अर्थ में किस प्रकार उपयोगिता है, इस पर कुछ नहीं लिखा।

हमें बहुत वर्षों तक यह बात खटकती रही कि वेद के व्याकरणादि पाँच अङ्ग तो किसी न किसी प्रकार साक्षात् उपयोगी हैं, परन्तु छन्दः-शास्त्र यदि मन्त्राक्षरों की इयत्ताबोधन तक ही सीमित है, उसका वेदार्थ में उपयोग नहीं तो इसकी अर्थावबोधक अन्य वेदाङ्गों के साथ गणना क्यों की जाती है? इसी प्रकार मन्त्र में एक-दो अक्षर न्यून वा अधिक होने पर भी छन्दोभेद नहीं होता (**न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्**। ऐ० ब्रा० १।१; २।२७)। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या मन्त्र-रचयिता (चाहे वह ब्रह्म हो चाहे ऋषिविशेष) को यथावत् छन्दःशास्त्र का बोध नहीं था या उसमें छन्दःशास्त्र का यथावत् अनुगमन करने का सामर्थ्य नहीं था। इन प्रश्नों के उत्तर हमें कई दशकों में प्राप्त हुए। इन सबका निवेश छन्दोमीमांसा में यथास्थान कर दिया है। सुधी पाठकों को उससे कुछ-न-कुछ प्रकाश अवश्य प्राप्त होगा। छन्दोमीमांसा संस्करण २ के अन्त में संकलित **'मन्त्राणाम् आधिदैविकार्थविज्ञाने छन्दसां साहाय्यम्'** लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है।

**स्वा० द० स० के ऋग्भाष्य में छन्दों का निर्देश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वेद की प्राचीन मर्यादा के अनुसार ऋग्वेद के भाष्य में प्रतिसूक्त ऋषिदेवता के साथ छन्द का भी निर्देश किया है। ऋषि और देवता के निर्देश में तो ऋक्सर्वानुक्रमणी से स्वल्प ही अन्तर है, परन्तु छन्दोनिर्देश में अधिक भेद है। इसके दो कारण हैं—

(१) अन्य भाष्यकार ऋङ्मन्त्रों में अक्षरगणनाप्रधान दैवी आसुरी आदि छन्दों का सम्बन्ध ऋङ्मन्त्रों के साथ नहीं मानते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दैवी आसुरी का सम्बन्ध ऋङ्मन्त्रों के साथ भी स्वीकार किया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि पिङ्गलाचार्य ने ऐसा कहीं भी ध्वनित नहीं किया कि दैवी आदि छन्द पादबद्ध मन्त्रों के नहीं होते।

(२) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो छन्दों का निर्देश किया है, वह पिङ्गलछन्दःशास्त्र पर आधृत है। इसके तीन कारण हैं—

(क) अन्य वैदिक छन्दःशास्त्र जहाँ वेद की विभिन्न संहिताओं के साथ संबद्ध हैं, यहाँ उनका सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रिया के साथ भी है। केवल

पिङ्गलाचार्य का एक मात्र छन्दःशास्त्र ऐसा है, जिसका सम्बन्ध किसी वैदिकसंहिताविशेष वा वेदार्थ की प्रक्रियाविशेष के साथ नहीं है। अतएव निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति के व्याख्याता हृषीकेश अपरनाम पेत्ता-शास्त्री ने लिखा है—

**याष्षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचितयः कृताः।**
**तासां पिङ्गलनागीया सर्वसाधारणी भवेत् ॥**[1]

अर्थात् पिङ्गलनागप्रभृति ने जो ६ छन्दोविचितयाँ रची हैं, उनमें पिङ्गलनाग की छन्दोविचिति ही सर्वसाधारण है।

(ख) पिङ्गलाचार्यकृत छन्दःशास्त्र को ही सभी छन्दोविषयक वेदाङ्ग मानते हैं, अन्य किसी को नहीं। अतः पिङ्गलछन्दःशास्त्र के वेदाङ्ग होने से उसी का आश्रय लेना युक्तियुक्त है।

(ग) पिङ्गलछन्दःशास्त्र में छन्दोनिश्चय में अक्षरसंख्या को प्रमुखता दी है।

शौनकाचार्य ने भी सन्दिग्ध छन्दों के निर्णायक हेतुओं में अक्षरसंख्या को ही प्रधानता दी है—

**अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्।**
**विद्याद् विप्रतिपन्नानां पादवृत्ताक्षरैर्ऋचाम् ॥**

ऋक्प्रातिशाख्य १७।२१॥

इसलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदमन्त्रों के अक्षरों की गणना कर वा करा कर उनके अनुसार ही पिङ्गलछन्दोक्त छन्दों का निर्देश प्रतिमन्त्र किया है। अक्षरगणना में भूल वा प्रमाद के कारण गणना में यदि एक दो अक्षरों की जहाँ भी न्यूनाधिकता हो गई, वहीं छन्दोनिर्देश में भी भूल हुई है। परन्तु ऐसे स्थल स्वल्प हैं। ग्रन्थकार की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ऐसी भूलों का **एतद् एकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्** (महाभाष्य १।१।१) नियम के अनुसार यथोचित संशोधन किया जा सकता है। अतएव मैंने जहाँ तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्वेदभाष्य(मं० १, सूक्त १—१०५का सम्पादन) किया है,ऐसी भूलों का

---

१. निदानसूत्र की भूमिका (अंग्रेजी), पृष्ठ २५ पर उद्धृत (द्र०—लाहौर मुद्रित संस्करण)।

यथास्थान संशोधन कर दिया है और पूर्वमुद्रित अशुद्ध पाठ नीचे प्रदर्शित कर दिया है।

अक्षरगणनानुसारी दैवी आसुरी आदि छन्दों के निर्देश के विषय में यह जानना आवश्यक है कि दैवी आसुरी आदि छन्दों का पादबद्ध मन्त्रों में भी निर्देश हो सकता है या नहीं, इस विषय में यदि प्राचीन वैदिक वाङ्मय का अवलोकन करें, तो हमें स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पादबद्ध मन्त्रों में भी दैवी आसुरी आदि छन्दों का निर्देश किया जा सकता है। यथा—

१. सामवेद के छन्दोविषयक उपनिदानसूत्र में गार्ग्य ने सामवेद पूर्वार्चिक ५।२।२।३ (पूर्णसंख्या ४४९) के **भगो न चित्रः** मन्त्र का **त्रिपदाऽसुरी जगती** छन्द लिखा है (द्र०—उपनि० पृष्ठ १२)।

२. अथर्ववेदीयबृहत्सर्वानुक्रमणी में तो बहुत्र पादबद्ध मन्त्रों के दैवी आसुरी विभागान्तर्गत छन्दों का निर्देश मिलता है। यथा—

अथर्व ७।९७।५-७ के विषय में लिखा है—

**यज्ञ यज्ञमिति त्रिपदाऽऽर्ची भुरिग्गायत्री, एष ते यज्ञ इति त्रिपात् प्राजापत्या बृहती, वषड्हुतेभ्य इति त्रिपदा साम्नी भुरिग् जगती।**

अथर्व १६।६।१-४ के विषय में लिखा है—

**अजैष्माद्य इत्येकादशोषोदेवत्याः प्रथमाश्चत्वारः प्राजापत्यानुष्टुभः।**

इस प्रकार अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी में ऐसे बहुसंख्यक निर्देश हैं, जिनमें पादसंख्या के साथ आसुरी प्राजापत्या आर्ची साम्नी आदि विभिन्न छदों का निर्देश मिलता है (द्र०—वैदिकछन्दोमीमांसा पृष्ठ २३२, २३३)।

३. अथर्ववेद के २०वें काण्ड के मन्त्रों के ऋषि देवता छन्द आदि ऋग्वेदीय **आश्वलायनानुक्रम** के अनुसार दिये हैं।[1] उनमें भी बहुत्र आर्च्ची साम्नी प्राजापत्या आदि का निर्देश मिलता है। यथा—

अथर्ववेद २०।२।३-४ के विषय में लिखा है

**इन्द्रो ब्रह्मा आर्च्युष्णिक्। देवो द्रविणोदा साम्नी त्रिष्टुप्।**

---

१. आथर्वणे विंशतितमकाण्डस्य सूक्तसंख्या सम्प्रदायात्। ऋषिदैवतछन्दांस्याश्वलायनानुक्रमानुसारेण व्याख्यास्यामः, खिलान् वर्जयित्वा। बृ० सर्वा०, पटल ११ के आरम्भ में।

इससे स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य में जिन छन्दों का निर्देश किया है, ये प्राचीन परम्परा में पादबद्ध मन्त्रों में भी स्वीकार किये जाते थे।

**सायणाचार्य आदि द्वारा निर्दिष्ट छन्दों का प्रत्याख्यान**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य में अनेकत्र[1] सायण विलसन और मोक्षमूलर द्वारा स्व-व्याख्याओं में उद्धृत छन्दों का बलपूर्वक प्रत्याख्यान किया है। यथा—

ऋग्वेदभाष्य १।३९ की उपक्रमणिका में वे लिखते हैं—

**अत्र सायणाचार्यादिभिर्विलसनमोक्षमूलराख्यादिभिश्चैतत्सूक्तस्था [युजो] मन्त्राः सतोबृहतीछन्दस्काः, अयुजो बृहतीछन्दस्काश्च,[इति] छन्दः शास्त्राभिप्रायमविदित्वाऽन्यथा व्याख्याता इति मन्तव्यम्।**

अर्थात् यहाँ सायणाचार्य आदि [भारतीयों] और विलसन मोक्षमूलर आदि [योरोपियनों] ने इस सूक्त के समसंख्यावाले मन्त्र सतोबृहतीछन्दवाले तथा विषम संख्यावाले मन्त्र बृहतीछन्दवाले, ऐसा छन्दशास्त्र के अभिप्राय को न जानकर अन्यथा (=अयुक्त) व्याख्यान किया है।

इसी प्रकार ऋग्वेद १।४४ के आरम्भ में वे लिखते हैं।

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के मतानुसार छन्दःनिर्देश मन्त्रार्थ व्याख्या में उपयोगी है। यह निम्नलिखित वाक्यों से स्पष्ट है। इस विषय में हमारी "छन्दो मीमांसा" ग्रन्थ भी देखें।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के ५३वें सूक्त का भाष्य आरम्भ करते हुए स्वामीजी लिखते हैं—"सायणाचार्य्यादीनां मोक्षमूलरादीनां वा यदि छन्दः षड्जादिस्वरज्ञानमपि न स्यात्, तर्हि भाष्यकरणयोग्यता तु कथं भवेत्॥ (जब सायणाचार्य्यादि वा मोक्षमूलरादिकों को छन्द और षड्जादि स्वरों का भी ज्ञान नहीं, तो भाष्य करने की योग्यता तो कैसे होती)। इसका भाव यह है कि जैसे व्याकरणादि अङ्ग वेदार्थज्ञान में सहायक हैं, तद्वत् छन्दःशास्त्रानुसार यथावत् छन्दोज्ञान न होने से मन्त्रार्थ का भी ठीक-ठीक बोध नहीं हो सकता।

ऋग्वेद १।६३ भाष्य के आरम्भ में स्वामीजी लिखते हैं—"यद्येतेषां रावणोवटसायणमहीधरमोक्षमूलरादीनां छन्दोविज्ञानमपि नास्ति, तर्हि वेदार्थव्याख्यानानार्थस्य तु का कथा?" (यदि इन रावण, उवट, सायण, महीधर, मोक्षमूलर आदि को छन्दोज्ञान भी नहीं है, तो वेदार्थ व्याख्यान का तो कहना ही क्या?)

**अत्र सायणाचार्यादिभिर्विलसनमोक्षमूलरादिभिश्च युजः सतोबृहत्योऽ-युजो बृहत्य इत्युक्तम्। तदलीकतरम्। इत्थमेतेषां छन्दोविषयज्ञानं सर्वत्रे-वास्तीति वेद्यम्।**

[अभिप्राय पूर्ववत्]

यहाँ प्रश्न हो सकता है इन सूक्तों के मन्त्रों के जो छन्द सायण आदि ने लिखे, वे उन्होंने कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार लिखे हैं। ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कात्यायन के विषय में कुछ न लिखकर सायण विलसन मोक्षमूलर प्रभृति की आलोचना क्यों की?

इसका उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूर्व उद्धरण में पठित **'छन्दःशास्त्राभिप्रायमविदित्वा'** पदों में छिपा हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक यज्ञों की प्रक्रिया को यथावत् स्वीकार किया है, यह हम उनके ग्रन्थों के उद्धरण देकर (पूर्व पृष्ठ १३६-१४१) विस्तार से लिख चुके हैं। कात्यायन प्रभृति ने जिन छन्दों का विधान किया है, वह याज्ञिक प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर किया है। अतः उनके द्वारा निर्दिष्ट छन्द याज्ञिक प्रक्रिया के लिये उपयोगी हैं, न कि मन्त्रार्थ में। सायण विलसन मैक्समूलर प्रभृति ने वेदार्थ में कात्यायनोक्त याज्ञिकप्रक्रियानुसारी छन्दों का अस्थान में उल्लेख किया है। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कात्यायन द्वारा निर्दिष्ट छन्दों का अस्थान में प्रयोग करनेवालों की नाम-निर्देशपुरःसर आलोचना की है, कात्यायन की आलोचना नहीं की। उसके द्वारा निर्दिष्ट छन्दों का याज्ञिक प्रक्रिया में ज्ञान होना आवश्यक है, यह स्वामी दयानन्द सरस्वती भलीभाँति जानते थे।

**विशेष छन्दःशास्त्र**—यद्यपि सामान्यरूप से पिङ्गलाचार्यप्रोक्त ही छन्दःसूत्र वेदाङ्ग है और सर्वसाधारण है। तथापि प्रसंगात् पूर्वनिर्दिष्ट वेदविषयक छन्दोग्रन्थों में एक अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्देश करना मैं आवश्यक समझता हूं। वह है सामवेदीय निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति। यद्यपि इसका सामवेद के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, पुनरपि इसमें एक ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है, जो किन्हीं अन्य छन्दोग्रन्थों में नहीं है और उसके विना वेदविषयक कुछ गुत्थियां सुलझ ही नहीं सकतीं। वह है—

प्रत्येक छन्द की पादाक्षरसंख्या नियत है। जैसे गायत्री और अनुष्टुप् की पादाक्षर संख्या ८ है, त्रिष्टुप् की ११, जगती की १२। ये नियत-संख्यावाले पाद कितने अक्षरों तक बढ़ सकते हैं, इसका उल्लेख इस

छन्दोविचिति में किया है। अष्टाक्षर पाद पाँच अक्षरों तक किन्हीं के मत में चार अक्षरों तक छोटा हो सकता है और दश अक्षरों तक बढ़ सकता है। इसी प्रकार अन्य नियताक्षरपादों के सम्बन्ध में जानना चाहिये। इस विषय का विस्तार से वर्णन हमने वैदिक-छन्दोमीमांसा के पृष्ठ २५७-२६४ (द्वि० संस्क०) में किया है।

पादाक्षर के प्रतिक्रमण और अभिक्रमण नियम के अनुसार **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत** (ऋ० १।१।२) मन्त्र में शबरस्वामी ने अर्थानुरोध से पादव्यवस्था न मानकर छन्दोऽनुरोध से पादव्यवस्था दर्शाई है। उसमें भी प्रथम पाद **ईड्यः** पर्यन्त दशाक्षर का और द्वितीय पाद **नूतनैरुत** पञ्चाक्षर का मान लें तो जैमिनि के ऋग्लक्षण में कोई दोष नहीं रहता।

इसलिये पाठकों से निवेदन है कि जहाँ कहीं सामान्य दृष्टि से पादविभाग मानने पर कोई स्वर-दोष उपस्थित हो, वहाँ निदानान्तर्गत छन्दोविचिति के पादाक्षर के प्रतिक्रमण और अभिक्रमण नियम के अनुसार भी दोषनिवृत्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

[वैदिक छन्द.शास्त्रों के विविध नियम उदाहरण और तद्विषयक प्रायः समस्त विषयों का वर्णन हमने 'वैदिक-छन्दोमीमांसा' में किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्य में निर्दिष्ट छन्दों की वास्तविकता के लिये 'वैदिक-छन्दोमीमांसा' का १८वाँ अध्याय विशेषरूप से देखें।]

**मन्त्रों का विनियोग**—सायणादि ने अपने वेदभाष्य में प्रतिमन्त्र यज्ञकर्म में विनियोग भी दर्शाया है परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वभाष्य में कर्मकाण्ड की दृष्टि से अर्थात् याज्ञिक-प्रक्रियापरक अर्थ नहीं किया है। अतः उनको विनियोग दिखाने की आवश्यकता ही नहीं थी।

**सब भाष्यकारों से स्वा० द० स० एक कदम आगे**—स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्ववर्ती किसी भाष्यकार ने स्वभाष्य में प्रतिमन्त्र **षड्जादि स्वरों** का निर्देश नहीं किया था। षड्जादि स्वरों का इदम्प्रथमतया निर्देश स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ही स्ववेदभाष्य में किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रतिमन्त्र षड्जादि स्वर पिङ्गलाचार्य के **स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः** (३।६४)[1] सूत्र के

१. स्वराः षड्जादयः (३।६३) इति यादवप्रकाशः।

अनुसार लिखे हैं।[1] तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'प्रतिज्ञाविषय' में लिखा है—**इदानीं यच्छन्दोऽन्वितो यो मन्त्रस्तस्य [तत्] स्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहारप्रसिद्धेः।**

**पदपाठ**—सायणादि भाष्यों में पदपाठ भी मुद्रित मिलता है। पुनरपि यह नहीं कहा जा सकता कि सायणादि ने पदपाठ को अपने भाष्य का अङ्ग बनाया था या नहीं। हाँ, इतना कह सकते हैं कि उन्होंने यथासम्भव पदपाठ का आश्रय लिया था। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पदपाठ को भाष्य के अङ्गरूप में स्वीकार किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्त में लिखते हैं—

**सम्पूर्णकार्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः।**
**पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम्॥**

**मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।**
**पदार्थान्वयभावार्था क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः॥**

अर्थात् मैंने संक्षेप से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पूर्ण कर दी अतः ईशान की भक्ति और सुमति सहित सुष्ठु प्रमाणों से युक्त मन्त्रभाष्य करता हूं। यहाँ भाष्य का क्रम होगा—मन्त्रार्थभूमिका, मन्त्रपाठ, पदपाठ, पदार्थ, अन्वय और भावार्थ।

मन्त्रभूमिका, पदार्थ अन्वय और भावार्थ पर आगे लिखा जायेगा। मन्त्रपाठ के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ ८६) लिख चुके हैं कि स्वामी

---

१. भरतनाट्यशास्त्र में रस विशेष का षड्जादि स्वरविशेष सम्बन्ध दर्शाया है। मुझे संगीत शास्त्र का परिज्ञान न होने से जब मैंने यह प्रकरण पढ़ा, तो समझ में नहीं आया कि 'रसविशेष से सम्बन्ध' सन्दर्भ का एक स्वर के साथ कैसे सम्बन्ध हो सकता है अर्थात् एक ही स्वर में पूरे सन्दर्भ का कैसे उच्चारण किया जा सकता है अतः वैदिक स्वरमीमांसा में 'सन्दर्भ-स्वर' का निर्देश तो कर दिया, परन्तु उस पर कुछ विशेष नहीं लिखा। इसी प्रकार वेदमन्त्रों के गायत्री आदि पूरे छन्द का एक षड्ज आदि स्वरविशेष में कैसे उच्चारण हो सकता है? इसके अभाव में गायत्री आदि का षड्जादि स्वरों के साथ सम्बन्ध कैसे स्वीकार किया गया है। इस शङ्का का समाधान चिरकाल पश्चात् जब मैंने यादवप्रकाश की 'पिङ्गलछन्दोविचिति' का भाष्य छपवाया तो उसमें मिला। वस्तुतः हमारे तक बहुत-सी वेदविषयक मान्यताएँ पहुंचती ही नहीं। अतः हम अपने अल्पज्ञान से या तो भटकते रहते हैं या मनमानी कल्पनाएँ कर बैठते हैं।

दयानन्द सरस्वती ने योरोपियन विद्वानों द्वारा सम्पादित और प्रकाशित वैदिक संहिताओं को अपने भाष्य आदि में आधार बनाया था। इस कारण उनके भाष्य में कई प्रकार की पाठ की अशुद्धियाँ हैं।[1]

ऋग्वेद का पाठ शाकल्यमुनिप्रोक्त है। यजुर्वेद का पदपाठ किस आचार्य द्वारा प्रोक्त है, यह इदमित्थंतया नहीं कह सकते, परन्तु हमने माध्यन्दिनसंहिता के पदपाठ के सम्पादन के लिये जिन हस्तलेखों का उपयोग किया था, उनमें एक 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' कलकत्ता का पूर्वार्द्ध का था। इसके अन्त में **इति शाकल्यकृतपदविंशतितमोऽध्यायः** लिखा है (द्र०—सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ६८३)। हमारे पास सम्पूर्ण माध्यन्दिन संहिता का संवत् १४७१ का पदपाठ है।[2] इसके अन्तिम दस अध्यायों के अन्त में लिखा है—**इति श्रीवाजसनेयीसंहितायां शाकल्यकृते पदे**……।

ऋग्वेद के और माध्यन्दिन संहिताओं के पदपाठ की शैली में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है।[3] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद का पदपाठ मैक्समूलर-सम्पादित सायणभाष्य के साथ मुद्रित पदपाठ से और यजुर्वेद का पदपाठ सम्भवतः किसी हस्तलिखित ग्रन्थ से लिया है।

माध्यन्दिन पदपाठ के चार अवान्तर भेद हैं। जिनमें दो भेद मुख्य हैं—एक पाठ में संहिता के समान व्यञ्जनों का द्वित्वरूप पाठ है, दूसरे में व्यञ्जनों का एकत्व ही है, केवल रेफ से उत्तरवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व

---

१. ऋग्वेद की ऋचाओं की गणना में स्वामी दयानन्द सरस्वती, मैकडानल और सत्यव्रत सामश्रमी प्रभृति ने मैक्समूलर द्वारा सम्पादित वा प्रकाशित पाठ को ही आधार बनाया अतः इनकी ऋग्गणना में बहुविध भूलें हैं। द्र०—हमारी 'ऋग्वेदस्थ ऋक्संख्या' (संस्कृत-हिन्दी)।

२. 'संवत्कालातीतविक्रमसंवत् १४७१ वर्षे शाके १३३६ वर्तमाने सींधणी-ग्रामवास्तव्यज्योतिरामदेवशुत ज्योतिपीपाशुत अमरेश्वरपठनार्थं लिखितम्।' यह हस्तलेख हमारे मित्र केकड़ी (अजमेर) निवासी श्री पं० मदनमोहनजी व्यास ने हमें दिया था।

३. उपलब्ध सभी पदपाठों की प्रवचनशैली में कुछ-कुछ अन्तर है, परन्तु साम का पदपाठ सबसे निराला है। सभी पदपाठों की प्रवचनशैली के निदर्शनार्थ हमारे द्वारा सम्पादित माध्यन्दिनपदपाठ का प्रारम्भिक भाग देखें।

उपलब्ध होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जहाँ से स्वपाठ लिया है, वह द्वितीय पाठ के अनुरूप था।

अजमेरमुद्रित ऋग्वेदभाष्यस्थ पदपाठ प्रायः शुद्ध है; परन्तु यजुर्वेद-भाष्यस्थ पदपाठ बहुत अशुद्ध है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद और यजुर्वेदीय पदपाठ में दो या दो से अधिक जो पद पुनः प्रयुक्त होते हैं, उन्हें स्मरण में, लिखने में वा छापने में छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार के परित्यक्त पद गलित पद कहाते हैं। यह शैली सर्वत्र समान नहीं है। द्रष्टव्य कात्यायन प्रातिशाख्य उव्वट टीका। ऋग्वेद सायण भाष्य के जो संस्करण भारत वा योरोप में छपे थे, उनमें मन्त्र के नीचे पदपाठ में गलित पदों को यथास्थान यथानियम जोड़ दिया गया था; परन्तु यजुर्वेद का सभाष्य ऐसा कोई संस्करण स्वामी दयानन्द सरस्वती के यजुर्वेद भाष्य से पूर्व नहीं छपा था, जिसमें गलित पद यथास्थान यथानियम पूरित किये गये हों। भाष्य के साथ सभी पदों का पाठ छापना उचित होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के सहायक पण्डितों को यजुर्वेदीय पदपाठशैली का अभ्यास न होने से पदपाठ में छोड़े गये पदों के लेखन में बहुत भूलें हैं। यह हम पूर्व पृष्ठ ७८ पर लिख चुके हैं।

**पदपाठों का स्वरूप**—मन्त्रपाठ में सभी मन्त्रपद संहितारूह में पढ़े वा लिखे जाते हैं। यथा—**अरुणोमासकृद्वृकःपथायन्तंददर्शहि**[1] (ऋ० १। १०५।१८)। पदपाठ में मन्त्रगत पाठ की उदात्तादि स्वरसन्धियों और अच् हल् सम्बन्धी संहिताओं को तोड़कर पढ़ा जाता है। इस पाठ के पदकारों ने अनेक ऐसे नियम बनाए हैं, जिनसे प्रकृति-प्रत्यय, समास का स्वरूप, अवान्तर पद-विच्छेद (अवग्रह-निर्देश), छान्दस दीर्घत्वादि को हटाकर लौकिकरूप तथा प्रगृह्यसंज्ञक पदों का स्वरूप आदि का परिज्ञान बड़ी सरलता से हो जाता है। **अतः हम इन्हें वेदों के प्रारम्भिक संक्षिप्त भाष्य कह सकते हैं**। ये उत्तरवर्ती भाष्यकारों के पथप्रदर्शक बनते हैं।

पदपाठ ऋषि-मुनियों द्वारा प्रोक्त (पौरुषेय) हैं, अतः परतः प्रमाण हैं। उनमें कुछ न कुछ न्यूनताएँ रहनी स्वाभाविक हैं। यथा—

१. अल्पज्ञता से भूल—पुरुष चाहे कितना ही अशेषशेमुषीसम्पन्न क्यों

---

१. सम्प्रति वेद के जो मुद्रित पाठ मिलते हैं वे न पूरे संहिनापाठ के रूप में हैं और न पदपाठ के रूप में। इनका योरोपीय विद्वानों ने सरलीकृत पाठ छापा है। यथा—**अरुणो मा सकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि**। यह मुद्रण अवैदिक है।

न हो, उसकी अल्पज्ञता से पदपाठ में कहीं न कहीं भूल होना सम्भव है। इसका एक उदाहरण निरुक्त से उद्धृत करते हैं, जिसका उल्लेख यास्क ने किया है—

**वनेनवायोन्यधायिचाकन्** (ऋ० ९।३५।५)। **वन इव वायोः वे पुत्रः वायन्निति वा कामयमान इति वा। वेति च य इति च चकार शाकल्यः उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यद् असुसमाप्तश्चार्थः**। निरुक्त ६।२८॥

इसका अभिप्राय यह है कि **वनेनवायोन्यधायिचाकन्** इस संहितापाठ का शाकल्य ने '**वने। न। वा। यः। न्यधायि। चाकन्।**' ऐसा पदपाठ किया है। अर्थात् 'वायः' एक पद को '**वा। यः**' दो पद माने हैं। ऐसा करने से 'यः' के योग में क्रिया को उदात्त होना चाहिये था, जो कि अनुदात्त है। तथा यत् के योग में तत् का प्रयोग न होने से अर्थ भी अपूर्ण रहता है।

२. सभी सम्भव अर्थों का असंग्रह—मन्त्र में जितने अर्थ प्रतीयमान हो सकते हैं, उन सबका संग्रह पदकार पदपाठ के प्रवचन द्वारा नहीं कर सकते। यथा—

**अरुणोमासकृद्वृकःपथायन्तदद्दर्शहि** (ऋ० १।१०५।१८)।

शाकल्य ने इस मन्त्र के 'अरुणः। मा। सकृत्। वृकः। पथा। यन्तम्। ददर्श। हि' पदविभाग दर्शाया है। इसके अनुसार अर्थ होगा—वृक= चन्द्रमा ने मार्ग से जाते हुए मुझे एक बार देखा। निरुक्तकार ने इसका अर्थ किया है—**अरुण आरोचनः। मासकृत् मासानां चार्धमासानां च कर्ता चन्द्रमाः। वृकः पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम्** (५।२०)। इसका अभिप्राय होगा—प्रकाश से दीप्त मास और अर्धमास को बनानेवाले वृक चन्द्रमा ने अपने मार्ग से जाते हुए नक्षत्रगण को देखा। यास्क के अनुसार पदच्छेद होगा—**अरुणः। मासकृत्। वृकः**……।

३. पदकार जिस व्याकरणशास्त्र के अनुसार पदविभाग अथवा अवान्तर पदविभाग (अवग्रह) आदि दर्शाता है, उसमें अन्य व्याकरण के अनुसार भेद सम्भव है, विशेषकर अवान्तर पदविभाग (अवग्रह) में। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार अवग्रह में तीन प्रयोगों को ध्यान में रखकर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तीन स्थानों पर लिखा है—**न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथा लक्षणं पदं कर्तव्यम्** (३।१।१०९, ६।१।२०७, ८।२।१६)।

इसका तात्पर्य यही है कि संहितापाठ ही अपौरुषेय स्वतःप्रमाण है। पदपाठ व्याकरणशास्त्रानुसार जैसे सम्भव है, किया जा सकता है।

**'अनुव्यचलत्, अनुव्याकरोति, यत्परियन्ति'** तथा **'वाससी इव' 'कन्ये इव' 'प्र प्र' 'दिवे दिवे'** इत्यादि को पदकार एक समस्त पद मानते हैं, परन्तु पाणिनि इनमें समास नहीं मानता। उसके मतानुसार 'अनुव्याकरोति' में चार पद हैं—अनु, वि, आ, करोति। इसी प्रकार 'वाससी इव' आदि में दो-दो पद हैं। इन्हें समस्त स्वीकार न करने पर भी पाणिनीय स्वरनियमों के अनुसार सांहितिक स्वर सिद्ध हो जाते हैं। वार्तिककार कात्यायन, जो शुक्लयजुःप्रातिशाख्य का प्रवक्ता भी था, ने पदकारों के उक्त पदविभागों को ध्यान में रखकर तीन वार्तिक पढ़े हैं—**'उदात्तगतिमता च तिङा। इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च। अव्ययमव्ययेन।'** परन्तु **'दिवे-दिवे'** प्रभृति में पाणिनि ने द्विर्वचन करते हुए, समास का विधान करके एकपदत्व स्वीकार किया है।

इन सबका निष्कर्ष यही है कि पदकारों द्वारा प्रदर्शित पदविभाग से भिन्न भी यदि पदविभाग किये जायें, तो वे भी स्वरादि दोषों के अभाव में प्रमाण हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पदकारों द्वारा प्रोक्त पदविभाग अप्रमाण है। यथालक्षण पदविभाग का विधान करनेवाले पतञ्जलि ने भी **ऊदनोर्देशे** (अष्टा० ६।३।९८) में पाणिनि द्वारा दीर्घ ऊकारादेश के विधान को **अवग्रहे दोषः स्यात्** कहकर पदपाठ की प्रामाणिकता यथावत् स्वीकार की है।

**पदपाठ की प्रामाणिकता और स्वा० द० स०**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महाभाष्यकार पतञ्जलि के लेख के अनुसार पदपाठ से भिन्न पदच्छेद को प्रामाणिक स्वीकार करते हुए पतञ्जलि का अनुगमन[1] करते हुए प्राचीन आचार्यों के पदपाठ को प्रामाणिक भी माना है। अतएव उन्होंने अपने वेदभाष्य में बहुत्र सायणाचार्य आदि की व्याख्याओं का पदपाठविरोध हेतु देते हुए खण्डन किया है। यथा—

१. ऋग्भाष्य १।३४।४ में **'त्रेधेव'** पद के अर्थ में लिखा है—

**त्रेधा इव—यथा त्रिभिः पठनज्ञापनहस्तादिक्रियाभिः प्रकारैस्तथा। इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वत्वं च [अ० २।१।४**

---

१. पतञ्जलि ने **'ऊदनोर्देशे'** (६।३।९८) के भाष्य में **'अवग्रहे दोषः स्यात्'** हेतु देकर प्राचीन पदपाठ की प्रामाणिकता स्वीकार की है।

वा०]। **अत्र सायणाचार्येण त्रेधैव त्रिभिरेव प्रकारैरित्येव शब्दोऽशुद्धो व्याख्यातः। पदपाठ इवशब्दस्य प्रत्यक्षत्वात्।**

२. ऋग्भाष्य १।३६।२० में '**यातुमावतः**' के पदार्थ में लिखा है—

**यातुमावतः—यान्ति प्राप्नुवन्ति ये यातवः, मत्सदृशा इति मावन्तः। यातवश्च ते मावन्तश्च तान्। अत्र सायणाचार्येण यातुमिति पूर्वपदं मावान् इत्युत्तरपदं चाविदित्वा यातुमावत्पदान् मतुप्[1] कृतस्तदिदं पदपाठाद् विरुद्धत्वादशुद्धम्।**

३. इसी प्रकार यजुर्वेद ५।६ के '**यो मम तनूः**' के भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—

**यो—या। अत्र महीधरेण या [उ] अशुद्धं व्याख्यातम्।**

यहाँ मन्त्रगत 'यो' का पदपाठ में 'यो इति' निर्देश से 'यो' को ओकारान्त प्रगृह्यसंज्ञक दर्शाया है। महीधर ने 'या उ' दो पदों के रूप में 'यो' का विच्छेद स्वीकार किया है। इसी पदपाठ-विरोध की ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती का संकेत है।[2]

**पदपाठ से भिन्न पदच्छेद करना**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेकत्र पदपाठ से भिन्न पदच्छेद किये हैं। यहाँ हम पदपाठ से भिन्न एक पदच्छेद का उदाहरण देते हैं—

ऋ० १।१८।३ में पाठ है—**धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य**। यहाँ 'प्रणक्' पद द्रष्टव्य है। पदकार शाकल्य के मतानुसार 'प्रणक्' एक पद है। यह सायण के मतानुसार **पृची संपर्के** धातु का लङ्लकार में प्रथमपुरुष के एकवचन का रूप है। पाद के मध्य में अपवादरहित क्रियापद सर्वानुदात्त होता है। परन्तु यह आद्युदात्त ('प्र' उदात्त) है। पाद के मध्य में यह क्रियापद कैसे आद्युदात्त है, इस विषय में सायण ने जो कल्पना की है, वह अशुद्ध है।[3] वेङ्कटमाधव ने लघुभाष्यस्थ स्वरानुक्रमणी (१।१।१४) में लिखा है—

---

१. यहाँ पाठ कुछ अशुद्ध है। हमारे विचार में यहाँ 'यातुमा शब्दान् मतुप्' पाठ होना चाहिये। हमने स्वसम्पादित ऋग्भाष्य में संशोधन कर दिया है।

२. यह लेख फरीदाबाद में बैठकर लिख रहा हूं। यहाँ सभी ग्रन्थ मेरे पास नहीं हैं। ऊपर के तीनों उद्धरण पं० चमूपतिकृत वैदिक कोष के अनुसार दिये हैं।

३. द्र०—हमारे द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्य, प्रथम

**अत्र ब्रूमोऽर्थसंस्थानमिह यस्मिन् भवेत् तिङि।**
**तत्तु सर्वानुदात्तं स्याद् असंस्थित उदात्तवत् ॥**[1]

अर्थात् वाक्य (पाद) के मध्य जिस तिङ् पद में अर्थ का संस्थान (पूर्णता) होवे, वह सर्वानुदात्त होवे और जिस तिङ् में अर्थ पूर्ण न होवे, वह उदात्त होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'प्रणक्' में दो पद माने हैं—प्र, नक्। इसलिये अर्थ किया है—**नश्यतु**। अजमेरमुद्रित संस्करण में ( ) कोष्ठ में प्रणक् एक पद के रूप में छापा है। यदि भाष्यकार को एक-पदत्व इष्ट होता तो वह इसका अर्थ **प्रणश्यतु** लिखता। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'नक्' पद को **णश अदर्शने** धातु के लुङ् लकार के प्रथमपुरुष का एकवचन माना है। और यहाँ **मन्त्रे घसह्वरणश** (अष्टा० २।४।८०) से 'च्लि' प्रत्यय के लुक् का विधान किया है। दो पद मानने पर 'प्र' **उपसर्गाश्चाभिवर्जम्** (फिट्सूत्र) से उदात्त है और 'नक्' **तिङ्ङतिङः** (अष्टा० ८।१।२८) से अनुदात्त है। यह 'प्रणक्' शब्द ऋग्वेद ७।५६।९ में भी आया है। वहाँ भी पाद के मध्य में होने पर भी आद्युदात्त है। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वहाँ पर भी 'नक्' पद की सिद्धि के लिये **मन्त्रे घसह्वरणश** सूत्र ही उद्धृत किया है। अतः स्पष्ट है कि वे वहाँ भी दो पद ही मानते हैं।

**पद-व्याख्यान की एक अन्य प्राचीन शैली**—शौनकीय बृहद्देवता ग्रन्थ ऋग्वेद के देवताओं के संकलन के लिये लिखा गया है, उसके विस्तृत प्रारम्भिक भाग में उपोद्घात के रूप में वेद और उसके अर्थ के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण किया गया है। उसमें लिखा है कि कई व्याख्याता कहीं-कहीं दो पदों को मिलाकर एक पद के रूप में व्याख्या करते हैं और एक पद को विभक्त करके दो पदों के रूप में। [सम्प्रति बृहद्देवता मेरे पास यहाँ फरीदाबाद में नहीं है अतः उस प्रकरण का एक श्लोकार्ध ही नीचे उद्धृत करता हूं, जो मुझे स्मरण है—]

---

खण्ड, पृष्ठ ६८१ (प्रकाशक—चौधरी प्रतापसिंह, करनाल निवासी। रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, पिन—१३१०२१ से उपलब्ध)

१. माधव के नाम से ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का भाष्य छपा है। उसमें १।१८।३ का भाष्य द्रष्टव्य है। हमारे मत में यह वेङ्कटमाधव का ही बृहद्भाष्य है, जिसे देवराज यज्वा ने 'प्रथमभाष्य' के नामों से उद्धृत किया है।

**पुरुषादः पदं यास्को द्विधा कृत्वा निरुक्तवान्।**[1]

अर्थात् यास्क ने **पुरुषादः** पद को विभक्त करके (दो पद बनाकर) निर्वचन किया है।

यास्क का व्याख्यान है—**वयः प्रपतान् पुरुषादः—ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषान् अदनाय।** २६॥ [वयः=बाणाः]

स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋक् और यजुःभाष्यों में ऐसे कई स्थल अजमेरमुद्रित संस्करण में उपलब्ध होते हैं, जहाँ दो पदों को इकठ्ठा करके व्याख्यान किया है। क्या ऐसे स्थल मुद्रण दोष के कारण हैं या स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बृहद्देवता से निर्दिष्ट शैली को स्वीकार करके इस प्रकार का अर्थ किया है। विचारशील पुरुषों को इस पर विचार करना चाहिये। 'प्रणक्' को विभक्त करके व्याख्यान नहीं मान सकते क्योंकि वहाँ स्पष्ट 'नक्' को णश् धातु का रूप माना है और इसमें इस प्रयोग के विशिष्ट साधक अष्टाध्यायी के **मन्त्रे घसह्वरणश** (२।४।८०) सूत्र को उद्धृत किया है। अष्टाध्यायी की प्रायः सभी वृत्तियों में इस सूत्र में णश् का उदाहरण **प्रणङ्मर्त्यस्य** ही दिया है।

**अलङ्कार**—अलङ्कार उसे कहते हैं, जो किसी भी वस्तु में विद्यमान स्वाभाविक गुण को बढ़ा देता है—**अलंक्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः**। जैसे लोक में किसी कुशल शिल्पी द्वारा निर्मित अलङ्कार (=गहना) यथाकाल यथास्थान धारण किया हुआ धारण करनेहारे किसी भी स्त्री वा पुरुष के सौन्दर्य को बढ़ा देता है उसी प्रकार कवि अपने क्रान्तद्रष्टृत्व[2] अर्थात् क्रान्तप्रज्ञत्व से प्रकरणानुकूल किन्हीं विशिष्ट पदों को अपने कर्मरूपकाव्य[3] में यथास्थान प्रयोग करके काव्य में चमत्कार उत्पन्न कर देता है, उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है। अतः प्रत्येक कवि अपने काव्य में यथाशक्ति यथास्थान विविध अलङ्कारों का प्रयोग करता है।

वेद भी स्वयम्भू-मनीषी कवि[4] का कर्म है, अतः वह भी काव्य है।

---

१. बृहद्देवता २।१११॥ मैक्डानल-संस्करण।

२. कविः क्रान्तदर्शनो भवति। निरुक्त १२।१३॥

३. कवेः कर्म काव्यम्। **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (अष्टा० ५।१।११४) इति ष्यञ्।

४. कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः (यजु० ४०।८)।

यतः यह कवियों का भी कवि[1] है, स्वयं अकाय[2] होने से जरा मृत्यु से रहित है, अजर अमर है, अतः उसका काव्य वेद भी अजर अमर है—**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**—(अथर्व० १०।८।३२)।

**वेदभाष्यकारों द्वारा अलङ्कारों का निर्देश**—प्रायः सभी वेदभाष्यकारों ने अपने भाष्यों में न्यूनाधिकरूप में अलङ्कारों का प्रयोग किया है। परन्तु वह बहुत सीमित है। निरुक्तकार यास्क ने **अथात उपमाः** (निरुक्त ३।१३) का निर्देश करके कतिपय उपमा अलङ्कारों का निर्देश किया है। उन्होंने उपमा के दो भेद दर्शाये हैं—

**ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापिकनीयसा ज्यायांसम्**। निरुक्त ३।१३॥

अर्थात्—ज्यायान् गुण से कनीयान्=अल्पगुणवाले को उपमा दी जाती है तथा प्रख्यात गुणवाले से अप्रख्यात को उपमा दी जाती है। तथा हीन गुण से ज्यायान् को उपमा दी जाती है।

इनमें प्रथम **श्रेष्ठोपमा** कहाती है और दूसरी **हीनोपमा**। यास्क ने श्रेष्ठोपमा का उदाहरण नहीं दिया। सम्भवतः इसका अतिलोक प्रसिद्ध होना कारण हो। हीनोपमा के लिए दो उदाहरण दिए हैं। एक तस्करों की हस्तचेष्टा से अग्निमन्थन का हाथों का आगे-पीछे गति करना और दूसरा, विधवा के देवर से अश्विनौ देव को उपमित करना।

इस प्रकरण में यास्क ने **इव, न, यथा, आ, भूत, रूप, वत्** उपमा-वाचक शब्दों का निर्देश किया है। 'नु' का निर्देश प्रथमाध्याय के चतुर्थ खण्ड में किया है—**अथाप्युपमार्थे**—**वृक्षस्य नु ते पुरुहूत बयाः। वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः**।

'यथा' के द्वारा जब श्रेष्ठ पदार्थ के कर्म की उपमा हीन को दी जाती है, तब 'यथा' पद जिस श्रेष्ठ कर्म से उपमा दी जाती है, उसके आदि में प्रयुक्त होता है और वह आद्युदात्त होता है। जैसे—

**यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।**
**एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥** (ऋ० ५।७८।८)।

---

१. कवितमं कवीनाम्(ऋ० ५।४२।३)। तुलना करें—'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। योगदर्शन १।२६॥

२. अकायमव्रणम्। यजु० ४०।८॥

जब 'यथा' के द्वारा हीन पदार्थ के कर्म से श्रेष्ठ को उपमा दी जाती है तब 'यथा' पद पाद के अन्त में सर्वानुदात्त प्रयुक्त होता है। जैसे—

**अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।**
**भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ ऋ० १।५०।३॥**
**आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीव गृभो यथा ॥**
ऋ० १०।९७।११॥

यहाँ प्रथम मन्त्र में प्रज्वलित अग्नियों की रश्मियों से सूर्य की रश्मियों को उपमा दी है। दूसरे में व्याध द्वारा जीवित पकड़े गये हिरण आदि की आत्मा के नाश की उपमा यक्ष्म रोग की आत्मा के नाश से दी है। इसके द्वारा चिकित्सक रोगी को विश्वास दिलाता है कि यक्ष्म रोग का नाश सुकर है।

उपमार्थक यथा पद के आद्युदात्तत्व और सर्वानुदात्तत्व का विधान वैयाकरण प्रयोग के स्थानभेद से करते हैं। यथा निपात **निपाता आद्युदात्ताः** (फिट्सूत्र) से आद्युदात्त होता है और **यथेति पादान्ते** (फिट्सूत्र) से पाद के अन्त में प्रयुक्त हो तो सर्वनिघात होता है।

इसके अनन्तर यास्क ने लुप्तोपमाओं का निर्देश किया है (३।१८) और उन्हें अर्थोपमा कहा है (निरु० ३।१०)। जैसे—**सिंह और व्याघ्र पूजा में। श्वा काक निन्दा में।** यह निर्देश मात्र है।

**स्वा० द० स० द्वारा अलंकारों का भूयान् प्रयोग**—यतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद का अर्थ विशेषरूप से व्यावहारिक किया है (द्र०—पृ० ९७-९९) और वह मुख्यतया अलङ्कारों पर ही आश्रित है, अतः उन्होंने अपने वेदभाष्य में अलङ्कारों का बहुतायत से निर्देश किया है। इसी दृष्टि से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तिम भाग में **अथालंकार-विषयः संक्षेपतः** प्रकरण में उपमा अलङ्कार के आठ भेद, रूपकालङ्कार के छः भेद, श्लेषालङ्कार के तीन भेद सोदाहरण प्रस्तुत किये हैं और अन्त में लिखा है—

**एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति। ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते।**

अर्थात् इस प्रकार के अन्य भी बहुत से अलङ्कार हैं। उनको यहाँ नहीं लिखते। जहाँ-जहाँ वेदभाष्य में आयेंगे वहाँ-वहाँ उनका व्याख्यान करेंगे।

वेदरूपी काव्य में लौकिक काव्यों के समान विविध अलङ्कारों का प्रयोग भी स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य की एक प्रमुख विशेषता है।

**स्वा० द० स० के वेदभाष्य पर प्रमुख आक्षेप**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपना भाष्य व्यावहारिक और पारमार्थिक दो दृष्टियों से किया है। इनमें भी व्यावहारिक अर्थ प्रधान है। इसलिये व्यावहारिक अर्थ प्रायः सभी मन्त्रों का किया है। पारमार्थिक अर्थ जहाँ कहीं श्लेषालङ्कार से स्पष्ट प्रतिभासित होता है, वहीं दर्शाया है (द्र०—पूर्व पृष्ठ १४५ पर उद्धृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का उद्धरण)। इन दोनों प्रकार के अर्थों पर अनेक विद्वान् आक्षेप करते हैं।

पहले हम **पारमार्थिक अर्थ** के विषय में लिखते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा दर्शाया गया पारमार्थिक अर्थ प्राचीन आध्यात्मिक अर्थ से कुछ अंशों में भिन्न है। आध्यात्मिक का अर्थ है—**आत्मानमधि अध्यात्मम्। तमधिकृत्य कृतोऽर्थः आध्यात्मिकः**। यहाँ आत्मा शब्द से आत्मा सामान्य (शरीर, आत्मा और परमात्मा तीनों) का ग्रहण होता है। निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्रों की जो अध्यात्म-विषयक मन्त्र-व्याख्या उपलब्ध होती है, उसमें जीवात्मा और शरीरात्मा उभयपरक व्याख्या दृष्टिगत होती है। आत्मा शब्द से शरीर और आत्मा गृहीत होते हैं यथा—**हन्त्यात्मानमात्मा। द्वावात्मानौ अन्तरात्मा शरीरात्मा च**····· (महाभाष्य १।३।६७)। पारमार्थिक अर्थ से यहाँ केवल परात्मविषय अर्थ ही अभिप्रेत है। तदनुसार यहाँ पारमार्थिक शब्द से आध्यात्मिक प्रक्रिया के एक अंश का ही ग्रहण इष्ट है। सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य ब्रह्म के विज्ञान में ही है। इसे वेदान्त=वेद का अन्तिम लक्ष्य कहा जाता है। जैसा कि कहा है—

> **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।**
> **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्॥**
> कठोप० २।१५॥

इस विषय में हम पहले भी संक्षेप से लिख चुके हैं कि वेद का परमार्थ ब्रह्मतत्त्व के विज्ञान में है। यह सभी अध्यात्मवित् स्वीकार करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदविषय-विचार' के अन्तर्गत तथा 'ब्रह्मविद्याविषय' स्वतन्त्र प्रकरण में विस्तार

से इस विषय का उपपादन किया है। अतः हम इस विषय को यहीं समाप्त करते हैं।

अब हम **व्यावहारिक** वेदार्थ के विषय में लिखते हैं—व्यावहारिक अर्थ का क्षेत्र अतिविस्तृत है। इसमें सम्पूर्ण चराचर जगत् का समावेश हो जाता है। मनुष्यों का समाजशास्त्र, मनुष्यों का इतर प्राणियों के साथ संबन्ध, भौतिक पदार्थों के गुणों को जानकर उनसे विविध प्रकार के उपकारग्रहणार्थ चिकित्साशास्त्र शिल्पशास्त्र वास्तुशास्त्र ज्योतिषशास्त्र अर्थशास्त्र यज्ञशास्त्र प्रभृति का समावेश हो जाता है। भारतीय समस्त विद्यास्थानविषयक आकरग्रन्थ स्व-स्व विद्याओं का उद्गम वेद से स्वीकार करते हैं, अतः वेद में सब विद्याओं का मूलतः वर्णन है, यह मानना पड़ता है। स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती ने व्यावहारिक पक्ष के निदर्शनार्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में २०-२५ व्यावहारिक विषयों का निदर्शन कराया है। **चतुर्वेदविषयसूची** में तो प्रतिवर्ग सूक्त व्यावहारिकार्थों का ही निदर्शन कराया है। इस दृष्टि से यह 'चतुर्वेदविषयसूची' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रायः विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्तती के व्यावहारिक अर्थों पर आक्षेप करते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अग्नि इन्द्र वायु यम मित्र वरुण अश्विनौ प्रभृति देवतावाचक शब्दों के मनमाने अर्थ कर दिये हैं। यथा—जहाँ कहीं वेद में देवता-द्वन्द्वनिदर्शक पद आये, वहाँ उन्होंने राजा-प्रजा, राजा-सभासद्, अध्यापक-उपदेशक, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, अध्येत्र-ध्यापक आदि लोकप्रसिद्ध द्वन्द्वों का निर्देश कर दिया।

**समाधान**—वस्तुतः स्वामी दयानन्द सरस्वती पर इस स्वच्छन्दता का दोष वे ही लगाते हैं, जिन्हें ऋषियों की व्यावहारिक प्रक्रिया का परिज्ञान नहीं होता है। उदाहरण के लिये हम मनुस्मृति के राजप्रकरण के दो श्लोक उद्धृत करते हैं—

**तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।**
**न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥७।६॥**

**सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।**
**स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥७।७॥**

प्रथम श्लोक में कहा है कि राजा आदित्य के समान, प्रजा के चक्षुओं

और मनों को तपाता है। यहाँ देवतावाचक आदित्य शब्द से उपमावाचक 'वत्' का निर्देश करके उपमालङ्कार से अर्थात् आदित्य के कर्म सादृश्य से आदित्य का तात्पर्य राजा दर्शाया है। द्वितीय श्लोक में अग्नि वायु अर्क=सूर्य सोम धर्मराट् कुबेर वरुण महेन्द्र के प्रभाववाला होने अर्थात् राजा में इन देवों के गुण होने से राजा अग्नि वायु सूर्य आदि कहा जाता है। यहाँ भी दोनों के गुणों की साम्यता दर्शा कर राजा को अग्नि वायु सूर्य आदि कहा है।

तात्पर्य यह है कि जिस देवता के गुण कर्म जिस किसी में मिलें और जिस अलङ्कार से उसका निर्देश सम्भव हो, उससे उसका निर्देश उस देवतावाचक पद से किया जा सकता है। अतएव स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निदर्शनार्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्त में कतिपय अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरणों का निर्देश किया है। तथा अन्त में लिखा है—**एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति। ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते।**

यद्यपि अन्य वेदभाष्यकारों ने कतिपय अलङ्कारों का निर्देश किया है परन्तु जहाँ मन्त्रगत उपमावाचक **न इव वत् यथा** प्रभृति का निर्देश नहीं है, वहाँ किसी अलङ्कार का निर्देश उन्होंने नहीं के बराबर किया है। अतएव उन्होंने अपने वेदभाष्यों की भूमिका वा उपोद्घात में अलङ्कारों का निर्देश नहीं किया। यतः स्वामी दयानन्द सरस्वती का सम्पूर्ण व्यावहारिक अर्थात् लौकिक अर्थों का आधार अथवा पृष्ठभूमि अलङ्कार ही हैं, अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इनकी ओर विधिवत् पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अलङ्कार विषय का सन्निर्देश किया।

यद्यपि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अन्य अलङ्कारों के विषय में 'जहाँ-जहाँ वे आयेंगे उनका व्याख्यान किया जायेगा' अर्थात् निर्देश किया जायेगा, ऐसा कहा है, तथापि उन्होंने अपने भाष्यों में उपमा अलङ्कारों से भिन्न अलङ्कारों का निर्देश बहुत स्वल्प किया है, सर्वत्र उनका सम्भव भी नहीं था।

हम पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ४८-४९वें उषः देवतावाले सूक्तों के स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य को देखें। उसमें वाचकलुप्तोपमालङ्कार से किस सरलता के साथ स्त्री के विविध गुणवती होने का वर्णन किया है।

यतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्ववेदभाष्य में कतिपय स्थानों पर कतिपय अलङ्कारों का ही निर्देश किया है, अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायी विद्वान् भी यह समझते हैं कि जिन देवतावाचक शब्दों का उन्होंने जो अर्थ किया है, वह उनका मूलार्थ अथवा प्रधान अर्थ है और इसी दृष्टि से दो विद्वानों ने **वैदिककोष** तथा **वेदार्थकोष** में दयानन्दभाष्य से तत्तत् पदों का संग्रह किया है। और उसके आधार पर मन्त्रों के व्याख्याता वा वेदभाष्यकार बिना सोचे-समझे उन अर्थों का उपयोग करते हैं।

**स्वा० द० स० के वेदभाष्य को समझने की कुञ्जी**—हमने ऊपर जो लिखा है कि जहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अलङ्कार का निर्देश किये विना ही देवतावाचक पद का जो व्यावहारिक पक्ष में तात्पर्य दर्शाया है, वह सब किसी-न-किसी अलङ्कार के आधार पर लिखा गया है अर्थात् वे **देवतावाची पद के मुख्य अर्थ को यथावत् स्वीकार करते हुए अलङ्कार के योग से उसका व्यावहारिक अर्थ दर्शाते हैं**। यह स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य को समझने की कुञ्जी हमें लाहौर के स्वर्गीय श्री भगवद्दत्त जी बी० ए० अनुसन्धाता से प्राप्त हुई। वस्तुतः इस कुञ्जी के विना स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य समझ में नहीं आ सकता, यह निश्चित है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में जैसे देवतावाचक पदों से विभिन्न अलङ्कारजुष्ट अर्थ किये गये हैं, वैसे अर्थ अन्य भाष्यों में भी क्वचित् उपलब्ध हो जाते हैं। हम यहाँ **अस्यवामीयसूक्त** (ऋ० १।१६४) के व्याख्याता आत्मानन्द का एक उदाहरण देते हैं। आत्मानन्द ने **अश्विभ्याम्** पद का अर्थ **गुरुशिष्याभ्याम्** किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'अश्विनौ' का अर्थ बहुत्र 'गुरु-शिष्य' तथा 'अध्यापकोपदेशक' किया है।

अब हम अन्त में वेदार्थ के सम्बन्ध में निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य का एक वचन उद्धृत करके इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

यास्काचार्य ने निरुक्त २।८ में **य ईं चकार** मन्त्र के **बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश** चरण की व्याख्या में वर्षकर्म पक्ष में 'निर्ऋति' का अर्थ 'पृथिवी' और परिव्राजक पक्ष में 'निर्ऋति' का अर्थ 'कृच्छ्र' (कष्ट =दुःख) किया है। इसी अर्थवैचित्र्य को लक्षित करके दुर्गाचार्य लिखता है—

**त एते वक्तुरभिप्रायवशादर्थान्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थ-स्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोह-वैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति।**

अर्थात्—वे ये मन्त्रवक्ता (=व्याख्याता) के अभिप्रायवश अन्य अर्थों को भी प्राप्त होते हैं। इन (मन्त्रों) में अर्थ की इयत्ता (अर्थात् इतना ही अर्थ होवे) का नियम नहीं है। महान् (बहुत) अर्थवाले ये मन्त्र हैं और कठिनाई से जानने योग्य हैं। जैसे अश्वारोह (=घुड़सवार) की विशेषता से घोड़ा साधु और साधुतर वहन (=गति) करता है, उसी प्रकार ये मन्त्रवक्ता (=व्याख्याता) के वैशिष्टय से साधु और साधुतर अर्थों को कहते हैं।

दुर्गाचार्य ने यहाँ घुड़सवार और घोड़े का जो दृष्टान्त दिया है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। घोड़ा वही (एक ही) है, परन्तु अश्वारोही के चालन-वैशिष्टय से भिन्न-भिन्न रूप से वहन (=गति) करता है। इसलिये मन्त्र समान होते हुए भी व्याख्याता के ज्ञान के वैशिष्टय के अनुसार भिन्न-भिन्न अभिप्राय को प्रकट करता है। याज्ञिक को याज्ञिक अर्थ ही सूझता है। वैज्ञानिक को विज्ञानपरक और आधिदैविक और अध्यात्म में गति रखने वाले को प्रतिमन्त्र ब्रह्म की ही भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या दिखाई पड़ती है—**जिधर मैं देखता हूं, उधर तू ही तू है।**

इसी प्रकार एक अतिलोकप्रसिद्ध उदाहरण स्त्री का भी दिया जा सकता है। एक ही स्त्री को कामी भोग्या के रूप में देखता है, कोई उसे माता के रूप में, कोई बहन के रूप में तो कोई उसे कन्या के रूप में देखता है। यहाँ पर भी द्रष्टा के दृष्टिभेद से एक ही स्त्री भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती उस ब्रह्मर्षि कोटि के थे, जिन्हें वेद ने स्वयं अपना स्वरूप उद्घाटित किया था। यह तथ्य हम पूर्व (पृष्ठ ११३-११८ तक) लिख चुके हैं। अतः यदि उन्हें याज्ञिक आधिदैविक आध्यात्मिक तथा सभी प्रकार के व्यावहारिक अर्थ उपज्ञात हुए तो यह उनके तप का प्रभाव है। वैसे भी महानुनि कपिल कहते हैं—**लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थ-प्रतीतिः** (सांख्य ५।४०)। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लगभग २५ वर्ष यायावरत्व अवस्था में लोक को बड़ी नजदीकी से देखकर व्यवहार-

कुशलता प्राप्त की थी, अतएव उनके वेदभाष्य में व्यावहारिक अर्थ की यदि प्रधानता दीखती है तो वह स्वाभाविक है।

**स्वा० द० स० के वेदभाष्य का विद्वानों पर प्रभाव**—स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा किये गये वेदभाष्य का प्रभाव अनेक देशी-विदेशी विद्वानों पर पड़ा है। किसी ने उसे स्पष्ट रूप से स्वीकार न करते हुए भी उनके विचारों में जो विशेष परिवर्तन हुआ, उससे आँका है।

इसके लिये हम एक भारतीय विद्वान् योगिराज अरविन्द घोष और विदेशी अतिप्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर के विचार उद्धृत करते हैं।

श्री अरविन्द घोष 'युञ्जन' (=योगी) व्यक्ति थे। अतः उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के पारमार्थिक अर्थ के विषय में ही लिखा। योगिराज अरविन्द घोष ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के विषय में **वैदिक मैगजीन** १९१६ में लिखा था[1]—

It is objected to the sense Dayananda gave to the Veda that it is no true sense but an arbitrary fabrication of imaginative learning and ingenuity, to his method that it is fantastic and unacceptable to the critical reason, to his teaching of a revealed Scripture that the very idea is a rejected superstition impossible for any enlightened mind to admit or to announce sincerely.

I shall only sate the broad principles underlying his thought about the Veda as they present themselves to me.

To start with the negation of his work by his critics, in whose mouth does it lie to accure Dayananda's

---

१. आगे उद्धृत श्री अरविन्द का मूल अंग्रेजी लेख और उसका हिन्दी भावांश पं० भगवद्दत्तजी कृत—वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग २, 'वेदों के भाष्यकार' ग्रन्थ से लिया है। द्र०—पृष्ठ ८८-९२, सन् १९७६ का संस्करण।

dealing with the Veda of a fantastic or arbitrary ingenuity ? Not in the mouth of those who accept Sayana's traditional interpretation. For if ever there was a monument of arbitiarily erudite ingenuity, of great learning divorced as great learning too often is, from sound judgment and sure taste and a faithful critical and comparative observation, from direct seeing and often even from plainest common sense or of a constant fitting of the text into the Procrushean bed of preconceived theory, it is surely this commentary, otherwise so imposing so useful as first crude material, so erudite and laborious, left to us by the Acharya Sayana. Nor does the reproach lie in the mouth of those who take us final the recent labours of European scholarship. For if ever there was a toil of interpretation in which the loosest vein has been given to an ingenious speculation, in which doubtful indications have been snatched at as certain proofs, in which the boldest conclusions have been insisted upon with the scantiest justification, the most enormous difficulties ignored and preconceived prejudic maintained in face of the clear and often admitted suggestions of the text, it is surely this labour, so eminently respectable otherwise for its industry, good will and power of research, performed through a long century by European Vedic scholarship.

What is the main positive issue in this matter ? An interpretation of Veda must stand or fall by its central conception of the Vedic religion and the amount of support given to it by the intrinsic evidence of the Veda itself. Here Dayanada' sview is quite clear its foundation inexpugnable. The Vedic hymns are chanted to the

One deity under many names, names which are used and even designed to express His qualities and powers. Was this conception of Dayanada's arbitrary conceit fetched out of his own too ingenious imagination ? Not at all; it is the explicit statement of the Veda itself; "One existent, sages" not the ignorant, mind you, but seers, the men of knowledge,—"speak of in many ways, as Indra, as Yama, as Matarisvan, as Agni." The Vedic Rishis ought surely to have known something about their own religion, more, let us hope than Roth or Max Mueller, and this is what they knew.

We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production, this loftier idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the later Aryan mind or was borrowed by those ignorent fire-worshipers, sun-worshipers, sky-worshipers from their cultured and philosophic Dravidian enemies. But throughout the Veda we have confirmatory hymns and expressions. Agni or Indra or another is expressly hymned as one with all the other gods. Agni contains all other divine powers within himself, the Maruts are described as all the gods, one deity is addressed by the names of other as well as his own, or, most commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. An, but that cannot mean, ought not to mean, must not mean the worship of One; let us invent a new word, call it henotheism and suppose that the Rishis did not really believe Indra or Agni to be the Supreme Deity but treated any god or every god as such for the nonce, perhaps that he might feel the more flattered and lend a more gracious

ear for so hyperbolic a compliment ! But why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrosity of henotheism ? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conception and if you allow them to have so risen you imperil our theory of evolutionary stages of the human development and you destory our whole idea about the sense of the Vedic hymns and their place in the history of mankind. Truth must hide herself. common sense disappear from the field so that a theory may flourish ! I ask, in this point, and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayananda or the Western scholars ?

But if this fundamental point of Dayanada is granted, if the character given by the Vedic Rishis themselves to their gods is admitted, we are bound. whenever the hymns speak of Agni or another, to see behind that name present always to the thought of Rishis, the one Supreme Deity or else one of His powers with its attendant qualities or workings. Immediately the whole character of the Veda is fixed in the sense Dayananda gave to it; the merely ritual, mythological!, polytheistic interpretation of Sayana collapses, the merely meteorological and naturalistic European interpretation collapses. We have instead a real scripture, one of the world's sacred books and the divine word of a lofty and noble religion.

अर्थात्[1] दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में अनेक शंकाएँ की जाती

१. हमने श्री अरविन्द के लेख का भावमात्र दिया है। वैदिक मैगजीन, १९१६।

हैं।.....मैं दयानन्द के वेद-भाष्य के आधाररूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूँगा, जो मुझे समझ आए हैं।

सायण-भाष्य को ठीक समझनेवाले व्यक्ति स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महाविद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्त्व वाला दिखाई देता हुआ भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् भी स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। उनका परिश्रम, शुभेच्छा, अनुसन्धान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें पूर्वापर सम्बन्ध का अभाव है और सन्दिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मानकर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से होना चाहिए। इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधारशिला अभेद्य है। वेद के सूक्त भिन्न-भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही सम्बोधन करके गाए हैं। विप्र, अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं। वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर या राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे। अतः वेद स्पष्ट कहता है कि जितने भी नाम हैं वे सब एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं।

हम जानते हैं कि आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींच-तान करके उलटते हैं। वे कहते हैं, यह सूक्त नये काल का है। ऐसे ऊँचे विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था। इसके विपरीत हम देखते हैं कि वेद में अनेक सूक्त इसी भाव को बताते हैं। अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियाँ हैं, इत्यादि। देवताओं के ऐसे विशेषण हैं, जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो नहीं सकते। पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं। वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए, निस्सन्देह ऐसे अर्थ से उनका चिरकाल से पनप रहा विचार नष्ट होता है। अतः सत्य को छिपाना चाहिए। मैं पूछता हूं, इस बात में, इस मौलिक बात में स्वामी दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करते हैं या पाश्चात्य विद्वान्।

इस एक के समझने से, दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त के मानने से नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इससे निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ या सायण का बहुदेवतावाद आदि का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध में किया हुआ अर्थ मलियामेट हो जाता है। इसके स्थान में वेद एक वास्तविक धर्म ग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।

**प्रा० मैक्समूलर[1] और स्वा० द० स० का वेदभाष्य**—यद्यपि प्रा० मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से ऐसा कुछ नहीं लिखा, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि प्रा० मैक्समूलर की स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के सम्बन्ध में क्या धारणा थी अथवा उनके वेदभाष्य का प्रा० मैक्समूलर पर क्या प्रभाव पड़ा। इसके लिये यदि हम मैक्समूलर के प्रारम्भिक विचारों की उत्तरकालीन विचारों से तुलना करें, तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके विचारों में जो परिवर्तन दिखाई देता है, उसके पीछे दयानन्द के वेदभाष्य का प्रभाव अवश्य है। एक स्थान पर तो वह स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की अपूर्वता को हल्के स्वर से स्वीकार भी करता है। उसने नागर प्रशासक के रूप में भारत आनेवाले व्यक्तियों के सम्मुख ७ व्याख्यान दिये थे। उनका विषय था—INDIA WHAT CAN IT TEACH US अर्थात् 'हम भारत से क्या सीखें' इसके तीसरे भाषण में कहा था—

"We may divide the whole of Sanskrit literature, begining with the Rig-Veda and ending with Dayanada's Introduction to his edition of the Rig-Veda, his by no

---

१. प्रा० मैक्समूलर ने ऋग्वेद सायणभाष्य के आरम्भ में स्वनाम का 'मोक्षमूलर' रूप में संस्कृतीकरण किया था। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती उनका उल्लेख सर्वत्र 'मोक्षमूलर' शब्द से ही स्वग्रन्थों में करते थे।

means uninteresting Rig-Veda-Bhumika, into two great periods."[1]

अर्थात् [2]ऋग्वेदकाल से प्रारम्भ करके दयानन्द द्वारा स्वसम्पादित ऋग्वेद की भूमिका लिखे जाने के समय तक के साहित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। यहाँ यह बात भी बता देना समुचित ही होगा कि दयानन्द द्वारा लिखी गई ऋग्वेद की भूमिका भी कम रुचिपूर्ण नहीं है। (भाषण ३, पृष्ठ १०२)।

प्रा० मैक्समूलर के प्रारम्भिक विचारों और उत्तरकालीन विचारों का निर्देश हम आगे करेंगे। पहले हम मैक्समूलर और स्वामी दयानन्द सरस्वती के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में लिखते हैं।

**स्वा० द० स० के वेदभाष्य के नियमित ग्राहक**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के प्रतिमास छपनेवाले अङ्कों के टाइटल पृष्ठों पर वेदभाष्य के नियमित ग्राहकों के नाम पते छपते थे। उनमें हमने एक स्थान पर प्रा० मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स के नाम छपे देखे थे। मुंशी समर्थदान ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की आज्ञानुसार ३० जून १८७९ ई० में श्यामजीकृष्ण वर्मा को जो पत्र इङ्गलैण्ड लिखा था, उसमें भी मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स दोनों के वेदभाष्य का नियमित ग्राहक होना सिद्ध होता है। (यह पत्र हम आगे उद्धृत करेंगे।)

स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने वेदभाष्य में तथा अन्यत्र जब भी अवसर प्राप्त होता, प्रा० मैक्समूलर का प्रतिवाद करने में नहीं चूकते थे। इसी प्रकार एक अवसर पर मैक्समूलर ने कहा था—दयानन्द मेरे वेदभाष्य का कितना ही खण्डन क्यों न करें, मेरे द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद-सायणभाष्य सदा उनकी मेज पर खुला रहता है, (द्र०—पूर्व पृष्ठ ८६, तथा टि० २)। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के कार्य से न केवल भले प्रकार परिचित थे, अपितु एक-दूसरे के कार्यों की वास्तविकता को भी समझते थे। फिर भी स्वामी दयानन्द सरस्वती यह स्पष्टरूप से जानना

---

१. India What Can It Teach Us. Lecture III.

२. यह अनुवाद श्री कमलाकर तिवारी एवं रमेश तिवारी द्वारा किया हुआ है। प्रकाशक—इतिहास प्रकाशन संस्थान, ४९२ मालवीयनगर इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन् १९६४। आगे भी 'हम भारत से क्या सीखें' के जो उद्धरण देंगे, वे इसी अनुवाद के समझें।

चाहते थे कि प्रा० मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स के अपने वेद-भाष्य के सम्बन्ध में क्या विचार हैं। मुंशी समर्थदान प्रबन्धक वेदभाष्य कार्यालय ने ३० जून १८७९ को स्वामी दयानन्द सरस्वती की आज्ञा[1] से श्यामजी कृष्णवर्मा को आक्सफोर्ड (इङ्गलैण्ड) के पते से एक पत्र लिखा था। उसमें लिखा है—प्रा० मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स दोनों से भिजवा देना और लिखना कि उन लोगों का स्वामीजी और वेदभाष्य के विषय में क्या कहना है। स्वामीजी उनके भाष्य का खण्डन करते हैं, उसके बाबत क्या कहते हैं।[2]

पुनः आषाढ़ सुदि ६, मंगलवार (२३ जुलाई १८८०) को श्यामजी कृष्णवर्मा को लिखे पत्र में स्वामी दयानन्द पूछते हैं—

**श्रीयुत प्रियवराध्यापक मुनियर विलियंस मोक्षमूलराख्यानामधुना वेदादिशास्त्राणां मध्ये कीदृङ् निश्चयः प्रेम तदर्थप्रचाराय चिकीर्षाऽस्ति।**[3]

**मैक्समूलर द्वारा स्वा० द० स० के महत्त्व को स्वीकारना**—हम पहले लिख चुके हैं कि अपने समय के इन दोनों प्रतिवादिभयङ्करों का कभी परस्पर साक्षात् नहीं हुआ परन्तु दोनों एक दूसरे के कार्य से भले प्रकार परिचित थे।

**मैक्समूलर द्वारा स्वा० द० स० को इङ्गलैण्ड आने का निमन्त्रण**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के पं० लेखराम-लिखित जीवनचरित से स्पष्ट होता है कि मैक्समूलर ने सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द सरस्वती को इङ्गलैण्ड आने का निमन्त्रण भेजा था। उक्त जीवनचरित के पृष्ठ २८७ (हिन्दी अनु० प्र० संस्क०) पर मैक्समूलर के पत्र का निम्न सारांश दिया है—

**'यदि आप यहाँ आवें तो बहुत बड़ी कृपा होगी। और वहाँ के धन्य भाग हैं, जहाँ आपने जन्म लिया है।'**

इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो पत्र लिखा था, उसका सारांश उसी जीवनचरित के पृष्ठ २८८ में इस प्रकार छपा है—

---

१. 'मैं यह पत्र स्वामीजी की आज्ञानुसार लिखता हूं।' ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २७६, पं० १०।

२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ २७७, पं० ८-११।

३. वही, भाग १, पृष्ठ ३४७, पं० २३-२४।

**मेरी इच्छा आने की अवश्य थी, परन्तु यहाँ के लोग अभी मुझे नास्तिक कहते हैं। जब तक मैं इस देश को अच्छी तरह से न बताऊँ कि मैं कैसा नास्तिक हूं, तब तक नहीं आ सकता।**

पं० लेखराम ने तो यह भी लिखा है---'वहाँ (=बम्बई) के भाटियों ने जहाज पर ले जाने का वचन भी दे दिया था' (वही, पृष्ठ २८८)। पुनः पृष्ठ २९३ पर लिखा है—[लखनऊ में] 'एक बंगाली बाबू को अंग्रेजी पढ़ाने को नौकर रखा था। और पढ़ना आरम्भ किया था।' इण्डियन मिरर (कलकत्ता), बिहार बन्धु (पटना), हिन्दूबान्धव (लाहौर) के समाचारपत्रों में इस आशय की सूचनाएँ छपी थीं।

'ईश्वर जो कुछ करता है अच्छा ही करता है' इस सुभाषित के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती का इङ्गलैण्ड जाना नहीं हुआ, यह अच्छा ही हुआ। अन्यथा पाश्चात्य भक्तों को यह कहने का अवसर मिल जाता कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो कार्य किया है, उसकी प्रेरणा उन्हें पाश्चात्य विचारधारा से मिली है।

**स्वा० द० स० का जीवनचरित लिखने की आङ्काक्षा**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के निधन के कुछ समय पश्चात् प्रा० मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित लिखने का संकल्प किया था, और उसके लिये परोपकारिणी सभा के तात्कालिक मन्त्री मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या को पत्र लिखा था। यह वृत्तान्त अजमेर के 'देश-हितैषी' पत्र के खण्ड ४ अङ्क ४ सं० १९४२ (?) के पृष्ठ ८५ से ज्ञात होता है। पाण्ड्याजी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की जीवनचरित-सम्बन्धी सामग्री स्वयं एकत्र न करके सब आर्यसमाजियों को प्रेरणा दी थी कि जिन्हें स्वामीजी की कोई विशेष घटना ज्ञात होवे, वह प्रा० मैक्समूलर साहब को लिखें। इसी प्रकार का वर्णन 'फर्रुखाबाद का इतिहास' के पृष्ठ २५५ पर भी मिलता है।

हन्त ! परोपकारिणी सभा के मन्त्री केवल आर्यसमाजियों को प्रेरित मात्र करके अपने उत्तरदायित्व से मुक्त न होकर प्रा० मैक्समूलर को स्वामीजी की जीवनघटनाओं को संगृहीत करके भेजते तो प्रा० मैक्समूलर द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित लिखा जाना एक गौरव की बात होती। अस्तु

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रा० मैक्समूलर और स्वामी दयानन्द

सरस्वती के मन्तव्यों में वैपरीत्य होते हुए भी दोनों में व्यक्तिगत सौहार्द उसी प्रकार का लक्षित होता है, जैसे मोनियर विलियम्स और स्वामी दयानन्द सरस्वती में परस्पर था।

अब हम प्रा० मैक्समूलर के वेदविषयक प्रारम्भिक और उत्तरवर्ती विचारों का संक्षेप से वर्णन करते हैं। इससे स्पष्ट हो जायेगा कि प्रा० मैक्समूलर के विचारों में उत्तरकाल में कितना अधिक परिवर्तन हुआ था।

**प्रारम्भिक विचार**—मैक्समूलर के आरम्भिक काल में वेदों के सम्बन्ध में क्या विचार थे, इसके निदर्शनार्थ उसके कुछ उद्धरण नीचे देते हैं—

मैक्समूलर के कुछ पत्र अपनी पत्नी पुत्र आदि के नाम लिखे हुए उपलब्ध हुए हैं।[1] पत्रलेखक पत्रों में अपने हृदय के भाव बिना किसी लाग लपेट के लिखता है। अतः किसी भी व्यक्ति के लिखे हुए ग्रन्थों की अपेक्षा उसके पत्रों में लिखे विचार अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं।

१. सन् १८६६ के एक पत्र में मैक्समूलर अपनी पत्नी को लिखता है—

'वेद का अनुवाद और मेरा यह संस्करण[2] उत्तरकाल में भारत के भाग्य पर दूर तक प्रभाव डालेगा। यह उसके धर्म का मूल है। और मैं निश्चय से अनुभव करता हूं कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन सहस्र वर्ष में उससे उपजने वाली सब बातों के उखाड़ने का एक मात्र उपाय है।[3]

२. एक पत्र में वह अपने पुत्र को लिखता है—

'संसार की सब धर्मपुस्तकों में से नई प्रतिज्ञा[4] उत्कृष्ट है। इसके

---

१. Life and letters of Frederich Max Muller, Two Vols.

२. सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का संस्करण।

३. .....This adition of mine and the translation of the Veda Will here after tell to a great extent on the fate of India, .....It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years.

४. अर्थात् ईसा की बाईबल।

पश्चात् कुरान जो आचार की शिक्षा में नई प्रतिज्ञा का रूपान्तर है, रखा जा सकता है। इसके पश्चात् पुरातन प्रतिज्ञा[1] दाक्षिणात्य बौद्ध-पिटक, वेद, और अवेस्ता आदि हैं।'[2]

३. १६ दिसम्बर सन् १८६८ में भारत सचिव डयूक आफ आर्गाइल को एक पत्र में मैक्समूलर लिखता है—

'भारत का प्राचीन धर्म नष्टप्राय है और यदि ईसाई धर्म उसका स्थान नहीं लेता तो यह किसका दोष होगा ?'[3]

४. मैक्समूलर लिखता है—'वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या परम बालिश, जटिल अधर्म और साधारण है।'[4]

५. मैक्समूलर के नाम उसके घनिष्ठ मित्र ई० बी० पुसे का पत्र—

'आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के यत्न में नवगुण लाने वाला है।'[5]

वाह क्या कहना ? जैसा मंक्समूलर वैसा ही उसका मित्र ? ऐसों के लिये ही तो कहावत है—**उष्ट्राणां विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः।**

वस्तुतः इस काल के जो भी ईसाई यहूदी वेद और संस्कृत भाषा पर

---

१. अर्थात् यहूदी बाइबल।

२. Would you say that anyone sacred book is superior to all others in the world ?.....I say the New Testament. After that, I should place the Koran, which in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow,.....the old Testament, the Southern Buddhist Tripitika..... The Veda and the Avesta.

३. The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault it be ?

४ "Large number of Vedic hymns are childish in the extreme : tedious, low, common place." Chips from a German Workshop, second edition, 1866, p. 27.

५. 'Your work will form a new era in the efforts for the conversion of India....."

काम कर रहे थे, उन सबके मस्तिष्क में ईसाई यहूदी मत का पक्षपात कार्य कर रहा था। **मोनियर विलियम्स** ने संस्कृत अंग्रेजी कोश की रचना की, इसके पीछे भी ईसाईयत की भावना काम कर रही थी। उसने उक्त कोष भारतीयों को ईसाई बनाने में अपने देशवासियों को सहायता पहुंचाने के लिये लिखा था। वह कोश की भूमिका में लिखता है—

"That the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian Religion." (भूमिका, पृष्ठ ९)

हमारा प्रयोजन मैक्समूलर के प्रारम्भिक विचारों को प्रस्तुत करना था, वह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो गया। अब हम उसके उत्तरकालीन विचारों को प्रस्तुत करते हैं—

**उत्तरकालीन विचार**—मैक्समूलर के उत्तरकालीन विचारों का संकलन हम उसके उन व्याख्यानों से उद्धृत करते हैं, जिन्हें उसने भारत में प्रशासकीय सेवा में आनेवाले उम्मीदवारों के सम्मुख सन् १८८२ में 'INDIA WHAT CAN IT TEACH US' (हम भारत से क्या सीखें ?) शीर्षक व्याख्यानमाला में प्रस्तुत किया था।

सबसे पहले तो हमारा ध्यान उक्त व्याख्यानमाला का शीर्षक ही आकृष्ट करता है। यह शीर्षक ही मैक्समूलर के विचारों में आये परिवर्तन की घोषणा करता है। अन्यथा भारतीयों को असभ्य जाहिल माननेवाले व्यक्ति को तो भारत में प्रशासन चलाने आनेवाले व्यक्तियों को बताना चाहिये था कि तुम्हें वहाँ जाकर असभ्य भारतीयों को कैसे सभ्य बनाना है, न कि उन्हें यह बताया जाये कि 'हम भारत से क्या सीखें ?' अब हम इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद[1] से कतिपय विचार उद्धृत करते हैं—

**वैदिक धर्म ने कोई भी बाह्य प्रभाव ग्रहण नहीं किया**—"वैदिक

---

१. अनुवादक—श्री कमलाकर तिवारी एवं रमेश तिवारी। प्रकाशक—इतिहास प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद। प्रथम संस्करण, जुलाई १९६४।

साहित्य को ऐतिहासिक महत्त्व देने में जब कोई आपत्ति नहीं मिल सकी तो भी अकारण आलोचकों ने एक महती और अन्तिम आपत्ति उठायी। ऐसे लोगों ने बल देकर कहना आरम्भ किया कि वैदिक काव्य यदि सम्पूर्णरूपेण विदेशी नहीं, तो उस पर विदेशी प्रभाव और विशेषकर सेमेटिक प्रभाव तो अवश्य ही है। संस्कृत विद्वानों ने वेद के अनेक आकर्षक तत्त्वों का वर्णन किया है। उन्हीं के अनुसार **वेद का सर्वाधिक आकर्षक तत्त्व यह है कि यह केवल धार्मिक विचारों की अति प्राचीन स्थिति से ही हमें परिचित नहीं कराता, वरन् वैदिक धर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है, जिसने अपने सम्पूर्ण विकासकाल में कोई भी बाह्य प्रभाव नहीं ग्रहण किया** तथा संसार के सभी धर्मों की तुलना में वह सर्वाधिक शताब्दियों तक निर्बाध रूप से चलता रहा है।" (पृष्ठ १३५)।

**वैदिक भाषा, साहित्य धर्म वा यज्ञ पर कोई भी बाह्य प्रभाव नहीं है**— "प्राचीन भारतीय साहित्य पर विदेशी प्रभाव सिद्ध करने के लिये जितने तर्क दिये जा चुके हैं, उन सबको कसौटी पर कस लेने के पश्चात् **अब हम इस स्थिति में आ गये हैं कि हम कह सकते हैं कि किसी भी प्रकार का बाह्य प्रभाव वैदिक भाषा, साहित्य, धर्म या यज्ञ पर नहीं है। वह जिस किसी भी रूप में हमारे सामने है, उसका उसी रूप और उसी देश में विकास हुआ है,** जो उत्तर में अगम्य पर्वत श्रेणियों से, पश्चिम में सिन्ध तथा रेगिस्तान से, दक्षिण में अगाध सागर से एवं पूर्व में गंगा से पूर्णरूपेण रक्षित था। **हमारे सामने एक ऐसा काव्य (वैदिक धर्म) है, जो वहीं जन्मा और वहीं विकसित हुआ।**" (पृष्ठ १४५)।

**बहुदेवतावाद वा एकदेवतावाद**—"यदि आप हमसे यह पूछ बैठें कि वैदिक धर्म एकदेववादी है या बहुदेववादी, तो इसका उत्तर दे सकना मेरे लिए कम कठिन नहीं होगा। एकदेववाद का जो अर्थ लगाया जाता है, उस अर्थ में तो वैदिक धर्म एकदेववादी नहीं है। **यद्यपि अनेक ऋचाएँ ऐसी हैं, जिनमें एकदेववाद की बात जितना बल देकर कही गयी है, उतना बल देकर तो ओल्ड टेस्टामेण्ट में भी नहीं कही गयी है। न्यू टेस्टामेण्ट एवं कुरान की भी यही स्थिति है।** एक वैदिक ऋषि का कथन है कि **"वह एक है, सन्त जन उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं, जैसे अग्नि, यम, मातरिश्वन्"**[1]। (पृष्ठ १४८)।

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ० १।१६४।४६॥

"यदि एकदेववाद या बहुदेववाद में निर्णय करना हो तो **प्रथम दृष्टि में तो यही प्रतीत होगा कि वैदिक धर्म बहुदेववादी है, परन्तु बहुदेववाद से हम जो अर्थ लगाते हैं, उस अर्थ में यह शब्द वैदिक धर्म का विशेषण नहीं बन सकता। वास्तव में बहुदेववाद की विचारधारा को हमने ग्रहण किया है** रोम और यूनान से। हम समझते हैं कि बहुदेव में देवताओं का एक संगठित रूप होता है, जिनमें प्रत्येक की शक्तिमात्रा दूसरे से भिन्न होती है और वे सब-के-सब उस परमेश्वर के सहायकहैं, जिसे वे जीअस या जुपिटर कहते हैं। **वेदों का बहुदेववाद इससे भिन्न** है। वह न केवल यूनानियों या रोम वालों से भिन्न है, वरन् वह पालिनेशियन, अमेरिकन तथा अफ्रीकन भावनाओं से भी भिन्न है और यह भिन्नता उसी प्रकार की है जैसे स्वशासनाधिकारप्राप्त ग्रामों का संघ राजतंत्रीय शासन से भिन्न होता है।" (पृष्ठ १४६)।

**केवल एक ही देव**—"·····उन ऋषियों ने स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि यद्यपि ये नाम केवल नाममात्र हैं और जिसके ये नाम हैं, वह एक है और केवल एक है।" (पृष्ठ १५१)।

"उसी विद्वान् लेखक (यास्क) का कथन है कि देव तो वास्तव में एक ही है·····ये ढेर सारे देवता उसी आत्मन् के विभिन्न सदस्य हैं।" (पृष्ठ २२३)।

**वेद का चरम लक्ष्य**—"मैं तो यहाँ तक कह सकता हूं कि भारत का दर्शनशास्त्र ही वहाँ का सर्वोच्च धर्म है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि भारत में प्राचीनतम दर्शनशास्त्र का प्राचीनतम नाम है—वेदान्त अर्थात् वेद का अन्त, **वेद का लक्ष्य या वेद का सर्वोच्च उद्देश्य**।" (पृष्ठ २२३)।

"लोगों ने वेद की महत्ता को कम करने के कम प्रयत्न नहीं किए हैं, पर उसका महत्त्व आज भी वैसा ही है।" (पृष्ठ २२७)।

"वेदान्तदर्शन के अनेक प्रमुख अङ्ग गँवई गाँव के निरक्षर व्यक्ति भी पूरी तरह समझते हैं।" (पृष्ठ २२७)।

मैक्समूलर ने अपने व्याख्यानों की समाप्ति 'शापन हावर' के उपनिषद्विषयक उद्गारों को उद्धृत कर इस प्रकार किया।

यदि आप ये समझते हों कि मेरे द्वारा प्रस्तुत विवरण अतिरञ्जित हैं, तो मैं आपके समक्ष एक महान् दार्शनिक-आलोचक के कुछ शब्द रखूँगा।

उस विद्वान् की यही विशेषता थी कि दूसरों के विचारों की व्यर्थ प्रशंसा करना उसके स्वभाव के विपरीत था। इस प्रसिद्ध विद्वान् शापन हावर ने उपनिषदों पर अपना विचार प्रगट करते हुए लिखा है कि—

"समूचे संसार में कोई भी अध्ययन इतना लाभजनक और ऊँचा उठाने वाला नहीं है, जैसा कि उपनिषदों का अध्ययन। यह मेरे जीवन का संतोष रहा है और यही मेरी मृत्यु का भी सन्तोष रहेगा।" (पृष्ठ २३०)।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन व्याख्यानों के समय (सन् १८८२) तक भारत, भारतीय धर्म और वेद के विषय में मैक्समूलर के विचारों में बहुत अन्तर हो गया था। परन्तु यह अन्तर किन कारणों से हुआ, क्या स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य इसमें कारण था वा नहीं, इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्यसम्बन्धी कार्य से मैक्समूलर भली प्रकार परिचित था और स्वामी दयानन्द सरस्वती भी अपने वेदभाष्यसम्बन्धी कार्य के विषय में मैक्समूलर और मोनियर विलियम्स की प्रतिक्रिया जानने को सदा उद्यत रहते थे, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। और इनके मध्य श्यामजीकृष्णवर्मा, जो संस्कृत अध्यापन के लिये लन्दन गए हुए थे, सम्पर्कमाध्यम के रूप में भूमिका निभा रहे थे। इन सब घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि मैक्समूलर के विचारों में परिवर्तन का प्रमुख कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य अवश्य रहा होगा। इसकी पुष्टि मैक्समूलर के निम्न कथन से भी होती है—

**'ऋग्वेदकाल से आरम्भ करके दयानन्द द्वारा सम्पादित ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका लिखे जाने के समय तक के साहित्य को दो भागों में बाँट सकते हैं। यहाँ यह भी बता देना समुचित ही होगा कि दयानन्द द्वारा लिखी गई ऋग्वेद की भूमिका भी कम रुचिपूर्ण नहीं है।'** हम भारत से क्या सीखें, पृष्ठ १०२।

सबसे अधिक खेद का विषय यह है कि भारत के विश्वविद्यालयों में मैक्समूलर के वे ही विचार पढ़ाये जाते हैं, जो उसने प्रारम्भिक काल में ईसाई मत के जोश में लिखे थे। मेरा सुझाव है कि प्रत्येक विश्व-विद्यालय में, जिसमें भी संस्कृत भाषा से सम्बद्ध विषय पढ़ाये जाते हों, वहाँ कम से कम मैक्समूलर के INDIA WHAT CAN IT

TEACH US ? (हम भारत से क्या सीखें ?) शीर्षक व्याख्यानसंकलन पाठ्यपुस्तकों में अवश्य रखा जाय, तभी मैक्समूलर-भक्त अपनी अन्ध-भक्ति को त्यागकर कुछ प्रकाश पा सकेंगे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदोद्धार वा वेदार्थ उद्धार कार्य के विषय में मैंने संक्षेप से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

**खेद का स्थान**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य आदि ग्रन्थों का प्रकाशन उनके द्वारा स्थापित 'परोपकारिणी सभा' कितनी उपेक्षा से प्रकाशित करती है, इसका निदर्शन पूर्व पृष्ठ ७५-१०१ तक हम करा चुके हैं। आवश्यकता इस बात की थी कि उक्त सभा अपने १०० वर्षों के सुदीर्घ काल में कम से कम एक बार तो स्वामी दयानन्द सरस्वती के समस्त ग्रन्थों का एक सुसम्पादित ऐसा संस्करण प्रकाशित करती, जो शोधकर्ताओं को सुगमता के लिये विविध प्रकार की सूचियाँ वा परिशिष्टों से युक्त होवे। परन्तु इस कार्य के न होने में आर्यसमाज के कुछ तथाकथित विद्वानों का भी हाथ है, जो परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित भ्रष्ट संस्करणों का ही पक्ष लेकर सभा की निष्क्रियता बढ़ाने में सहायता करते हैं। वस्तुतः स्वामी दयानन्द सरस्वती वा उनके वेदोद्धार कार्य को समझनेवाले तीन ही विद्वान् आर्यसमाज में हुए हैं—श्री पं० गुरुदत्तजी एम० ए० विद्यार्थी, श्री पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर और श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु।

इन तीन महानुभावों के कार्यों को आगे बढ़ाने की इस समय परम आवश्यकता है, जिससे स्वामी दयानन्द सरस्वती का सभी दृष्टियों से सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन हो सके। और यह कर्म वही कर सकता है, जिसने दयानन्द द्वारा प्रवर्तित पठन-पाठन विधि से अधिकतम शास्त्रों का अध्ययन किया हो तथा अर्थ और काम में आसक्त न हो। श्री पं० गुरुदत्त जी श्री पं० भगवद्दत्तजी सदृश विद्वान्, जिनका अध्ययन प्रचलित अंग्रेजी पद्धति से हुआ, फिर भी वे दयानन्द को गुरुकुलों में पठित विद्वानों की अपेक्षा अधिक समझ पाये, यह एक महत्तम आश्चर्यजनक अपवाद है।

हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने वेदपाठ की शुद्धता के लिए पद, क्रम आदि विविध पाठों की प्रकल्पना की थी। उसी का यह प्रभाव है कि मन्त्रपाठ में आजतक ऋग्वेद सदृश ग्रन्थ में भी कोई भी पाठान्तर उत्पन्न नहीं हुआ। ऋग्वेद में एक-दो जगह पाठ में अन्तर की प्रतीति होती है, परन्तु वह पाठान्तर न होकर देशभेद से उच्चारणभेद मात्र हैं। पं०

सातवलेकरजी ने अपने ऋग्वेद के संस्करण में एक पाठभेद दिखलाया है।

"ब्रध्नं मांश्चतोर्वरु'णस्य ब्रभ्रु"

इति वा

'ब्रध्नं मांश्चतोर्वरु'णस्य ब्रभ्रु" (ऋ० ७।४४।३)

उक्त पाठभेद आभास मात्र ही है। इस बात को पं० सातवलेकर जी ने अपने ऋग्वेदसंहिता के सन् १९४० के संस्करण में सत्यापित किया है। पद-क्रमादि पाठों का वेदार्थ की दृष्टि से महत्त्व हमने राष्ट्रिय वेद-विद्या प्रतिष्ठान (दिल्ली) से छपे यजुः क्रमपाठ के संपादकीय में दर्शाया है। वह लेख इस पुस्तक के चतुर्थ परिशिष्ट में देखें।

# पुरुषार्थचतुष्टय

## स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा

## स्वकृत वेदोद्धार की रक्षा और प्रचार के लिये किये गये चार कार्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती का अपने जीवन का प्रधान कार्य था **'विगत कई सहस्राब्दियों से क्रमशः वेदविद्या के लोप के कारण वैदिक धर्म एवं वेद के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई भ्रान्तियों का निराकरण।'** ग्रन्थ-लेखन, प्रतिपक्षियों से शास्त्रार्थ और प्रवचन आदि अन्य कार्य उसी के अवयव थे। इसी प्रकार देशोद्धार, स्वदेशप्रेम, स्वदेशी का प्रचार, नारी जाति एवं अछूत समझे जानेवालों का उद्धार आदि भी अङ्गोपाङ्ग रूप से वेदोद्धार से ही सम्बद्ध थे। वेदोद्धार के लिए जो वेदभाष्य की रचना की, वह ग्रन्थलेखन कार्य का प्रधान भाग था। यह सब हम पूर्व कह चुके हैं।

इस प्रसङ्ग में यहाँ उन चार प्रधान कार्यों का उल्लेख किया जायेगा, जिनका प्रयोजन यह था कि भविष्य में वेद के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान में पुनः भ्रान्तियाँ उत्पन्न होकर उनका स्वकृत वेदोद्धार कार्य चौपट न हो जावे। इसके लिये उन्होंने जो चार कार्य किये, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है[1]—

१. **आर्ष पाठविधि**—इसमें शिक्षा की उस सर्वाङ्गपूर्ण विधि का उल्लेख किया है, जो प्राचीनकाल में प्रचलित थी और जिसमें **वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्** (मनु ३।२) के विधान के अनुसार न्यूनातिन्यून एक वेद का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन आवश्यक समझा जाता था। इसी प्रकार चारों वेदों के अध्ययन का अन्तिम लक्ष्य के रूप में

---

१. इस प्रकरण में आगे इनकी विवेचना की जायेगी।

विधान किया था। यह वेदाध्ययन केवल शब्दग्रहण तक सीमित नहीं था; अपितु उसके गम्भीरतम अर्थों का अध्ययन-अध्यापन इसमें प्रमुख था।

इसके साथ ही प्राचीनकाल में शिक्षा एकाङ्गी नहीं थी। उसमें अनेक विषयों का समावेश इष्ट था। ज्ञान की पद्धति का प्रकार इस तरह का था कि मनुष्य अधिक-से-अधिक विद्याओं का ज्ञाता होने के साथ कम-से-कम एक विद्या में पारङ्गत होवे। निरुक्तकार ने लिखा है—**यथा जानपदेषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति,पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।** (१।१६)।

इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति** (आह्निक १)। तथा शिष्ट की परिभाषा का उल्लेख करते हुए पतञ्जलि ने ६।३।१०९ में कहा है—**एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्याया पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः।।**

इसीलिए ऋषियों ने एक शास्त्र के अध्ययन की निन्दा करते हुए लिखा है—

**एकैकं शास्त्रमधीयानो न विद्यात् शास्त्रनिर्णयम्।।** इत्यादि।।

—सुश्रुत,सूत्र-स्थान ४।६

इतने विशाल ज्ञान के क्षेत्र का पठन-पाठन तभी सम्भव है, जब अनार्ष ग्रन्थों के त्यागपूर्वक आर्षग्रन्थों के अध्ययन का सहारा लिया जावे। सम्भवतः इसी दृष्टि से आयुर्वेद की चरकसंहिता में लिखा है—**आदौ शास्त्रमेव परीक्षेत**(विमानस्थान८३)। ऐसा निर्देश करके पठनयोग्य ग्रन्थों के विविध गुणों का उल्लेख करते हुए एक विशेषता **आर्षम्** का भी उल्लेख किया है। (द्र०—विमानस्थान ८३)।

२. **परोपकारिणी सभा की स्थापना**—जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ग्रन्थलेखन कार्य, विशेषतः वेदभाष्य का लेखन, मुद्रण और प्रकाशन कार्य आरम्भ किया, तो उन्हें इस बात का अनुभव हुआ कि जब तक अपना मुद्रणालय न होवे तब तक समय पर और यथोचित रूप में ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य नहीं हो सकता। अतः उन्होंने पहले **वैदिक यन्त्रालय** की स्थापना की, अनन्तर जब यन्त्रालय और ग्रन्थप्रकाशन का कार्य बहुत बढ़ गया, तब उसके प्रबन्ध की समुचित व्यवस्था और उत्तरकाल में स्वकीय ग्रन्थों के तथा अन्य आर्षग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था के लिए परोपकारिणी सभा की स्थापना की।

३. **आर्यसमाज की स्थापना**—जब स्वामी दयानन्द सरस्वती संवत् १९२९ में भारतवर्ष के ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी कलकत्ता में प्रचारार्थ पहुंचे, उस समय कलकत्ता अनेकविध गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ था। बङ्गाल के प्रबुद्ध भारतीय जन देश के हितचिन्तन में विविध प्रकार से कार्यरत थे। उनका स्वामी दयानन्द सरस्वती पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन्होंने कलकत्ता जैसे जनसंकुल नगर में साढ़े चार मास निवास किया। वहाँ से उन्होंने अपनी भावी योजना के सम्बन्ध में बहुत कुछ मार्गदर्शन प्राप्त किया। इसी प्रसङ्ग में बङ्गाल में प्रचलित ब्राह्म-समाज तथा प्रार्थनासमाज के कार्यकलापों पर भी सूक्ष्म दृष्टिपात किया। यद्यपि वे दोनों समाजों के कार्यकलापों से सन्तुष्ट नहीं थे; पुनरपि उन्हें एक बात अच्छी लगी कि समान विचारवाले लोग सप्ताह में एक बार नियत दिन और नियत समय पर उपस्थित होकर अपने कार्यकलापों पर दृष्टिपात करें और भावी योजना पर विचार करें। यहीं से आर्यसमाज की स्थापना का सूत्रपात आरम्भ होता है।

कलकत्ता के निवासकाल में ब्राह्मसमाज, आदिब्रह्मसमाज एवं प्रार्थनासमाज के सभी प्रमुख कार्यकर्ताओं के साथ स्वामीजी का घनिष्ठ सामञ्जस्य उत्पन्न हो चुका था। इस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती कौपीनमात्रधारी थे और अपना प्रवचन संस्कृत भाषा में ही किया करते थे। यहाँ के ब्राह्मसमाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति श्री केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी से निवेदन किया कि अब आप जनसमुदाय में प्रवचन करते हैं, तथा रेलगाड़ी आदि में यात्रा करते हैं, इसलिए साधारण वस्त्र पहनना आरम्भ कर दें तो अच्छा रहेगा। दूसरा उनका सुझाव यह था कि आप संस्कृत भाषा में प्रवचन करते हैं, उसका भाषार्थ पण्डित लोग जनसाधारण को आपके मन्तव्य के विरुद्ध बतला देते हैं। इसलिए जन-साधारण तक पहुंचने के लिए हिन्दी भाषा में, जो कि सर्वाधिक जानी-पहचानी भाषा है, प्रवचन किया करें। स्वामी दयानन्द सरस्वती का तो सारा जीवन ही सत्य के अन्वेषण में व्यतीत हो रहा था। अतः उन्हें श्री केशवचन्द्रसेन के दोनों कथनों में वास्तविकता का अंश दिखाई पड़ा और उन्होंने उनकी दोनों बातें तत्काल सहर्ष स्वीकार कर लीं। इसी पृष्ठभूमि में कलकत्ता से प्रयाग (जहाँ उन्होंने सत्यार्थप्रकाश की प्रथम रचना की) होते हुए बम्बई पधारे। भारत देश एक विस्तृत क्षेत्र है। यह भारतीय संस्कृति के रूप में एक राष्ट्र है। इसके किसी भी क्षेत्र में

जो चिन्तन आरम्भ होता है, वह तत्काल ही संस्कृति के माध्यम से देश-व्यापी हो जाता है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यतः भारतीय राष्ट्र की चेतना का मूल भारतीय संस्कृति है और उसके सूत्र सदा से परस्पर सम्बद्ध रहे हैं, अतः यह बृहद् राष्ट्र, जो राजनैतिक दृष्टि से चाहे एक राष्ट्र के रूप में न रहा हो, सांस्कृतिक चेतना रूप में यह सदा से ही एक राष्ट्र रहा है। अतः प्रत्येक क्षेत्र का निवासी अपने देश की संस्कृति को जानने के लिए सदा से तीर्थ[1] यात्रा के रूप में चारों दिशाओं की यात्रा करता रहा है। यतः सर्वत्र एक जैसी ही संस्कृति विराजमान है, अतः विभिन्न प्रान्तों में देशज दूरी होने पर भी समान विचारों का उदय एक काल में हम बहुधा देखते हैं। इसलिए न केवल कलकत्ता अपितु महाराष्ट्र, गुजरात एवं उत्तरप्रदेश प्रभृति उत्तरभारतीय प्रान्तों में और तथैव दक्षिण भारतीय प्रान्तों में एक काल में एक प्रकार की समान चेतना का उदय देखने को मिलता है। अतः इस कलकत्ता यात्रा में विशिष्ट सामाजिक संघटन का जो विचार उत्पन्न हुआ था, वह लगभग दो वर्ष पश्चात् बम्बई में जाकर पूर्ण हुआ और वहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने **वेदोद्धार कार्य के प्रचार-प्रसार विभाग को सुदृढ़ करने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की।**

४. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन ऋषि-मुनियों के मन्तव्यानुसार वेदोद्धार का जो कार्य किया था और वेदार्थ का वास्तविक स्वरूप बड़े प्रयत्न से प्रकाशित किया था, वह उनके निधन के पश्चात् लुप्त न हो जावे, इस दृष्टि से उपर्युक्त तीन विशिष्ट कार्यों का विधान किया था। परन्तु इनमें विशिष्ट पाठविधि का कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होते हुए भी चिरकालसाध्य था। अतः उन्होंने सद्यः कार्यकारी परोपकारिणी सभा और आर्यसमाज की स्थापना की, परन्तु यह दोनों कार्य तात्कालिक एवं भावी में उत्पन्न होनेवाले आर्यों के ऊपर निर्भर थे। वे वेद की **अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीतं विनश्यति** (ऋ० १।१७०।१) सत्योक्ति से भी परिचित थे। अतः उन्होंने एक ऐसा तात्कालिक प्रभाव वाला कार्य किया, जिसका आर्यसमाज के क्षेत्र में किसी को ज्ञान नहीं।

---

१. तीर्थ शब्द का यहाँ अभिप्राय ज्ञान-क्षेत्र से है। अतएव एक गुरु के समीप अध्ययन करनेहारे सतीर्थ्य कहाते हैं। द्र०—तीर्थे ये (अष्टा० ६।३।८७)

वह कार्य है **अपनी योगज शक्ति द्वारा पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी, जो अन्तिम समय में वहाँ उपस्थित थे, उनकी बौद्धिक शक्ति को यथावत् जानकर अन्तिम समय में शक्तिपात द्वारा उनके हृदय में वेद और वेदार्थ को संचरित किया**। पहुंचे हुए योगियों के लिए यह प्रक्रिया अत्यन्त साधारण है। इसके अनेक दृष्टान्त प्राचीन इतिहास में सुरक्षित हैं। एक संस्कृत-ज्ञान से अछूते पाश्चात्य विज्ञान में शिक्षा ग्रहण करनेहारे नवयुवक ने अपने ६-७ वर्ष[1] के स्वल्पतम जीवनकाल में जो आश्चर्यजनक कार्य किया, वह इसी का परिणाम है।

इस पर आगे यथास्थान विस्तार से विचार किया जायेगा। यहाँ तो अन्य कार्यों के समान इस कार्य का संक्षिप्त रूप से उल्लेख मात्र किया है।

१. जब पं० गुरुदत्तजी स्वामी दयानन्द सरस्वती के अन्तिम समय में अजमेर पहुंचे थे, तब वे १९ वर्ष के थे और बी० ए० के प्रथम वर्ष के छात्र थे। २६ वर्ष के वय में उनका निधन हो गया था।

# आर्षयुगीन शिक्षा-पद्धति का उद्धार

स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्पूर्ण जीवन का एकमात्र कार्य था—**वेदोद्धार**। अन्य जो भी कार्य उन्होंने अपने जीवन में किये, वे सब वेदोद्धार कार्य के ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग थे। उस समय की परिस्थिति के कारण उन्हें अपने जीवन में कोई योग्य शिष्य वा सहायक भी नहीं मिला। उन्हें वेदभाष्यसदृश महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखने वा लिखवाने के लिये साधारण व्यक्तियों को लिपिकर के रूप में रखना पड़ा। जिन्होंने अपनी अल्पज्ञता वा प्रमाद आदि के कारण उनके ग्रन्थों में सहस्रों भूलें की। यह हम पूर्व लिख चुके हैं। विशेष ज्ञान के लिए 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' तथा मेरे द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थ देखें।

अब हम ऋषि दयानन्द के वेदोद्धार कार्य को उनके निधन के पश्चात् लोप होने से बचाने जैसे प्रमुख कार्य का यहाँ उल्लेख करते हैं, जिससे देश में वास्तविक वेदार्थवेत्ताओं के उत्पन्न होने की सम्भावना थी, वह कार्य है—**आर्षयुगीन शिक्षा-पद्धति का उद्धार**।

**पुरा काल में वेद का लोप एवं उद्धार**—भारतवर्ष के अतिदीर्घकालीन इतिहास में ऐसे अनेक अवसर आये, जब वेदश्रुति का लोप हुआ। परन्तु उस काल में ऋषियों की परम्परा का कभी भी समूल नाश नहीं हुआ था, अतः विलुप्त वेदज्ञान के उद्धार के लिये कोई-न-कोई ऋषि आगे आ जाता था। ऐसे वेदोद्धारक ऋषि **व्यास** अथवा **वेदव्यास** कहाते थे। विगत द्वापरयुगीन २८ व्यासों के नाम पुराणों में मिलते हैं। उनमें अन्तिम २८वें व्यास कृष्णद्वैपायन थे। इन्होंने तथा इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने भारतयुद्धकाल (१०० वर्ष पूर्व से २०० वर्ष उत्तर तक) में अन्तिम वार शाखाओं ब्राह्मणों आरण्यकों आदि सर्वविध वैदिक वाङ्मय का प्रवचन किया था।

**ऋषियों का उत्क्रमण**—इसी काल के निरुक्तकार यास्क के लेख से विदित होता है कि इस अन्तिम वेदोद्धार के साथ ही ऋषियों का

उत्क्रमण भी आरम्भ हो गया था—**मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति** (निरुक्त १३।१२)।

इस प्रकार शनैः-शनैः ऋषियों के उत्क्रमण के साथ मुनियों अर्थात् ऋषिकल्पों का युग आरम्भ हुआ, जो लगभग ५०० वर्ष रहा। इसके पश्चात् मुनियुग की समाप्ति के साथ वैदिक ज्ञान-विज्ञान का युग भी समाप्त हुआ। उत्तरकालीन आचार्ययुग में आचार्यलक्षणों के ह्रास एवं मद लोभ मोह आलस्य वा प्रमाद की वृद्धि के साथ-साथ मत-मतान्तर प्रवृत्त हो गये। साम्प्रदायिक तथाकथित आचार्य अपने अनुयायियों को ज्ञान-विज्ञान से शून्य रखकर स्वयं ऐश्वर्यमय जीवन बिताने लगे। आर्य जाति अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गई। इस प्रकार समस्त प्राचीन शिक्षा-पद्धति नष्ट हो गई।

**प्राचीन शिक्षापद्धति**—प्राचीनकाल में समस्त ज्ञान-विज्ञान के आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ वेदाध्ययन परम आवश्यक था। वेदाध्ययन के विना ब्राह्मणत्व क्या द्विजत्व भी प्राप्त नहीं होता है। प्राचीन शिक्षापद्धति सम्बन्धी निर्देश गृह्यसूत्रों के वेदारम्भ संस्कार प्रकरण में[1] वा धर्मशास्त्रों में[2] मिलते हैं। तदनुसार प्रत्येक द्विज के लिये विभिन्न विद्याओं के साथ न्यूनातिन्यून एक वेद का अध्ययन आवश्यक था। ब्राह्मणों में द्विवेद त्रिवेद चतुर्वेद (द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी) जो अवटंक (आस्पद) चले आ रहे हैं, वे भी इसके ज्ञापक हैं। जो ब्राह्मण मन्त्रसंहिता के साथ पदपाठ और क्रमपाठ भी स्मरण करता था, वह तिवारी (त्रिपाठी) कहाता था।[3]

प्राचीनकाल में विभिन्न शास्त्रों का अध्ययनाध्यापन जिस रूप में होता था, उसका निर्देश हम इस 'पुरुषार्थचतुष्टय' के संक्षिप्त परिचय में पूर्व (पृष्ठ २६२) कर चुके हैं। उनसे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में शिक्षा

---

१. द्वादशवर्षं प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं चर।

२. वेदमधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। मनु० ३।२॥

३. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी संस्कारविधि के अन्तर्गत पठनपाठन विधि में पदपाठ और क्रमपाठ सहित वेद के अध्ययन अध्यापन का विधान किया है। स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती सामवेदी त्रिवाड़ी (त्रिपाठी) औदीच्य ब्राह्मण कुल के थे।

एकाङ्गी नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति को वेद के साथ कतिपय आवश्यक विद्याक्षेत्रों का भी ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था।

**पठनीय ग्रन्थों की परीक्षा**—पुराकाल में किसी भी विद्याक्षेत्र के किस ग्रन्थ को पढ़ा जाये, इसके लिये आरम्भ में तद्विषयक ग्रन्थों की परीक्षा करना आवश्यक समझा जाता था। चरकसंहिता के विमानस्थान के ८वें अध्याय के तीसरे खण्ड में लिखा है—

**'शास्त्रमेवादितः परीक्षेत। विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके। तत्र यन्मन्येत सुमहद् यशस्विधीरपुरुषसेवितम्, अर्थबहुलम्, आप्तजनस्य पूजितम्, त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्, अपगतपुनरुक्तदोषम्, आर्षम्, सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्, स्वाधारम्, अनवपतितशब्दम् अकष्टशब्दम्, पुष्कलाभिधानम्, क्रमागतार्थम्, अर्थतत्त्वनिश्चयप्रधानम्, संगतार्थम्, असंकुलप्रकरणम्, आशुप्रबोधकम्, लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवंविधम् अमल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम्॥'** विमान० ८।३॥

अर्थात्—प्रथम शास्त्र की परीक्षा करे। अनेक प्रकार के शास्त्र वैद्यों के लोक में प्रचलित हैं। उनमें से जिसे समझे कि यह उत्कृष्ट, यशस्वी और पुरुषों से सेवित, अर्थपूर्ण, **आप्तजनों से पूजित**, त्रिविध (उत्तम-मध्यम-निकृष्ट तीनों प्रकार के) शिष्यों के लिए हितकारी, पुनरुक्तदोष-रहित, **ऋषिप्रणीत**, सूत्र-भाष्य-संग्रह=क्रमादि द्वारा अच्छे प्रकार से प्रणीत, दृढ़ आधारवाला, शब्दपात से रहित, क्लिष्ट शब्द रहित, अधिक अभिप्राय को कहनेवाला, क्रमपरम्परा से प्राप्त अर्थ से युक्त, अर्थतत्त्व=वस्तुतत्त्व के निश्चय की जिसमें प्रधानता हो, संगत अर्थवाला, विशद प्रकरणवाला शीघ्र ज्ञान करानेहारा, लक्षण और उदाहरण से युक्त है, उस शास्त्र को स्वीकार करे। इसी प्रकार का शास्त्र निर्मल सूर्य के समान अन्धकार को नष्ट करके सब पदार्थों को प्रकाशित करता है।

उक्त विविध गुणों से विभूषित ग्रन्थों के अध्ययन अध्यापन की परम्परा पुराकाल में विद्यमान होने से यह आर्यावर्त देश समस्त भूमण्डल का गुरु रहा। मनुस्मृति में लिखा है—

**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥२।२०॥**

**आर्षग्रन्थों के विरुद्ध सामूहिक षड्यन्त्र**—ऋषियुग और मुनियुग के

समाप्त हो जाने पर भी अध्ययनाध्यापन में आर्षग्रन्थों का ही प्रचलन रहने से साधारण जनता में आर्षग्रन्थों की ही मान्यता तथा अध्ययनाध्यापन में लगाव बना रहा। उत्तरकालीन विद्वानों की ग्रन्थों के पठन-पाठन में मान्यता न मिलने से खिन्न हुए विद्वानों ने आर्षग्रन्थों की मान्यता तथा जनता के लगाव को नष्ट करने के लिये सामूहिक प्रयत्न आरम्भ किये। इसे आर्षग्रन्थों के प्रति सुविचारित षड्यन्त्र कहना अधिक उचित होगा। उदाहरण के लिये यहाँ हम महाराजा विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में अन्यतम महाकवि **कालिदास** प्रसिद्ध ज्योतिषी **वराहमिहिर** और प्रसिद्ध भिषक् **वाग्भट्ट** के एतद्विषयक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में कहा है—

**पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।**
**सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥**

अर्थात्—पुरातन सब कुछ साधु नहीं है और ना ही कोई काव्य नवीन होने से बुरा है। सन्त (बुद्धिमान्) जन नये पुराने की परीक्षा करके एक साधु को स्वीकार करते हैं और मूढ दूसरे की बुद्धि के पीछे चलनेवाले होते हैं।

**वराहमिहिर** ने बृहत्संहिता के आरम्भ में लिखा है—

**मुनिरचितमिदमिति यच्चिरन्तनं साधु, न मनुजग्रथितम्।**
**तुल्येऽर्थेऽक्षरभेदाद् अमन्त्रके का वा विशेषोक्तिः॥**

अर्थात्—मुनिजनों से विरचित प्राचीन ग्रन्थ ही साधु है, मनुष्यों से रचित साधु नहीं हैं [यह ठीक नहीं] क्योंकि अर्थ के समान होने पर अक्षर-भेद से मन्त्र को छोड़कर अन्य में क्या विशेष कथन हो सकता है।

**वाग्भट्ट** ने चरक सुश्रुत आदि की निन्दा करते हुए, अपने ग्रन्थ का गौरव बताने का इस प्रकार प्रयत्न किया है—

**अभिनिवेशवशाद् अभियुज्यते सुभाषितेऽपि यो दृढमूलकः।**
**पठतु यत्नपरं पुरुषायुषं स खलु वैद्यमाद्यमनिर्विदः॥**
**ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।**
**भेलाद्याः किन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥**

अर्थात्—जो दृढमूलक (श्रद्धावान्) अभिनिवेश (आर्षग्रन्थ ही पढ़ूँगा इस) धारणा से अच्छे प्रकार कहे गये (=उत्तम) ग्रन्थ को भी नहीं पढ़ता, तो वह (मूर्ख) अखिन्न होकर सारी आयु आद्य (=ब्रह्माकृत

महान्) शास्त्र को पढ़ता रहे। यदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के पढ़ने में ही प्रीति है, तो चरक सुश्रुत को छोड़कर भेल आदि विरचित तन्त्रों को क्यों नहीं पढ़ते ?[1] इसलिये सुभाषित ग्रन्थों को ही ग्रहण करना चाहिये।

आर्षग्रन्थों का महत्त्व कम करने और अपने ग्रन्थों का मान बढ़ाने के लिये अतिमानी विद्वानों ने पूर्वकाल में अत्यधिक प्रयास किया होगा। ऊपर दिये तीन विद्वानों के वचनों को निदर्शनमात्र जानना चाहिये। तीनों विद्वानों ने आर्षग्रन्थों की गरिमा न्यून करने के लिये अलग-अलग युक्तियाँ दी हैं। **कालिदास** ने 'पुराना होने से ही साधु नहीं होता और न ही नवीन सभी बुरा होता है', वराहमिहिर ने 'अर्थ के समान होने पर केवल शब्द-भेद से कथन में क्या भेद पड़ता है ?', वाग्भट्ट ने 'ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को पढ़ाने का ही आग्रह है, तो चरक सुश्रुत छोड़कर भेलादि के ग्रन्थ क्यों नहीं पढ़ते ? भेलसंहिता भी तो ऋषिप्रणीत है ?' सबका सार यह है कि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों से चिपटे रहना **तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति** (=मेरे पिता पितामह का यह बनाया हुआ कुआ है कहते हुए खारा पानी पीते रहना) के समान है।

इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में पठनपाठनविधि के सन्दर्भ में लिखा है—

"और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका कौमुदी मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है ? महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके, वहाँ तक सुगम, और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है। [और] क्षुद्राशय लोगों की मनसा (अर्थात् मन्शा=इच्छा) ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन

---

१. वाग्भट्ट ने **'ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेत्'** कहकर **'भेलाद्याः किन्न पठ्यन्ते'** उलाहना दी है। परन्तु चरक विमानस्थान ८।३ में पठनीय ग्रन्थों के जो गुण गिनाए हैं, उनमें 'आर्षम्' एक है, अन्य गुणों का भी तो ध्यान रखना चाहिये। यतः ऋषि लोग नीरजस्तम निरहंकारी एवं सुहृद् होते हैं, अतः उनके ग्रन्थों में अधिकतम गुण स्वतः सन्निविष्ट हो जाते हैं। इसीलिये आर्षग्रन्थों को सर्वोपरि माना जाता है।

रचना करनी। जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें। जैसे पहाड़ का खोदना कौड़ी का लाभ होना। और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है, जैसा एक गोता लगाना [और] बहुमूल्य मोतियों का पाना।"

न्यूनातिन्यून दो सहस्र वर्षों से प्रत्येक विषय में आर्षग्रन्थों के स्थान में अनार्षग्रन्थों का पठन-पाठन प्रवृत्त हो चुका था। इस कारण शनैः-शनैः विद्वानों के मस्तिष्क पर भी अनार्षग्रन्थों का अत्यधिक प्रभाव पड़ चुका था। वे आर्षग्रन्थों की निन्दा भी करने लग गये थे। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण शास्त्र के विषय में स्पष्ट घोषणा की थी—

**कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।**
**कौमुदी यदकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥**

पठनपाठन के क्षेत्र में इस प्रकार अनार्षग्रन्थों के हावी हो जाने से छात्रों को कठिनतम परिश्रम करके भी शास्त्र के तात्पर्य से वञ्चित रहना पड़ता था। इस दुरवस्था की प्रथमतः उपज्ञा स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरु प्रज्ञाचक्षुः श्री दण्डी विरजानन्द सरस्वती को हुई और उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती को अनार्षग्रन्थों के कुचक्र से मुक्त रहने का उपदेश दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनचरितों में लिखा है कि गुरुवर दण्डीजी ने अनार्षग्रन्थों को पहचानने की यह कसौटी बताई थी कि जिस ग्रन्थ में ऋषि, मुनि, वेद और ईश्वर की निन्दा उपलब्ध होवे, उसे अनार्षग्रन्थ समझना। इसी के फलस्वरूप जब अपने गुरुवर दीक्षा लेकर आगरा आकर रहे और सत्सङ्गियों के आग्रह पर पञ्चदशी की कथा करने लगे, तो एक दिन कथाप्रसङ्ग में ईश्वर को अज्ञान होने का वर्णन आने पर '**यह अनार्षग्रन्थ है, मैं इसकी कथा नहीं करूँगा**' कहकर पञ्चदशी की कथा बन्द कर दी। इस प्रसङ्ग के पश्चात् लगभग १० वर्ष तक सहस्रों ग्रन्थों का पारायण करके उन्होंने निश्चय किया था कि लगभग ३ सहस्र आर्षग्रन्थ प्रामाणिक हैं।[1]

विगत सहस्रों वर्षों में अनार्षग्रन्थों के पठन-पाठन से वेदविद्या का जो लोप हो चुका था, उसके लिये आर्षग्रन्थों का पठनपाठन पुनः प्रसृत करना आवश्यक था। इसके साथ ही जब तक समस्त विद्याओं के आकरग्रन्थों के सहित वेद का अध्ययन-अध्यापन प्रसृत न होगा, तो वेदविद्या के लोप

१. 'अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से ले के पूर्वमीमांसापर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों की प्रामाणिक मानता हूं।' भ्रान्तिनिवारण, पृष्ठ १९८, दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह।

होने से देश में अविद्यान्धकार फैला हुआ है, वह निवृत्त नहीं होगा। इस स्थिति पर गम्भीरता से विचार करके प्राचीन ऋषि-मुनियों की मान्यतानुसार 'शिक्षा' से लेकर चारों वेदों के अध्ययन पर्यन्त की एक विशिष्ट पठनपाठन विधि का निर्धारण किया। इस पठनपाठन विधि से मेधावी छात्र ३१-३२ वर्ष में समस्त वैदिक वाङ्मय का अध्ययन कर सकता है। इस विधि का पूर्णतया निर्देश सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास और संस्कारविधि के वेदारम्भ संस्कार में किया। इन दोनों स्थानों में परस्पर साधारण भेद है।

अनार्षग्रन्थों के पठन-पाठन की शैली, जो उस समय प्रसृत थी, उसमें एक दोष अन्य भी था। इसके अनुसार प्रत्येक विषय के परिज्ञान के लिये १२-१२ वर्ष लगाने पड़ते थे। पञ्चतन्त्र में कहा भी है—**द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते**। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति दो तीन विषयों से अधिक का ज्ञान अध्ययनकाल में प्राप्त नहीं कर सकता था। साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन तो दिवास्वप्न बन चुका था।

**आर्ष पाठविधि का प्रचलित न होना**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के निधन के कुछ काल पश्चात् ही लाहौर में 'डी० ए० वी० कालेज' की स्थापना की गई। आरम्भ में श्री पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी एम० ए० के विशेष प्रयत्न से अंग्रेजी शिक्षा के साथ अष्टाध्यायी महाभाष्य पढ़ाने की व्यवस्था की गई, परन्तु वह व्यवस्था चल न सकी। डी० ए० वी० कालेज कुछ काल पश्चात् ही राजकीय शिक्षा का ही माध्यम बन गया।

इस समय तक पञ्जाब के आर्यसमाजी सिद्धान्त-भेद के कारण दो धड़े में बँट चुके थे। कालेजवाले धड़े के प्रमुख थे, महात्मा हंसराज जी। द्वितीय पक्ष के आर्य समाजियों के मुखिया थे, महात्मा मुंशीरामजी (स्वामी श्रद्धानन्दजी)।

**गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना**—पञ्जाब के द्वितीय धड़े के आर्यसमाजियों ने महात्मा मुंशीरामजी के विशिष्ट प्रयत्न से हरिद्वार में गङ्गापार हिमालय की उपत्यका में गङ्गा के किनारे 'कांगड़ी' ग्राम के निकट गुरुकुल की स्थापना की। इस स्थान का चयन करते समय महात्मा मुंशीरामजी के मस्तिष्क में सम्भवतः निम्न मन्त्र गूँज रहा होगा—

**उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।**
**धिया विप्रो अजायत॥** यजु० २६।१५॥

जब अध्यापन का प्रश्न उपस्थित हुआ तो आर्यसमाज में एतादृश विद्वानों के अभाव में पौराणिक मतानुयायी विद्वानों को रखना पड़ा। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि अष्टाध्यायी महाभाष्य पढ़ाने से छात्र विद्वान् नहीं बनेंगे, विद्वान् बनाना हो तो सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा, शेखर आदि ग्रन्थ पढ़ाने होंगे। इस प्रकार गुरुकुल कांगड़ी तथा अन्य गुरुकुलों एवं महाविद्यालयों में आर्ष पाठविधि प्रचलित न हो सकी। जब व्याकरण का पठन-पाठन ही अष्टाध्यायी के क्रम से न हो सका तो अन्य वेदाङ्गों और वेदाध्ययन की बात तो दूर ही रही। हाँ, गुरुकुलों में पठित विद्वानों ने लौकिक क्षेत्र (=ग्रन्थ-लेखन व्याख्यान सम्पादनादि)में अवश्य कीर्तिमान् स्थापित किये।

काल बीतता गया। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट आर्ष पाठविधि की उपेक्षा अथवा दबे शब्दों में उसका विरोध होता रहा। स्वामी दयानन्द सरस्वती के एक अंग्रेजी पढ़े लिखे भक्त, जिनका चतुर्थाश्रम का नाम स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती था, के मन में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रबोधित पाठविधि को प्रचलित करने की इच्छा जागृत हुई। दृढ़ सङ्कल्प के कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखे गये, वेदाङ्गप्रकाश आदि की सहायता से व्याकरण का कुछ स्वत: अध्ययन कर के कुछ शिष्यों को पढ़ाया। उनमें एक शिष्य, जिनका नाम ब्रह्मदत्त जिज्ञासु था, ने अपने गुरु श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती के कार्य को आगे बढ़ाने का सङ्कल्प धारण किया। सन् १९२० में श्री वीतराग स्वामी सर्वदानन्दजी के 'साधु आश्रम', पुल काली नदी के निकट (अलीगढ़) में आर्षपाठविधि के अनुसार अध्ययन अध्यापन के लिये **विरजानन्द आश्रम** की स्थापना की। वह सन् १९२१ के दिसम्बर मास में ग्राम **गण्डासिंह-वाला** (अमृतसर) में स्थानान्तरित हुआ और सन् १९२२ के प्रथम चरण में उसमें विधिवत् अध्ययनाध्यापन आरम्भ हुआ। मेरा प्रवेश तीन सितम्बर १९२१ में श्री पिता गौरीलालजी ने साधु आश्रम (अलीगढ़) में कराया था। साधु आश्रम से मेरे सहित ५-६ पुराने छात्र अमृतसर आये थे।

विरजानन्द आश्रम आरम्भ करने से पूर्व श्री पं० ब्रह्मदत्तजी ने अध्ययनाध्यापन कार्य में सहयोग देने के लिये काशी से श्री पं० शङ्करदेवजी तथा उनके साथी श्री पं० बुद्धदेवजी उपाध्याय (धारवालों) को बुला लिया। श्री पं० शङ्करदेवजी व्याकरणशास्त्र तथा विशेषकर महाभाष्य के पारङ्गत विद्वान् थे। यद्यपि इन्होंने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन

सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से किया था, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रति भक्ति होने से अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण के अध्यापन में आप प्रवृत्त हुए। श्री पण्डित ब्रह्मदत्तजी की इस समय तक व्याकरणशास्त्र में विशेष गति नहीं थी, परन्तु उन्होंने अध्यापन कार्य करते हुए ही न केवल व्याकरणशास्त्र की अपनी कमी को पूरा किया, अपितु अन्य शास्त्रों में भी प्रवीणता प्राप्त कर ली। जहाँ श्री पण्डित शङ्करदेवजी शास्त्रज्ञान में प्रवीण थे, वहाँ वे लोकव्यवहार-अकुशल थे। इसके विपरीत श्री पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु आरम्भ में व्याकरणशास्त्र में भी निपुण नहीं थे, परन्तु लोक-व्यवहार में वे प्रवीण थे। कुछ काल के पश्चात् दोनों विद्वद्वर श्री पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का साथ छोड़ गये, तथा बार-बार स्थान परिवर्तन जैसी अनेक प्रकार की बाधाएँ सहते हुए उन्होंने आरब्ध कार्य को---

**विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।**
**प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥**

सुभाषितानुसार जीवनपर्यन्त निभाया। प्रथम प्रविष्ट हम लोगों को १३-१४ वर्ष साथ में रखकर विविध विषयों के अङ्गोपाङ्गों का अध्यापन स्वयं तथा काशी के विशिष्ट विद्वानों से करवाया।

इस प्रकार श्री स्वामी पूर्णानन्दजी सरस्वती और उनके शिष्य पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के प्रयत्न और पुरुषार्थ से स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट पाठविधि से अध्ययनाध्यापन प्रचलित हुआ। अनन्तर आर्यसमाज में अनेक आर्षपाठविधि के गुरुकुल और विद्यालय प्रारम्भ हुए। उनमें दो न्यूनताएँ थी—एक तो उनमें केवल व्याकरणशास्त्र तक ही अध्यापन होता था, तथा दूसरी न्यूनता यह थी कि उन गुरुकुलों और विद्यालयों में जो अध्यापक रखे गये थे, वे अपने शास्त्र में प्रवीण न थे।

## आर्ष पाठविधि का विभागीकरण

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो ३१-३२ वर्ष की पठन-पाठन विधि प्रस्तुत की है, वह संस्कृत वाङ्मय में विशदीकृत अनेक प्रमुख विद्याओं के साथ चारों वेदों के अध्ययन की है। यह सम्पूर्ण पाठविधि यथातथ रूप से ३१-३२ वर्ष में अत्यन्त मेधावी, पूर्व संस्कारों से सम्पन्न छात्र ही पूर्ण कर सकता है। पूज्य गुरुवर श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के लगभग ४२ वर्ष के अध्यापन के तथा मेरे अनुभव के अनुसार मध्यम कोटि के मेधावी छात्रों को इसे यथातथ रूप में पूर्ण करने में ४० वर्ष लग सकते हैं। **उपनयन से**

**पूर्व वर्षों की गणना करके उक्त पाठविधि ४८ वर्ष पर्यन्त अथवा आजन्म ब्रह्मचर्य के पालन करनेवाले व्यक्ति के लिये है।** जो व्यक्ति १६ वर्ष अथवा २४ वर्ष अध्ययन करना चाहता है अर्थात् १६+८=२४ वर्ष के वय: पर्यन्त एक वेद का अध्ययन अथवा जो २४+८=३२ वर्ष के वय: पर्यन्त दो वेदों के अध्ययन के पश्चात् गृहस्थ में प्रवेश करने का इच्छुक है, उसके लिये इस पाठविधि का विभागीकरण करना ही पड़ेगा। मैं अपने ज्ञान के अनुसार यह विभागीकरण निम्न प्रकार उचित समझता हूं—

**प्रथम कल्प**—२४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करनेहारे के लिये पाठ-विधि का स्वरूप।

साङ्गोपाङ्ग एक वेद का अध्ययन १६ वर्ष में हो सकता है। पूज्य गुरुवर के तथा मेरे अनुभव के अनुसार ५ वर्ष में महाभाष्यान्त व्याकरण का अध्ययन, एक वर्ष में निरुक्त तथा एक सामान्य कोश, १।। वर्ष में छन्द:शास्त्र साहित्य, १।। वर्ष में ज्योतिषशास्त्र, २ वर्ष में ६ उपाङ्ग= दर्शनशास्त्र। उपाङ्गों के अध्ययन के समय मीमांसादर्शन के अध्ययन से पूर्व कल्पसूत्र=श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्रों का अध्ययन और वेदान्तदर्शन के अध्ययन से पूर्व ईशादि दश उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक है। क्योंकि मीमांसादर्शन में यज्ञसम्बन्धी वचनों पर विचार किया गया है, और वेदान्तदर्शन में उपनिषद् के वचनों का। और तीन वर्ष में **यजुर्वेद** वा **सामवेद** में अन्यतम का पदपाठ तथा क्रमपाठ सहित सार्थ अध्ययन।

**विशेष**—हम पूर्व पृष्ठ २०-२१ पर लिख आये हैं कि मीमांसादर्शन से पूर्व न्यूनातिन्यून एक वेद का अध्ययन अर्थात् कण्ठस्थीकरण आवश्यक है, यह सब मीमांसाव्याख्याकारों का मत है, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जैसे वेदान्तदर्शन से पूर्व दश उपनिषदों के अध्ययन का पाठविधि में उल्लेख किया है। तद्वत् मीमांसादर्शन के अध्ययन से पूर्व न्यूनातिन्यून एक वेद के अध्ययन का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह है कि प्राचीन आर्ष परम्परा के अनुसार वेदारम्भ संस्कार के अनन्तर वेदा-ध्ययन अनिवार्य है। स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उपनयन के अनन्तर परम्परानुसार समग्र शुक्लयजुर्वेद कण्ठस्थ किया था। इसका उल्लेख स्वयं स्वलिखित वा कथित जीवनचरित्र में किया है।

२४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करनेहारे व्यक्ति के लिये ८ वर्ष के वय: में विहित उपनयन संस्कार के अनन्तर १६ वर्ष के साङ्ग वेदाध्ययन

की जो पाठविधि दर्शाई है, उसका आधार है—**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** महाभाष्य का वचन।

**द्वितीय कल्प**—३२ या ३६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करनेहारे के लिये पाठविधि का स्वरूप।

पूर्व २४ वर्ष पर्यन्त अध्ययन करनेहारे के लिये जो १६ वर्ष की पाठविधि लिखी है, वह वैसी ही रहेगी। आगे के ८ वर्ष में निम्न प्रकार अध्ययन करना चाहिये—

प्रथम कल्प में यजुर्वेद का अध्ययन करनेहारा ब्रह्मचारी ४ वर्ष में **शतपथब्राह्मण, आयुर्वेद के निघण्टु, चरक सुश्रुत ग्रन्थों का अध्ययन करे।** सामवेद का अध्ययन करनेहारा ४ वर्ष में **वादित्रवादन सहित सामगान और नाट्यशास्त्र का अभिनयपूर्वक अभ्यास करे।** शेष ४ वर्षों में पूर्व अनभ्यस्त यजुर्वेद अथवा सामवेद का पदपाठ और क्रमपाठ सहित अध्ययन करे। इस प्रकार दो वेदों का अध्ययन सम्पन्न हो जायेगा। ३६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करनेहारा इन ४ वर्षों में पदपाठ, क्रमपाठ ऐतरेयब्राह्मण सहित ऋग्वेद का यथाशक्य अधिकतम भाग का अध्ययन करे। अथवा वास्तुशास्त्र वा शिल्पशास्त्र अथवा भौतिक विज्ञान वा राजनीतिशास्त्र का अध्ययन करे।

**तृतीय कल्प**—४० या ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करनेहारे के लिये पाठविधि।

३२ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य रखनेवालों के लिये प्रथम कल्प और द्वितीय कल्प में जिस प्रकार की अध्ययन की विधि लिखी है, तदनुसार पढ़े। ३२ वर्ष से ४० वर्ष के मध्य पदपाठ, क्रमपाठ एवं ऐतरेयब्राह्मण सहित सम्पूर्ण ऋग्वेद का अध्ययन करे। और साथ में सामवेद का ताण्ड्य-ब्राह्मण पढ़े अथवा वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र वा राजनीति आदि में से किसी एक का ज्ञान प्राप्त करे। तथा जिसने ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहना है, वह अगले के ४ वर्षों में पद-क्रम एवं गोपथब्राह्मण सहित अथर्ववेद पढ़े।

**चतुर्थ कल्प**—५८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य रखनेवाला व्यक्ति पूर्वपठित किसी भी विद्याक्षेत्र में विशेष योग्यता का सम्पादन करे।

प्रत्येक विविध विषयों के अध्ययन करनेहारे व्यक्ति के लिये किसी एक विद्या के क्षेत्र में पारोवर्यवित्=पारम्परीण=पारङ्गत होना आवश्यक है। इस विषय में शास्त्रकारों ने कहा है—

**पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।**

निरु० १।१६; १३।१२।।

अर्थात्—एक-एक विद्या में पारङ्गत विद्वानों में वह विद्वान् श्रेष्ठ होता है, जो एक विद्या में पारङ्गत होता हुआ, एक से अधिक विद्याओं का भी अपने अन्दर ज्ञान रखता है ।

**किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः ।**[1]

(महाभाष्य ६।३।१०९)

अर्थात्—जो बिना प्रयोजन की आकांक्षा रखे किसी एक विद्या में पारङ्गत होते हैं, वे शिष्ट कहाते हैं ।

**वर्तमानकालीन आवश्यकता**—वर्तमान काल में इस बात की परम आवश्यकता है कि आर्ष पाठविधि से अध्ययन करनेहारे मेधावी छात्र अध्ययन के पश्चात् किसी न किसी एक ग्रन्थ के आर्षग्रन्थों से भिन्न अनार्षग्रन्थों का भी सम्यक् अभ्यास करें, जिससे प्रतिपक्षी व्यक्ति से शास्त्रचर्चा के समय स्व पक्ष के स्थापन और पर पक्ष का यथोचित निराकरण करने में वह समर्थ हो सके ।

वर्तमान समय पुराने शास्त्रार्थों का नहीं है । यह समय विभिन्न मतों के विद्वानों के साथ प्रेमपूर्वक शास्त्रों के विषय में चर्चा करके उन्हें अधिक से अधिक अपने अनुकूल बनाने का है । यह तभी सम्भव हो सकता है, जब आर्ष पाठविधि से अध्ययन करनेहारे अपने पाण्डित्य का अभिमान न करके किसी न किसी विषय के पारोवर्यवित् बनने के लिये उस विषय से सम्बद्ध जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सबका अवलोकन करें ।

सम्प्रति आर्यसमाज की अनेक संस्थाओं में आर्ष पाठविधि से अध्यापन होता है, परन्तु मेरी दृष्टि में जितना और जैसा अध्ययन अध्यापन होता है, उसे आर्ष पाठविधि के माध्यम वाला नहीं कह सकते ।

इसमें दो कारण हैं—प्रथम कारण यह है कि केवल अष्टाध्यायी और महाभाष्य तक व्याकरण का अध्यापन ही आर्ष पाठविधि नहीं है । इसके लिये महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट प्रमाण दिया है—

**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।**

अर्थात्—ब्राह्मण के द्वारा कम से कम षडङ्ग सहित एक वेद का अध्ययन तो अवश्य होना चाहिये ।

---

१. पूरा वचन पृष्ठ २६३ पर देखें ।

दूसरा कारण यह है कि आर्ष पाठविधि का एक उद्देश्य है, और वह उद्देश्य है—अल्पकाल में अधिक से अधिक शास्त्रों का ज्ञान कराना। लेकिन हो यह रहा है कि प्रायः सभी आर्ष पाठविधि चलानेवाली संस्थाएँ राजकीय परीक्षा दिला रही हैं। राजकीय परीक्षा दिलाने से छात्र को व्याकरणाचार्य तक पहुंचते-पहुंचते १२ वर्ष लग जाते हैं। यह सब होने पर भी हमारे विद्यालयों में पाणिनीय व्याकरण का कितना परिज्ञान हो पाता है, यह मैं भली प्रकार जानता हूं। छात्र को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। अतः मेरी दृष्टि में इसका कोई विशेष लाभ नहीं है।

जब तक स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकल्पित आर्ष पठन-पाठन विधि से न्यूनातिन्यून एक वेद का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन और एक विषय का विशेष ज्ञान नहीं होता, वा नहीं कराया जाता, तब तक इससे स्वामी दयानन्द सरस्वती का लक्ष्य किसी प्रकार पूर्ण नहीं हो सकता।

# (२) परोपकारिणी सभा की स्थापना

हमारा विचार है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के हृदय में परोपकारिणी सभा की स्थापना का विचार सन् १८७९ के मध्य में उत्पन्न हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि सन् १८७९ के पूर्वार्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती अत्यधिक रुग्ण हो गए थे। शरीर अत्यन्त निर्बल हो गया था। अतः अपने ग्रन्थों के प्रकाशन और द्रव्य के लेन-देन के सम्बन्ध में कोई निश्चित व्यवस्था करने का विचार उनके मन में उत्पन्न हुआ। उस समय शारीरिक स्थिति इतनी खराब थी कि वे किसी सभा की स्थापना आदि का गुरुतर कार्य कर नहीं सकते थे। अतः उन्होंने ५ जून १८७९ को ठाकुर मुकुन्दसिंह आदि कुछ व्यक्तियों के नाम एक **मुख्त्यारनामा** रजिस्टर्ड करवाया। (द्रष्टव्य—पूर्णसंख्या २१७, प्रथम भाग, पृष्ठ २७१, तृतीय संस्करण)। इन दिनों स्वामीजी अलीगढ़ के अन्तर्गत **छलेसर** कसबे में ठहरे हुए थे। वहाँ से मुख्त्यारनामे की रजिस्ट्री कराने के लिए उन्हें अलीगढ़ आना पड़ा। परन्तु शरीर इतना निर्बल था कि वे स्वयं कचहरी में उपस्थित न हो सके। अतः रजिस्ट्रार ने स्वामीजी के पास अपने आदमी को भेजकर उनका बयान लिया। यह उल्लेख उक्त मुख्त्यारनामे के रजिस्ट्री पत्र के अन्त में ही मिलता है।

आर्यसमाज फर्रुखाबाद ने ५ जून १८८० को एक विज्ञापन प्रकाशित कराया था, जो ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य के १४वें अङ्क के आवरण पृष्ठ ३ पर छपा था। उसमें लिखा था—**"देखिए अकेले स्वामीजी ने गत वर्षों में अति परिश्रम किया कि जिससे महादारुण रोग[1] उनको हुआ कि जिससे शरीर बचना भी असम्भव हो गया।[2]**

---

१. इस दारुण रोग के विषय में स्वामीजी के कई पत्रों में उल्लेख मिलता है; परन्तु जीवनचरितों में इसका साधारण उल्लेख तो है, परन्तु मुख्त्यारनामे का उल्लेख जीवनचरितों में नहीं है।

२. द्र०—स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन; तृतीय परिशिष्ट पृष्ठ ९२० से ९२२; तृतीय संस्करण।

**प्रथम परोपकारिणी सभा की स्थापना**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लगभग १ वर्ष के पश्चात् १६ अगस्त १८८० को मेरठ में प्रथम **स्वीकार पत्र** रजिस्टर्ड करवाया। इसमें सभा का नाम **परोपकारिणी सभा** लिखा हुआ है। इस सभा के १८ सदस्यों के नाम व पते देने के अनन्तर उन १८ धाराओं का उल्लेख है, जिनके अनुसार सभा ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के निधन के पश्चात् कार्य करना है।

प्रथम धारा के तीन विभाग हैं, जिनमें करिष्यमाण कार्यों का उल्लेख है। वे तीन विभाग इस प्रकार हैं—

**प्रथम—वेद और वेदाङ्ग वा सत्य शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने-कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने आदि में।**

**द्वितीय—वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा में अर्थात् उपदेशक मण्डली नियत करके देश-देशान्तर वा द्वीप-द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग कराने आदि में।**

**तृतीय—आर्य्यावर्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों के संरक्षण, पोषण और शिक्षा में व्यय करे और करावे।**

यह प्रथम स्वीकारपत्र पूर्ण रूप से 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' के प्रथम भाग, पूर्ण संख्या ३२८, पृष्ठ ३८२-३८६ तक छपा है।

**द्वितीय बार परोपकारिणी सभा की स्थापना**—कुछ आवश्यक कारणों से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रथम स्वीकार पत्र के लगभग ढाई वर्ष पश्चात् द्वितीय 'स्वीकारपत्र' उदयपुर राज्य की महद् राजसभा में पञ्जीकृत कराया।

इस स्वीकारपत्र में परोपकारिणी सभा के २३ सदस्यों के नाम हैं। केवल सदस्यों के नामों के अतिरिक्त सम्पूर्ण अंश प्रथम स्वीकारपत्र के अनुरूप ही है।

इस स्वीकारपत्र में पञ्जीकृत करने की तिथि **संवत् १९३९ फाल्गुन शुक्ला ५, मङ्गलवार तदनुसार ता० २७ फेब्रुवरी सन् १८८३ ई०** लिखी गई है। इसमें तिथि में भूल से **फाल्गुन कृष्णा** के स्थान में **फाल्गुन शुक्ला**

लिखा गया है। क्योंकि २७ फेब्रुवरी को फाल्गुन कृष्णा ५मी थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समर्थदान के नाम फाल्गुन कृष्णा १० रविवार सं० १९३९ ता० ४ मार्च सन् १८८३ को चित्तौड़गढ़ से जो पत्र लिखा था, उसके आरम्भ में लिखा है—**हम उदयपुर से फाल्गुन वदी ७ गुरुवार के दिन चले** (द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र विज्ञापन, पूर्णसंख्या ६२८, भाग २, पृष्ठ ६५९)। अतः स्पष्ट है कि स्वीकारपत्र में **फाल्गुन कृष्णा ५** के स्थान में **फाल्गुन शुक्ला ५** भूल से लिखा गया है। यह द्वितीय बार उदयपुर में पञ्जीकृत स्वीकारपत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' में पूर्णसंख्या ६२५, भाग २, पृष्ठ ६५३-६५८ तक छपा है।

विशेष कर्त्तव्य की दृष्टि से दोनों स्वीकारपत्रों की प्रथम धारा प्रधान है। इसलिये हम इस पर ही लिखना आवश्यक समझते हैं—

**पहली धारा के प्रथम भाग का महत्त्व**— स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में **'शिक्षा'** से लेकर **चारों वेदों** के अध्ययन-अध्यापन की जिस साङ्गोपाङ्ग आदर्श पठन-पाठन विधि का उल्लेख किया है, उनमें अधिकतर ऐसे आर्षग्रन्थों का निर्देश है, जो उस समय छपे हुए उपलब्ध नहीं होते थे। अतः स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रथम धारा के प्रथम भाग में वेदवेदाङ्गादि शास्त्रों के व्याख्या करने और छपवाने का उल्लेख किया है।

पठन-पाठन विधि में ऐसे अनेक ग्रन्थों का भी निर्देश है, जो उस समय तो क्या सम्प्रति भी हस्तलिखित रूप में सुगमता से उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि उनके अन्वेषण के कार्य का साक्षात् उल्लेख नहीं है; परन्तु इस कार्य का अन्तर्भाव भी इसी में समझ लेना चाहिये। स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनचरितों से स्पष्ट है कि वे जहाँ भी जाते थे, दुर्लभ ग्रन्थों की प्राप्ति के लिए लगातार प्रयत्नशील रहते थे। यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

**परोपकारिणी सभा की एतद्विषयक उदासीनता**—परोपकारिणी सभा ने स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट उक्त कार्य की ओर विगत १०५ वर्षों में कुछ भी विशेष प्रयत्न नहीं किया। केवल मूल 'शतपथ-ब्राह्मण', और 'दश उपनिषदों' का गुटका छपवाया। **छान्दोग्य** और **बृहदारण्यक** उपनिषद् की व्याख्या लिखवाकर प्रकाशित की। चारों वेदों की मूल संहिताएँ भी जिस रूप में प्रथम श्री पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी ने

छपवाई थीं, उन्हीं का अनुमुद्रण[1] कराया। अनेक आर्य व्यक्ति यह समझते हैं कि परोपकारिणी द्वारा छपवाये चारों वेद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छपवाये थे। यह भ्रम है। परोपकारिणी सभा ने तो स्वामी दयानन्द सरस्वती के निधन के १५ वर्ष पश्चात् मूल वेद छपवाये। यह चारों वेदों के मुख पृष्ठ पर दिये गये संवत् से स्पष्ट है।

परोपकारिणी सभा के अधिकारियों में संस्कृतज्ञ विद्वान् का सदा अभाव रहा है। इस कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के शुद्ध संस्करण प्रकाशित नहीं हुऐ। कुछ प्रयत्न अवश्य किया गया, पर वह फलीभूत न हो सका। इतना ही नहीं, जिन ग्रन्थों की प्रेसकापी स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल में नहीं बन सकी, **केवल रफ कापी लिखी गई थी, उन्हें प्रायः उसी रूप में छाप दिया गया।** इस कारण

---

१. अनुमुद्रण इसलिए लिखा है कि श्री पं० गुरुदत्तजी ने जिस रूप में ऋषि, देवता, छन्द और षड्जादि स्वरों के साथ ऋक् यजुः साम की संहिताएँ छापी थीं, उसी का अनुकरण किया गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के भाष्य में जिस मन्त्र को कई भागों में बाँटकर देवता छन्द और स्वरों का निर्देश प्रतीक-निर्देशपूर्वक किया है, उनका देवता छन्द और स्वर की सूची में संक्षेप से निर्देश करने के लिए मन्त्र की उन प्रतीकों पर आरम्भ में 'क' 'उ' 'र' अक्षरों का संकेत करके उन्हीं का निर्देश प्रत्यध्याय आरम्भ में निर्दिष्ट ऋषि देवता छन्द स्वर आदि में किया है। किसी को यह शङ्का हो सकती है कि 'क, उ, र' का ही क्यों निर्देश किया है? क्या इसमें कोई रहस्य है? वस्तुतः इसमें कोई रहस्य नहीं है। साम-वेद में मन्त्र के उपर १-२-३ संख्याओं के साथ 'क उ र' अक्षरों का संकेत भी मिलता है। इन तीन अक्षरों को छोटे रूप में मन्त्र की शीर्ष लाइन के ऊपर छापने योग्य टाइप पं० गुरुदत्तजी के पास विद्यमान था। अतः उन्हीं का प्रयोग उन्होंने यजुर्वेद में तत्तत् मन्त्रप्रतीकों के ऊपर किया है। इतना ही नहीं, श्री पं० गुरुदत्तजी ने ऋग्वेद के जिस भाग का भाष्य स्वा० द० स० नहीं कर पाये, उस पर तथा सामवेद में स्वा० द० स० के मन्तव्य के अनुसार छन्द और षड्जादि स्वरों का निर्देश भी किया। अथर्ववेद के ऋषि देवता छन्दनिर्देशक ग्रन्थ के उस समय उप-लब्ध न होने से अथर्ववेद में इनका निर्देश नहीं किया। परोपकारिणी सभा द्वारा अथर्ववेद में इनका निर्देश नहीं है। हमने षष्ठ संस्करण में अथर्ववेदीय 'बृहत्सर्वानु-क्रमणी' के अनुसार प्रथम वार ऋषि आदि का निर्देश किया है।

विभिन्न ग्रन्थों के उन भागों में जो रफ कापी के आधार पर छपे हैं, अशुद्धियाँ अधिक उपलब्ध होती हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के निधन के समय उनके ग्रन्थों की जो हस्तलिखित प्रतियाँ थीं, तथा जो उनके संग्रह में मुद्रित ग्रन्थ थे, वे प्रायः किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित रहे[1]। परोपकारिणी सभा की पुरानी रिपोर्टों में इनकी सूची उपलब्ध होती है। सन् १९३५ के अन्त में पूज्य गुरुवर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने लगभग डेढ़ मास लगाकर समस्त हस्तलिखित प्रतियों को व्यवस्थित किया था। उस समय मैं तथा मेरे गुरुभाई पं० धर्मदेवजी भी उनके साथ रहे। इसी अवसर पर पूज्य गुरुवर ने प्रत्येक ग्रन्थ की प्रत्येक हस्तलिखित कापी का आधुनिक सूचीपत्र-निर्माण-प्रक्रिया[2] के अनुसार विस्तृत विवरण भी अपनी कापी में लिखा था। उन में तथा परोपकारिणी सभा की पुरानी कार्यवाहियों में जो सक्षिप्त सूचियाँ छपी थीं, उन सबका संग्रह मैंने अपने **"ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास"** पुस्तक में परिशिष्ट भाग में प्रकाशित कर दिया है। इससे इतना प्रमाणित हो जाता है कि सन् १९३५ के अन्त तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के किस-किस ग्रन्थ के कितने-कितने हस्तलेख विद्यमान थे और किस अवस्था में थे।

यह सचाई भी स्वीकार करनी पड़ती है कि श्री दीवान बहादुर हरविलासजी सारडा के अत्यन्त जागरूक रहने के कारण उनके सुदीर्घ मन्त्रित्वकाल में चाहे स्वामीजी के ग्रन्थों के शुद्ध संस्करण नहीं निकले, परन्तु उनमें कुछ मुद्रणादि दोषों के कारण हुई अशुद्धियों के अतिरिक्त ग्रन्थों में कुछ भी मौखिक परिवर्तन नहीं हुआ। वे दयानन्द के अत्यन्त भक्त थे, अतः किसी पण्डित पर विश्वास नहीं करते थे। उनके निधन के पश्चात् इस दिशा में कुछ ढील आई।

सत्यार्थप्रकाश का ३४वाँ संस्करण शुद्धरूप में छपवाने के लिए परोपकारिणी सभा ने श्री धर्मसिंहजी कोठारी को दोनों हस्तलेखों के पाठभेद संगृहीत करने के लिए नियत किया और **संशोधन के लिए श्री पण्डित भगवद्दत्तजी और गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु को नियत किया।**

---

१. गत कुछ वर्षों में कुछ हस्तलेख नष्ट हुए हैं।

२. प्रति पुस्तक प्रतियों का संख्या; प्रत्येक प्रति की पृष्ठ संख्या, प्रति पृष्ठ पंक्तियों की संख्या, प्रति पंक्ति अक्षरों की संख्या, अन्त में विशेष विवरण।

कई वर्षों के प्रयत्न से सत्यार्थप्रकाश का ३४वाँ शुद्धतम संस्करण छपा। परन्तु श्री कोठारीजी ने तेरहवें समुल्लास में जहाँ व्यक्तिविशेषों के नाम आये हैं, उनके स्पेलिङ्ग रोमन अक्षरों में ब्रैकेट में वहीं छपवा दिये। कार्य अच्छा था, परन्तु उन्हें ग्रन्थ का अङ्ग न बनाकर नीचे टिप्पणी में दिया जाना चाहिये था।

**सत्यार्थप्रकाश के सन् १९९१ के संस्करण में परिवर्तन**—सत्यार्थ-प्रकाश का सन् १९९१ का जो ३७वाँ संस्करण छपा है, उसमें तथा पुराने छपे ३६ संस्करण के पाठों में भारी अन्तर है। यह संस्करण सत्यार्थ-प्रकाश के लिखे जाने एवं उसके मुद्रण का जो इतिहास है, उस पर कुछ भी विचार न करके प्रथम पाण्डुलिपि (रफ कापी) को ही **मूल प्रति** मान कर और मुद्रणार्थ तैयार की हुई कापी को **प्रतिलिपि करनेवाले व्यक्ति द्वारा घटाई-बढ़ाई गई प्रति मानकर अमान्य घोषित कर दिया है।** यद्यपि इस द्वितीय कापी को भी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अक्षरशः पढ़ा तथा संशोधित किया है और इसके अनुसार उनके जीवनकाल में ३६५ पृष्ठ छप चुके थे। इस दृष्टि से रफ कापी से प्रेस कापी में जो अन्तर है, वह स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा किया गया था, ऐसा मानना ही युक्तिसङ्गत है। अतः उसे अमान्य घोषित करना नितान्त गर्हित है। साथ ही सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण के मुद्रणकाल में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक समर्थदान को यथास्थान टिप्पणियाँ देने और भाषा के संशोधन के लिये अधिकार दिये गए थे।[1] सभा के अधिकारियों ने उनके इस अधिकार के सदुपयोग को भी आँखों से ओझल कर दिया। इस प्रसङ्ग में इतना अंश सत्य है कि प्रेस कापी के लेखक के प्रमाद और दृष्टिदोष से जो अशुद्धियाँ हो गईं या वाक्यादि छूट गये हैं, उन्हें रफ कापी से पूरा करना उचित है।

**तथाकथित सम्पादक ने १०५ वर्ष पश्चात् जो कार्य किया है, उसने**

---

१. टिप्पणियाँ देने का अधिकार—द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन भाग २, पृष्ठ ६१२ तथा पृष्ठ ६१७। भाषा-संशोधन का अधिकार—वही, भाग २, पृष्ठ ६२० तथा वही, भाग २, पृष्ठ ७६४। इस विषय के पूरे उद्धरण परि-शिष्ट में छापे जा रहे **'परोपकारिणी सभा द्वारा १०५ वर्षों के पश्चात् सत्यार्थ-प्रकाश में अवाञ्छनीय परिवर्तन'** शीर्षक लेख में देखें, यहाँ विस्तारभय से संकेत-मात्र किया है।

उसके गुण-दोष पर भी सर्वाङ्गीण विचार नहीं किया। इसका फल यह हुआ कि सभा द्वारा १०५ वर्षों में पूर्व प्रकाशित ३६ संस्करण और उनके आधार पर अन्य संस्थाओं द्वारा प्रकाशित सभी संस्करण अमान्य घोषित हो चुके और इनके देशी-विदेशी भाषाओं में बड़े प्रयत्नपूर्वक जो अनुवाद कराये वा छपवाये गये, वे भी निष्फल हो गये। स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती के सत्यार्थप्रकाश के मुद्रणकाल में इस सम्बन्ध में लिखे पत्रों की गति भी चिन्तनीय हो गई। अर्थात् दयानन्द के प्रति अपने को अतिनिष्ठावान् घोषित करनेहारों ने दयानन्द द्वारा लिखाये गये पत्रों को भी अमान्य घोषित कर दिया। यह सब दोष इतिहास का सदुपयोग न करने के कारण हुआ। इतिहास ऐसी सूक्ष्म विद्या है कि वह गर्भगृह के अँधेरे में पड़ी वस्तु को भी हस्तामलकवत् प्रकाशित कर देती है। इसीलिये भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने लिखा है।

**इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।**
**लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम्॥**

—महाभारत, आदिपर्व, १।८७

इतना ही नहीं, तथाकथित सम्पादक महोदय ने अपनी प्रतिज्ञा का भी परिपालन नहीं किया। इसका हम एक उदाहरण देते हैं—

द्वितीय समुल्लास में "**अभिमानं श्रियं हन्ति**" श्लोक के आगे उनकी मूलकापी में पाठ है—**यह मनुस्मृति का वचन है**। सम्पादक ने इस श्लोक के मनुस्मृति में उपलब्ध न होने से पाठ छापा है—**यह किसी कवि का वचन है**। स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में ऐसे अनेक उद्धरण हैं, जो निर्दिष्ट ग्रन्थों में नहीं मिलते। जब सम्पादक महोदय की प्रतिज्ञा है कि "**हम मूल प्रति का पाठ छाप रहे हैं**" ऐसी स्थिति में मूलकापी में पठित "मनुस्मृति" शब्द हटाकर "किसी कवि" पाठ क्यों छापा? क्या यह **प्रतिज्ञाहानि दोष और पाठकों को धोखा देना नहीं है**? यह तो एक उदाहरण है। सम्पादक महोदय ने मूलप्रति के पाठ न जाने कितने स्थानों पर बदले होंगे।

**दोनों कापियों में अलिखित पाठ छापना**—मूलकापी (रफकापी) की प्रामाणिकता की झूठी रट लगानेवाले श्री पं० दैवकरणिजी ने ऐसे पाठ छापे हैं, जो मूलकापी तो दूर रही, मुद्रण कापी में भी नहीं हैं। उनमें एक पाठ है—ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में छपी **आर्यावर्तदेशीय राजवंशावली** और तत्संबद्ध पूर्व १०-११ पंक्तियाँ।

इसकी स्थिति यह है कि ग्यारहवें समुल्लास की पूरी संशोधित कापी प्रेस में भेज देने के कुछ समय पश्चात् आर्यराजवंशावली के पत्रे जोड़े गये। इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आश्विन बदी १, संवत् १९४० (१७ सितम्बर १८८३) को समर्थदान के नाम जो पत्र लिखा, उससे यह स्पष्ट है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि आर्यराजवंशावली के पत्रे पहले समर्थदान ने स्वामी दयानन्द सरस्वती को भेजे थे, (द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ७८६-७८७, तृ० सं०)।

इसी प्रकार १४वें समुल्लास की प्रेसकापी भी "**यह थोड़ा-सा कुरान के विषय में लिखा। इसको बुद्धिमान्.....उसको शुद्ध कर लेवें**" सन्दर्भ पर समाप्त कर दी गई थी। रफकापी (पं० दैवकरणिजी की मूलकापी) में उक्त पाठ के पश्चात् "**इसके आगे स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश संक्षेप से लिखा जायेगा**" लिखने के अनन्तर **इति चतुर्दशः समुल्लासः सम्पूर्णः** पाठ है। **हमने इस प्रसङ्ग के लिए दोनों कापियों के पाठ देखे हैं** (द्र०—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ४५, द्वि० सं०)।

**अल्लोपनिषद् की समीक्षा का अंश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने श्रावण शुक्ला ६, संवत् १९४० के "भारतमित्र" पत्र में अल्लोपनिषद् संबन्धी लेख देखकर उसकी समीक्षा करनी आवश्यक समझी और उसे पृथक् पृष्ठ पर लिखकर "**स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश**" से पूर्व लगाया (द्र०—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ४५, द्वितीय सं०)।

अब विचारना चाहिए कि श्री पं० दैवकरणिजी की **मूलकापी** में ये दोनों प्रसङ्ग यथास्थान लिखित थे ही नहीं, तो इन्हें उन्होंने क्यों जोड़ा? यदि इनके विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र प्रमाण हैं, तो द्वितीय संस्करण के मुद्रण समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मुंशी समर्थदान को टिप्पणियाँ लिखने और भाषा शोधने का अधिकार जिन पत्रों में दिया है, वे प्रमाण क्यों नहीं? यह अर्धजरतीय न्याय अथवा "मीठा (=स्व अनुकूल) गपगप और कड़वा (=स्वयं अस्वीकृत) थू थू" व्यवहार्य नहीं होता।

सत्यार्थप्रकाश में दो स्थानों पर यजुर्वेद १६।१७ का पाठ (नये संस्करण में पृष्ठ २३८ तथा २८६ में) छापा है—**मावधीः पितरं मोत मातरम्**।

यहाँ **मावधीः** मिलाकर छापा है और पृष्ठ २८६ में **मा वधीः** को पृथक्-पृथक्। दोनों स्थानों पर **मा वधीः** पदों पर स्वरचिह्न नहीं हैं, शेष भाग पर हैं। यजुर्वेद में पाठ है—**मा नो वधीः**। यहाँ **"मा"** उदात्त होने से स्वरचिह्न रहित है, **"वधीः"** एकश्रुति होने से। यह मूलपाठ में **"नो"** के स्वरित होने से स्पष्ट है। क्या स्वामी दयानन्द सरस्वती को मूलपाठ **"नो"** पद रहित ही इष्ट था, या लेखक-प्रमाद से छूट गया? यदि सम्पादक को स्वरप्रक्रिया आती है तो बतायें कि **मा वधीः** स्वररहित कैसे हो सकते हैं? सम्पादक पूर्वनिर्दिष्ट मूलकापी के **"मनुस्मृति का"** पाठ मनु में उपलब्ध न होने से दयानन्द पर दोष न आवे इसलिये मूल-कापी में विद्यमान 'मनुस्मृति पद' हटा सकते हैं, पर यहाँ लेखक-प्रमाद से छूटा मन्त्र का **"नो"** पद बढ़ा नहीं सकते? जिसके न होने से जहाँ स्वर-दोष होता है, वहाँ मन्त्रपाठ भी अशुद्ध हो जाता है। बलिहारी है, सम्पादक के ऊलजलूल निर्णय लेने की! ऐसे इस संस्करण में अनेक दोष हैं। हमने रामलाल कपूर ट्रस्ट से मुद्रित शताब्दी संस्करण में ऐसे सभी दोष दूर कर दिये हैं। यदि हमें दोनों लिखित रफकापी और मुद्रणकापी उपलब्ध होती तो हम सत्यार्थप्रकाश का और उत्तम संस्करण निकाल सकते थे। हमें श्री धर्मसिंहजी कोठारी के शुद्ध संस्करण[1] पर निर्भर रहना पड़ा।

मेरे "वेदवाणी" के फरवरी १९९२ के अङ्क में छपे लेख के अनन्तर श्री पं० दैवकरणिजी ने अपने २ पृष्ठ के वक्तव्य एवं ७ पृष्ठों में उनकी मूलकापी और पूर्वमुद्रित पाठ के १७ स्थल (कुल ९ पृष्ठ) साइक्लो-स्टाइल मशीन से छापकर वेदवाणी में प्रकाशनार्थ भेजे थे। श्री पं० दैवकरणिजी ने जो १७ पाठ तुलनात्मक रूप में छापे हैं, उनको सूक्ष्म-विचारपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी मान्यता के अनुरूप मूलकापी के लिखनेवाले स्वामी दयानन्द सरस्वती से परिवर्तन-परिवर्धन करके प्रतिलिपि करनेवाला लेखक अधिक योग्य था। हम इस विषय की मीमांसा करने के लिए १७ पाठों में से चार पाठों पर नीचे विचार करते हैं—

---

१. यह ३४वाँ संस्करण तब तक छपे संस्करणों में सबसे शुद्ध है। और श्री पं० भगवद्दत्तजी तथा श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु द्वारा प्रायः निर्धारित पाठ से युक्त है।

**महर्षि दयानन्द द्वारा लिखाया गया पाठ**

**(क भाग)**

**१. शुनां च पतितानां**.....श्लोक का अर्थ—

एक कुत्ते, दूसरे पापी, तीसरा चाण्डाल, चौथा पाप रोगी, पाँचवें कौवे, छठे कृमि का भाग धरके कुत्ते आदि का देवे और उन पन्द्रह भागों को किसी अतिथि को देवे अथवा जो उस समय अतिथि उपस्थित न हो तो अग्नि में रख देवे। यह मनुस्मृति आदि का विधि है। और भोजन के घर का वायु शुद्ध और जो उसमें अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार होता है। (मूलप्रति पृष्ठ १३६ समु० ४)

**प्रतिलिपिकर्ता द्वारा परिवर्तित पाठ**

**(ख भाग)**

**१. शुनां च पतितानां**.....श्लोक का अर्थ—

इस प्रकार श्वभ्यो नमः पतितेभ्यो नमः, श्वपरभ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः, धरकर, पश्चात् किसी दुःखी, बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे देवे। यहाँ "नमः" शब्द का अर्थ अन्न अर्थात् कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना। यह मनुस्मृति आदि की विधि है। हवन करने का प्रयोजन यह है कि पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना और जो अज्ञात अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना।

इस उद्धरण पर विचार करने के लिए **शुनां च पतितानां च** इत्यादि पाठ से पूर्व छपे पाठ पर ध्यान देना आवश्यक है। सत्यार्थप्रकाश में इससे पूर्व बलि के **ओं सानुगायेन्द्राय नमः** आदि मन्त्रों के अन्त में मूलकापी का पाठ है—

**एक-एक मन्त्र से पन्द्रह भाग धरना, फिर लवणान्न को भूमि में रखना।**

पूर्व मुद्रित पाठ है—"**इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उनको जिमा देवे अथवा अग्नि में छोड़ देवे। इसके अनन्तर लवणान्न दाल भात शाक रोटी आदि लेकर छह भाग भूमि में धरे इसमें प्रमाण**———" इस प्रकार पाठ है। इसके अनन्तर मनुस्मृति के वचन के आधार पर

**श्वभ्यो नमः** इत्यादि ऊहित मन्त्र पठित हैं। भाग धरने के समय जैसे पूर्व मनुस्मृति के आधार पर ऊहित मन्त्रों से भाग धरे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी मन्त्रपाठ आवश्यक है। अतः यह बढ़ाया पाठ युक्तियुक्त है। अन्यथा मौनरूप से भाग धरने पड़ेंगे। जो मनुस्मृति आदि समस्त धर्मशास्त्रों के विपरीत है। यतः **श्वभ्यो नमः** आदि मन्त्रों में "नमः" शब्द पठित है अतः उसके स्पष्टीकरण के लिए **"यहाँ नमः शब्द का अर्थ अन्न है"** पाठ भी आवश्यक है।

ऊपर उद्धृत मूलकापी के पाठ में कुत्ते आदि के भागों को देने के पश्चात् पाठ है—**"और उन पन्द्रह भागों को किसी अतिथि को दे देवे। अथवा उस समय अतिथि उपस्थित न हो तो अग्नि में रख देवे।"** इस पाठ का सम्बन्ध **"ओं सानुगायेन्द्राय नमः"** आदि से निकाले गये भागों साथ है। रफ कापी जिसे सम्पादकजी प्रामाणिक मानते हैं, में यह पाठ कुत्ते आदि के लिये निकाले गये छह भागों के प्रकरण में पढ़ा है, जो निश्चय ही अस्थान में है। प्रेस कापी में इस पाठ को यथास्थान पढ़ा है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि **"ओं सानुगायेन्द्राय नमः"** आदि मन्त्र मनुस्मृति के जिन वचनों पर आधृत हैं (८७-९१) उनमें १६ भाग निकालने का उल्लेख है। सत्यार्थप्रकाश की दोनों कापियों में ९१वें श्लोक में पठित **पितृदेवताक भाग** का **पितृभ्यो स्वधायिभ्यो स्वधा नमः** मन्त्र छूट गया है। परन्तु यह पञ्चमहायज्ञविधि के दोनों संस्करणों (सं० १९३१, १९३४), ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा संस्कारविधि में विद्यमान है। मूलकापी (रफकापी) में "पन्द्रह" संख्या का निर्देश होने पर मनुस्मृति में पठित १६वें मन्त्र का त्याग करना पड़ेगा, जो स्वामीजी के अन्य ग्रन्थों में है। प्रेसकापी में "पन्द्रह" संख्या का निर्देश न होने से स्वामी दयानन्द सरस्वती के अन्य ग्रन्थों के आधार पर यहाँ लेखक-प्रमाद से छूटा हुआ मानकर पूर्ति की जा सकती है।[1] सम्पादन कार्य में मक्खी पर मक्खी मारने से काम नहीं चलता। उसमें ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थों का भी सहारा लेना पड़ता है।

---

१. द्र०—रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश का शताब्दी संस्करण।

७.[1] **प्रश्न**—ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं?

**उत्तर**—है। परन्तु सर्वशक्तिमान् शब्द का इतना ही अर्थ है कि ईश्वर को अपने काम करने में दूसरे के सामर्थ्य का सहाय नहीं लेना पड़ता, किन्तु स्वसामर्थ्य ही से सब अपना काम पूरा कर लेता है।

**प्रश्न**—हम तो ऐसा जानते हैं कि ईश्वर जो चाहे सो करे। (पृष्ठ २४९, मूलप्रति, सप्तम समुल्लास)।

७. **प्रश्न**—ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं?

**उत्तर**—है। परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जानते हो वैसा नहीं। किन्तु सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, **पालन**, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किञ्चित् भी किसी की सहायता नहीं लेता। अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।

**प्रश्न**—हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर जो चाहे सो करे, क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है। (**विशेष**—इस सन्दर्भ में महर्षि को ठीक संगति लगाने के लिए "**पालन**" शब्द अपने हाथ से लिखना पड़ा है। इसलिए मूलपाठ में इसको हम नहीं रख सके। ईश्वर को अपने **पालन आदि** काम—ऐसा वाक्य बनाते तो हमें **आदि** पद अपनी ओर से जोड़ना पड़ता, इसलिए "**पालन**" शब्द भी छोड़ना पड़ा है।)

इन दोनों पाठों में यह भेद है कि मूल (रफ) कापी में "**ईश्वर को अपने काम करने में दूसरे के सामर्थ्य का सहाय नहीं लेना पड़ता**" पाठ है। इस पाठ से उसके कौन-से ऐसे काम हैं, जिनमें उसे दूसरे की सामर्थ्य

---

२. यह संख्या दैवकरणिजी के लेख के पाठानुसार है। आगे भी ऐसा ही समझें।

का सहाय नहीं लेना पड़ता—यह नहीं कहा है। द्वितीय कापी का पाठ है—"ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति पालन प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किञ्चित् भी किसी की सहायता नहीं लेता।" इस पाठ में स्वसामर्थ्यमात्र से करने वाले कामों का "अर्थात्" शब्द का निर्देश करके व्याख्यान किया है। इससे स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाव सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह पृष्ठ, जिसमें उक्त पाठ है, सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ा था। अतएव लेखक द्वारा केवल **"उत्पत्ति प्रलयादि"** का निर्देश होने पर उसके अधूरेपन को दूर करने के लिए स्वहस्त से **"पालन"** शब्द बढ़ाया है। इस स्थिति में यह पाठ त्याज्य कैसे हो गया ?

"विशेष" का निर्देश करके जो टिप्पणी दी गयी है, उससे तो प्रतीत होता है कि सम्पादकजी को भाषासंरचना का भी यथावत् बोध नहीं। "उत्पत्ति" और "प्रलयादि" के मध्य "पालन" शब्द बढ़ाने से वाक्य में कहीं कुछ दोष नहीं। परन्तु सम्पादक महोदय लिखते हैं—**"ईश्वर को अपने पालनादि काम" ऐसा वाक्य बनाते। ऐसा वाक्य बनाने पर हमें 'आदि' पद अपनी ओर से जोड़ना पड़ता है। इसलिए पालन शब्द भी छोड़ना पड़ा है।** यह है सम्पादकजी के भाषाज्ञान का नमूना। स्वामी दयानन्द सरस्वती का वाक्य निर्दोष है; परन्तु सम्पादक महोदय ने अपने कार्य की युक्तता सिद्ध करने के लिए स्वयं अशुद्ध वाक्य संरचना करके स्वदोष को छिपाने की चेष्टा की। लेखक को मध्यपठित "पालन" के आगे आदि शब्द बढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं थी, वह प्रलय के अन्त में विद्यमान है ही।

१५. महर्षि दयानन्दजी ने ११वें समुल्लास में मूर्तिपूजा के १५ दोष लिखवाये थे। (मूलप्रति, पृष्ठ ४४४)।

१५. यहाँ प्रतिलिपिकर्त्ता ने अपनी ओर से सोलहवाँ दोष बढ़ाकर लिख दिया जबकि पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ दोनों दोष एक से ही हैं। आश्चर्य है किसी भी टिप्पणीकार ने इनकी ओर कभी ध्यान नहीं दिया, जबकि अनेक निरर्थक स्थानों पर टिप्पणियों की भरमार की हुई है।

हमें सम्पादकजी की बुद्धि को दाद देनी चाहिए कि १५वें और १६वें

दोष में भेद होने पर भी उन्हें भेद प्रतीत नहीं हुआ। इसका कारण उनका पूर्वाग्रह ही है। हम प्रेसकापी से छपे सत्यार्थप्रकाश से दोनों दोष क्रमशः उद्धृत करते हैं—

**पन्द्रहवाँ**—परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिए बनाये हैं। उनको पुजारीजी तोड़ताड़कर न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश में चढ़कर वायु जल की शुद्धि [करती, और] पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता है, उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं। पुष्पादि कीच के साथ मिलकर सड़कर उल्टा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढ़ाने के लिए पुष्पादि सुगन्धियुक्त पदार्थ रचे हैं।

**सोलहवाँ**—पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प चन्दन और अक्षत आदि सबका जल और मृत्तिका के संयोग होने से मोरी वा कुण्ड में आकर सड़के इतना उससे दुर्गन्ध आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का। और सहस्रों जीव उसमें पड़ते, उसी में मरते [और] सड़ते हैं।

अब पाठक स्वयं विचार करें कि दोनों दोषों में भेद है वा नहीं। [३७वें नये संस्करण में १५वें दोष में साधारण पाठभेद है।]

१५वें दोष में सुगंधित पुष्पादि को असमय में तोड़ने से होनेवाली हानियों का वर्णन प्रमुखता से किया है। १६वें में यद्यपि पुष्प का निर्देश है, परन्तु वहाँ प्रधानता अक्षत (अन्न) की है। इसीलिए उसकी दुर्गन्धि के लिए **मनुष्य के मल** की उपमा दी है। मूर्ति पर केवल पुष्प ही नहीं चढ़ाये जाते, विविध प्रकार के अन्न वा उनके पकवान भी चढ़ाये जाते हैं।

१५वें दोष के नीचे लिखा है—

> जैनियों से मूर्तिपूजा चली है इत्यादि प्रकरण के पूरे दो पृष्ठों में प्रतिलिपिकर्त्ता ने खुले रूप में मिलावट की है। वह इतनी बड़ी है कि इस लेख में नहीं दी जा सकती।

यहाँ सम्पादक ने यह नहीं लिखा कि यह मिलावट किस प्रकरण के आगे की है। हमने आगे-पीछे ढूँढने का प्रयत्न किया, परन्तु हमें यह **मिलावट और ३७वें संस्करण में मिलावट रहित पाठ** नहीं मिला।

**"मूर्तिपूजा जैनियों से चली"** इसका निर्देश ३७वें संस्करण के पृष्ठ २७८ और २९५ पर है; परन्तु दोनों स्थानों में नये पुराने संस्करणों के प्रकरण समान हैं।

१७. भला ! विचार करना चाहिए कि स्त्री से अश्व के उपस्थग्रहण आदि लीला और मांस का खाना आदि टीकाकारों की धूर्तता है, वेद की नहीं। सिवाय वाममार्गी लोगों के अन्य भ्रष्ट वेदार्थ से विपरीत अशुद्ध व्याख्यान कौन करता·····।

—मूलप्रति, पृष्ठ ५६७, १२वाँ समुल्लास

१७. इस छह पंक्ति के सन्दर्भ के स्थान पर ३२ पंक्तियाँ प्रक्षिप्त की गई हैं। इसके आदि का प्रकरण इस प्रकार है—

भला विचारना चाहिए कि स्त्री से अश्व के लिङ्ग का ग्रहण कराके उससे समागम कराना और यजमान की कन्या से हँसी-ठट्टा आदि करना सिवाय वाममार्गी लोगों से अन्य मनुष्यों का काम नहीं है। बिना इन महापापी वाममार्गियों के भ्रष्ट वेदार्थ से विपरीत अशुद्ध व्याख्यान कौन करता ? अत्यन्त शोक तो इन चारवाक आदि पर है·····।

सम्पादक ने "परिवर्तित पाठ" के खाने में आरम्भ में ही लिखा है—**इस छह पंक्ति के सन्दर्भ के स्थान पर ३२ पंक्तियाँ प्रक्षिप्त की गई हैं।**

इस १७वें उद्धरण के आदि के जो हस्तलेखों के पाठ उद्धृत किये हैं, उनमें शब्दभेद होने पर भी मूल अभिप्राय में कुछ अन्तर नहीं है। हाँ, जो पंक्तियाँ पुराने संस्करणों में अधिक हैं, वे अप्रासंगिक नहीं हैं। इनमें चारवाक, बौद्ध और जैनमत में जो समता तथा विषमता है, उसका निर्देश किया है, जिससे अगले बौद्ध और जैनमत को समझने में सुगमता होती है।

यदि श्री पं० दैवकरणिजी की प्रतिज्ञा तथा तुलनात्मक पाठों पर विचार किया जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि मूल कापी के लेखक स्वामी दयानन्द सरस्वती से प्रतिलिपिकर्त्ता अधिक विद्वान् और चतुर था। उसने स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यानुकूल ही परिवर्तन वा परिवर्धन (दैवकरणिजी के शब्दों में "प्रक्षेप" !) किया, जिससे उस

कापी को अक्षरशः पढ़ते हुए भी स्वामी दयानन्द सरस्वती को स्वविचारों के विपरीत कुछ नहीं मिला।

**विशेष**—प्रायः ग्रन्थलेखक प्रथम जो लिखता या लिखवाता है, उसे वह दूसरी बार लिखते वा लिखाते समय पूर्व लेख में कुछ-न-कुछ न्यूनाधिकता करता है। कहीं-कहीं वाक्यविन्यास में भिन्नता करता है। **यह एक सार्वभौम सत्य है**। इसीलिए प्रथम कापी को पाण्डुलिपि या रफ कापी कहा जाता है। दूसरी बार जो कापी तैयार की जाती है, वह छपने के लिए भेजी जाती है। प्रथम कापी को पाण्डुलिपि इसलिए कहा जाता है कि पुराने समय में चित्रादि बनाने के लिए पाण्डु मिट्टी अथवा खड़िया से बनाये जानेवाले चित्र की रूपरेखाएँ खींची जाती थीं। उसी प्रकार रफ कापी मुद्रयमाण कापी का पूर्वरूप होने से पाण्डुलिपि कहा जाता है। विद्वानों के घरों में तथा पुस्तकालयों में जो हस्तलेख संगृहीत हैं, उन्हें पाण्डुलिपि नहीं कहा जाता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के जो हस्तलेख परोपकारिणी सभा में सुरक्षित हैं, उनकी प्रायः दो-दो प्रतियाँ हैं। वेदभाष्य मूलरूप में संस्कृत में लिखाया था। उसकी प्रथम कापी के प्रारम्भिक कुछ भाग में इतना संशोधन किया गया है कि उसे मूल छपने योग्य प्रामाणिक प्रति मान ही नहीं सकते। ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भिक कुछ सूक्तों की तीन कापियाँ हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की छः कापियाँ हैं, जो उत्तरोत्तर परिवर्धित और संशोधित हैं। क्या इनमें जो सर्वत्र संशोधन-परिवर्धन किये गये हैं, वे सब लिपिकर्त्ता के हैं? केवल प्रथम कापी ही स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा बोलकर लिखवाई गई थी? जैसा कि श्री पं० दैवकरणिजी ने सत्यार्थप्रकाश में मानकर प्रेसकापी और उसके आधार पर मुद्रित ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानकर अमान्य स्वीकार करके प्रथम रफकापी को प्रामाणिक मानकर १०५ वर्ष पश्चात् सत्यार्थप्रकाश को बदल दिया। क्या वे अपने इस स्वोपज्ञात नियम को अन्य ग्रन्थों में चरितार्थ कर सकेंगे? ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की छह कापियों में से यदि प्रथम कापी को प्रमाण मानकर छापा जाये तो यह अत्यन्त संक्षिप्त एवं अधूरी होगी।

वास्तविकता तो यह है कि श्री दैवकरणिजी को चाहिए था कि सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में अपना मत निर्धारित करने से पहले सब ग्रन्थों के हस्तलेखों की विभिन्न कापियों का तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययन

करते, तब सर्वत्र समानरूप से जो नियम घट सके, उसे निर्धारित करते। स्वामी दयानन्द सरस्वती के समस्त ग्रन्थों से परिचय दो ही विद्वान् रखते थे। एक थे श्री पं० भगवद्दत्तजी (लाहौर वाले), दूसरे श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु। श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने सन् १९३१ के अन्त में तथा सन् १९३५ के अन्त में परोपकारिणी सभा के कार्यालय में डेढ़ मास बैठकर सब ग्रन्थों की विभिन्न प्रतियों को व्यवस्थित किया था। उस समय मैं भी उनके साथ उपस्थित था। अतएव मुझे भी स्वामी दयानन्द सरस्वती के समस्त हस्तलेखों की वास्तविक परिस्थिति का परिज्ञान है।

दूसरी वास्तविकता यह है कि जिस व्यक्ति ने गम्भीर विषयों पर २-३ ग्रन्थ न लिखे हों, वह पाण्डुलिपि और संशोधित कापी के भेद को कभी समझ ही नहीं सकता। इसके साथ ही आधुनिक सम्पादन कला से भी पूर्णतया विज्ञ होना चाहिए। यदि ये विशेषताएँ सम्पादकजी में होतीं या वे इनका प्रयोग करते तो उनके द्वारा जो अनर्थ हुआ है, वह न होता। इस लेख का यह भाव नहीं कि श्री पं० दैवकरणिजी विद्वान् नहीं हैं। मैं उनसे चिरकाल से परिचित हूं,[1] वे अच्छे विद्वान् हैं, अति परिश्रमी है। परन्तु **न सर्वः सर्वं जानाति** या **न सर्वः सर्वत्र समर्थो भवति** नियम भी सत्य है। इसी का फल यह हुआ कि श्री डा० रघुवीरजी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के अष्टाध्यायीभाष्य का जो प्रथम भाग सम्पादित करके छपवाया, उसका हस्तलेख ऐसी रफ कापी था, जिसके कुछ भाग पर पं० भीमसेन के संशोधन के अतिरिक्त समस्त हस्तलेख पर किसी का कोई संशोधन न था। इसी कारण उसमें अनेक स्थानों पर व्याकरणशास्त्र-विषयक भूलें थीं और वे छप गईं। यदि उसके अत्यन्त रफ कापी से सम्पादित ग्रन्थ को देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को व्याकरणशास्त्र का परिज्ञान नहीं था। परन्तु वास्तविकता यह है कि वे अत्यन्त कुशल वैयाकरण थे। समग्र महाभाष्य उन्हें उपस्थित था। (द्र०—पूर्व पृष्ठ ६२-६४, स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का प्रधान आधार महाभाष्य)।

---

१. श्री स्वामी ओमानन्दजी सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश का जो पाठ ताम्रपत्र पर खुदवाया है, उसके पाठ के निश्चय के लिए श्री पं० दैवकरणिजी मेरे पास कई बार आये थे।

किसी भी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व अनेक बार सोचना चाहिए कि क्या मैं इस कार्य को कर सकता हूं? क्या मुझमें इस कार्य के लिए अपेक्षित योग्यता है? जो व्यक्ति इन बातों पर विचार करके किसी कार्य को करता है, तो वह उसमें सफल होता है।

परोपकारिणी सभा जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित की गई थी, उनको पूरा करने में पूर्णतया असफल रही है। केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के यथा-तथा प्रकाशन से तथा अच्छी सम्पत्ति जुटा लेने से उसकी असफलता छिप नहीं सकती। हर एक पाठक को परोपकारिणी सभा के कार्य को स्वीकारपत्र की प्रथम धारा को सम्मुख रखकर उसके विगत १०७ वर्षों के कार्य को देखना चाहिए। सम्प्रति सभा ने सत्यार्थप्रकाश के ३६ संस्करण के पश्चात् जो ३७वाँ संस्करण छापा है, वह क्या स्वयं सभा के द्वारा पूर्वमुद्रित ३६ संस्करणों को अमान्य घोषित करके "जिस डाल पर बैठा है, उसी को काट रहा है।"[1] रूप कहावत को चरितार्थ नहीं करता?

❀❀

१. यह विवाह से पूर्व कालिदास की महामूर्खताद्योतक किंवदन्ती लोक में प्रसिद्ध है।

# स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा
## वैदिक धर्म के प्रचार के लिए
### आर्यसमाज की स्थापना

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कलकत्ता की यात्रा के समय ब्राह्म-समाज एवं प्रार्थनासमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों को देखा तो उनके मन में भी एक ऐसे समाज के संगठन के सम्बन्ध में विचार उत्पन्न हुआ कि उनके अनुयायी भी सप्ताह में एक बार एकत्रित होकर वैदिक धर्म सम्बन्धी चर्चा किया करें, तो परस्पर विचार-विनियम से विशेष लाभ हो सकता है, परन्तु देश में उत्पन्न विविध सम्प्रदायों के इतिहास को देखते हुए उनके मन में एक आशङ्का ने भी जन्म लिया कि यदि कालान्तर में समाज में उचित व्यवस्था न रही, तो कहीं यह समाज भी एक सम्प्रदाय का रूप धारण न कर ले। इसके अनन्तर लगभग डेढ़ वर्ष उनका मन इसी स्थिति में दोलायमान रहा कि किसी संगठन को मूर्त रूप देना चाहिए या नहीं? परन्तु जब स्वामी दयानन्द सरस्वती बम्बई पहुंचे तो वहाँ के भावुक अनुयायियों ने इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती से आर्यसमाज की स्थापना के विषय में बातचीत की। इस विषय में श्री दामोदरदास सुन्दरदास कृत "मुंबई आर्यसमाज नो इतिहास" में पृष्ठ ८ और ९ पर निम्न लेख मिलता है—

"·····**त्यार बाद (शास्त्रार्थ में जीवनजी के पराभव के पश्चात्) एमना निवास स्थान मा एमने माटे मान धरावता मुम्बई ना सम्भावित गृहस्थो ए जाई ने धार्मिक चर्चा करता करतां मुम्बई माँ आर्यसमाज स्थापन करवानी स्वामीजी ने विनंति करी। त्यारे एमणे सर्वने उद्देशी ने स्पष्ट जणावी दीधुं के**" (उसके बाद [शास्त्रार्थ में जीवनजी के पराजय के पश्चात्] इनके निवासस्थान पर इनके प्रति सम्मान रखनेवाले बम्बई के सम्भ्रान्त गृहस्थों ने जाकर धार्मिक चर्चा करते-करते बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना की स्वामीजी से प्रार्थना की)।

इस पर उन्होंने सबको उद्देश करके स्पष्ट बता दिया कि—

"भाई हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं, मैं तो वेद के अधीन हूं और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं। कई-कई बात में किसी-किसी में कुच्छ-कुच्छ भेद है, सो विचार करने से आप ही छूट जायगा। मैं संन्यासी हूं, और मेरा कर्त्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूं, इसके बदले जो सत्य समझता हूं, उसका निर्भयता से उपदेश करता हूं। मैं कुछ कीर्ति का रागी नहीं हूं। चाहे कोई मेरी स्तुति करे, वा नींदा करे, मैं अपना कर्त्तव्य समझ के धर्मबोध कराता हूं, कोई चाहे माने वा न माने इसमें मेरी कोई हानि लाभ नहीं है।[1]

त्यारे एक भाई ए कह्युं के, अमे जो समाज स्थापना करीए, तो एमां कोई सार्वजनिक नुकसान छे? ते नो जवाब स्वामीजीए दीधो के (एक भाई ने कहा कि हम जो समाज स्थापित करें, तो इसमें कोई सार्वजनिक नुकसान है? इसका जवाब स्वामीजी ने दिया कि)—

आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, समाज कर लो इसमें मेरी कोई मनाई नहीं। परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे गड़बड़ाध्याय हो जायगा। मैं तो मात्र जैसा अन्य को उपदेश करता हूं, वैसा ही आपको भी करूँगा और इतना लक्ष में रखना कि कोई स्वतन्त्र मेरा मत नहीं है। और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूं। इससे यदि कोई मेरी भी गलती आगे पाई जाय, युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसको भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एक मत हो जायेगा, और इसी प्रकार से 'बाबावाक्यं प्रमाणं' करके इस भारत में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित होके, भीतर-भीतर दुराग्रह रखके धर्मान्ध होके लड़के नाना प्रकार की सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। इसमें यह भी एक मत बढ़ेगा। मेरा अभिप्राय तो है की ईस भारतवर्ष में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं, वो भी वे सब वेदों को मानते हैं, ईस से वेदशास्त्ररूपी समुद्र में यह सब नदी नाव पुनः मिला देने से धर्म ऐक्यता होगी। और धर्म ऐक्यता से संसारीक और व्यवहारीक सुधारणा होगी और ईस से कला कौशल्यादि सब

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती का उक्त कथन "मुम्बई आर्यसमाजनो इतिहास" में आर्यभाषा और नागरी लिपि में ही छपा है। भाषा स्वामीजी की अपनी है, परन्तु वर्तनी पर गुजराती भाषा की छाप है।

**अभीष्ट सुधारा होके मनुष्य मात्र का जीवन सफल होके अन्त में अपना धर्मबल से अर्थ काम और मोक्ष मील सकता है।"**[1]

अपने हृदय में निहित उक्त आशङ्का को व्यक्त करने के पश्चात् वहाँ के आर्य सज्जनों को आर्यसमाज स्थापित करने की अनुज्ञा दी।

बम्बई की प्रथम आर्यसमाज चैत्र शुक्ला ५ शनिवार संवत् १९३२ (गुजराती संवत् १९३१) तदनुसार १० अप्रैल सन् १८७५ के दिन तीसरे पहर स्थापित हुई।[2] इस समाज के अठाइस नियम निर्धारित हुए[3] और इनकी स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित व्याख्या प्रकाशित हुई।[4] इनका स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्रों में भी उल्लेख मिलता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के सभी प्रामाणिक जीवनचरितों एवं बम्बई के तत्कालीन समाचारपत्रों में भी उक्त तिथि का ही उल्लेख मिलता है।[5]

**स्थापना तिथि में परिवर्तन**—आर्यसमाज काकड़वाड़ी बम्बई में स्थापना तिथिविषयक एक छोटा-सा शिलालेख लगा हुआ है। इसमें आर्यसमाज की स्थापना चै० शु० १ बुधवार सं० १९३१ (५ अप्रैल १८७५) का निर्देश है। जब संवत् १९४४ को प्रथमवार महात्मा मुन्शीरामजी बम्बई गए थे, तब तक वहाँ केवल एक चबूतरा ही बना हुआ था।[6]

---

१. यह अंश भी पूर्ववत् आर्यभाषा व देवनागरी लिपि में छपा है।

२. श्री गोपालराव हरि देशमुख को सं० १९३१ (गुजराती) मिति चैत्र शुद्ध ६ रविवार को लिखे गये पत्र में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—**"बम्बई में चैत्र शुद्ध ५ शनिवार के दिन संध्या के साढ़े पांच बजते आर्यसमाज का आनन्दपूर्वक आरम्भ हुआ।"** ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ५५, संस्करण ३।

३. उन (२६) नियमों में दो नियम बढ़े हैं। ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ५७, पं० ३, संस्क० ३।

४. आर्यसमाज के नियम और उसकी व्याख्या पुस्तक छपता है। ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ५८, संस्करण ३। इसी के द्वितीय भाग के अन्त में तीसरे परिशिष्ट (पृष्ठ ९०८-९१८) में ये २८ नियम और उनकी व्याख्या हमने छापी है।

५. द्र०—इसी पृष्ठ की टिप्पणी २।

६. इसी चबूतरे पर उन्होंने व्याख्यान दिया था। द्र०—कल्याणमार्ग का पथिक, पृष्ठ १४३, पंक्ति ३३-३४, ज्ञान मण्डल यन्त्रालय, काशी, संवत् १९८१।

महात्मा मुंशीरामजी के लेख से स्पष्ट है कि संवत् १९४४ (सन् १८८७) तक आर्यसमाज मन्दिर नहीं बना था। अतः संवत् १९४४ के पश्चात् जब आर्यसमाज मन्दिर बना, तब उक्त तिथिवाला जाली शिलालेख लगाया गया।

हैदराबाद सत्याग्रह से लौटते समय श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने आगे-पीछे का ऐतिहासिक विचार विना किए उक्त शिलालेख को प्रामाणिक मानकर आर्यसमाज की स्थापनाविषयक भूल का सार्वदेशिक सभा में प्रस्ताव रखा[1] तब से आर्यसमाज स्थापना की तिथि चैत्र शुक्ला १, बुधवार संवत् १९३२ मान ली गई। मैंने सन् १९५१ में श्री प्रतापजी शूरजी भाई के चतुर्वेद पारायण यज्ञ के समय वह पुस्तिका सार्वदेशिक सभा के तत्कालीन प्रधान श्री पण्डित धुरेन्द्रजी शास्त्री आदि को दिखाई, जो आर्यसमाज स्थापना के दस मास पश्चात् २०×३० के बत्तीसपेजी आकार में आर्यसमाज के द्वारा प्रकाशित की गई थी।[2] इसमें आर्यसमाज स्थापना का काल चैत्र शुक्ला ५ संवत् १९३१ (गुजराती) शनिवार का आरम्भ में स्थूल अक्षरों में निर्देश है। यह पुस्तिका मेरे सतीर्थ्य पं० पद्मनाभ त्रिपाठी, जो उस समय काकड़वाड़ी आर्यसमाज में कार्य करते थे, ने लाकर मुझे दिखाई थी। इसके पश्चात् पण्डित पद्मनाभ त्रिपाठीजी ने काकड़वाड़ी आर्यसमाज के पुराने रिकार्डों एवं उसके रजिस्टर्ड डीड की प्रतिलिपियाँ भी मुझे भेजीं।[3] इनमें चैत्र शुक्ला ५ को बदल कर चैत्र शुक्ला १ का निर्देश करते हुए, पुराने पञ्चाङ्ग न देखने से उनमें अनेकविध भूलें विद्यमान थीं। यथा, चैत्र शुक्ला १ को **शनिवार** का निर्देश करना जबकि चैत्र शुक्ला १ को बुधवार था। आर्यसमाज

---

१. सार्वदेशिक सभा के प्रस्तावादि "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" भाग २, के अन्त में चतुर्थ परिशिष्ट के पृष्ठ ९४४ से ९४५ पर देखें।

२. इस ऊपर के मुखपृष्ठ और अन्दर के प्रथम पृष्ठ का ब्लाक फोटो ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग २ के अन्त में चतुर्थ परिशिष्ट पृष्ठ ९४६ पर देखें।

३. इन सबको ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन भाग २ के अन्त में चतुर्थ परिशिष्ट में पृष्ठ ९४७, ९४८ पर छापा है तथा उनकी सूक्ष्म विवेचना की है।

काकड़वाड़ी (बम्बई) के रिकार्डों की प्रतिलिपि मुझे भेजने के अपराध में पं० पद्मनाभ त्रिपाठी को आर्यसमाज से हटा दिया।

मुझे आर्यसमाज के स्थापना तिथि विषयक जो सामग्री प्राप्त हुई थी, उसे मैंने "वेदवाणी" के सन् ५४ के मार्च, जून और सितम्बर के अङ्कों में प्रकाशित कर दिया था। जब सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा ने पण्डित इन्द्रजी विद्यावाचस्पति से आर्यसमाज का इतिहास लिखवाने का निश्चय किया तो मैंने उक्त सब सामग्री उन्हें सौंप दी थी। फिर भी पण्डित इन्द्रजी ने आर्यसमाज के इतिहास में चैत्र शुक्ला १ को ही आर्य-समाज स्थापना तिथि उल्लेख किया। श्री पण्डित सत्यकेतुजी ने आर्य-समाज का जो बृहद् इतिहास सात खण्डों में लिखा है, में भी चैत्र शुक्ला १ को ही प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है। यह सब विषय सप्रमाण विस्तार से ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार और विज्ञापन के तृतीय संस्करण में परिशिष्ट चतुर्थ में पृष्ठ ९४३ से ९५९ पृष्ठ तक विस्तार से लिखा है। इतने सुदीर्घ काल में और उक्त भ्रान्ति को प्रमाणित कर देने पर भी सार्वदेशिक सभा आज भी चैत्र शुक्ला १ को आर्यसमाज स्थापना दिवस मनाने का आर्यसमाजों को आदेश देती है।

ऐसी ही एक ऐतिहासिक भूल द्वितीय परोपकारिणी सभा की स्थापना तिथि में हुई है। इसका वर्णन हम परोपकारिणी सभा की स्थापना-विषयक पूर्व (पृष्ठ २८१) लेख में कर चुके हैं। आश्चर्य का विषय तो यह है कि प्रत्यक्ष भूल "**फाल्गुन कृष्णा**" के स्थान में "**फाल्गुन शुक्ला**" लिखना है। यह स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र और साथ में निर्दिष्ट अंग्रेजी तारीख के निर्देश से स्पष्ट है। परोपकारिणी सभा के स्वर्गीय मन्त्री दीवानबहादुर हरबिलास सारडा ने जो अंग्रेजी भाषा में स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित लिखा था, उसमें उन्होंने पहले उक्त भूल का परिमार्जन कर दिया था; परन्तु ग्रन्थ प्रकाशित होने से पूर्व उन्हें इस बात का ध्यान आया कि परोपकारिणी सभा के स्वीकारपत्र में तो फाल्गुन शुक्ला का निर्देश है, तो उन्होंने पूर्व छपे फाल्गुन कृष्णा पद पर फाल्गुन शुक्ला की चिप्पी छपवाकर लगवा दी।

यह है एकमात्र सत्य के प्रति निष्ठावान् स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायी आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेताओं का स्वरूप, जो आर्यसमाज के चतुर्थ नियम "**सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए**" की अपनी हठधर्मिता से धज्जियाँ उड़ाते हैं।

**फूट का बीजारोपण**—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में आर्यों की आपसी फूट के कारण जो आर्य्यावर्त देश का नाश हुआ, उस पर खेद प्रकट करते हुए लिखा है—

".....आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया। परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयङ्कर राक्षस कभी छूटेगा, वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे, स्वदेश विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्मर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।"

आर्यसमाज में फूट के लक्षण स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनकाल में ही प्रकट होने लगे थे। इस सम्बन्ध में स्वामीजी के पत्रव्यवहार भाग तीन व चार में लखनऊ आर्यसमाज के पं० रामाधार वाजपेयी और पं० इन्द्रनारायण तथा अजमेर आर्यसमाज के पं० मुन्नालाल व कमलनयन शर्मा आदि सभासदों द्वारा स्वामीजी को लिखे हुए पत्रों से स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार पूर्णसंख्या ३२९ (भाग ३) तथा पूर्णसंख्या ४८७ (भाग ४) से ज्ञात होता है कि आर्यसमाज लाहौर और फर्रुखाबाद के आर्यों में भी यह प्रवृत्ति आरम्भ हो गई थी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के निधन के कुछ काल पश्चात् ही उनके स्मारकरूप में लाहौर में डी० ए० वी० कालेज की स्थापना हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के विपरीत नहीं थे; परन्तु वे उसके अध्ययन को आवश्यकता से अधिक प्रमुखता देने के विरोधी थे। उन्होंने सेठ निर्भय राम को ज्येष्ठ कृष्णा ११ संवत् १९३८ (२३ मई १९८१) में विशेषरूप में लिखा था—

**".....आप लोगों की पाठशाला में आर्य्यभाषा संस्कृत का प्रचार बहुत कम और अन्य भाषा अङ्गरेजी वा उर्दू फारसी अधिक पढ़ाई जाती है। इससे वह अभीष्ट जिसके लिए यह शाला खोली गई है, सिद्ध होता नहीं दीखता। वरन् आपका यह हजारहा मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है। हमने कभी परीक्षा के कागजात वा आजतक की पढ़ाई का फल कुछ नहीं देखा। आप लोग देखते हैं कि बहुत काल से आर्य्यावर्त में संस्कृत का अभाव हो रहा है। वरन् संस्कृतरूपी मातृभाषा**

की जगह अङ्गरेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है।[1] **अङ्गरेजी का प्रचार तो जगह-जगह सम्राट् की ओर से जिनकी यह मातृभाषा है, भले प्रकार हो रहा है। अब इस्की वृद्धि में हम तुमको इतनी आवश्यकता नहीं दीखती। न सम्राट् के सामने कुछ कर सकते हैं।**.....''

स्वामी दयानन्द का पत्र और विज्ञापन, तृतीय संस्करण, भाग २, पृष्ठ ५०१, ५०२।

**''तुम्हारी पाठशाला में अलिफ बे और कैट बैट की भरमार है, जो कि आर्य्यसमाजों को विशेष कर्त्तव्य नहीं है।''**

—वही, पृष्ठ ६८४

आरम्भ में डी० ए० वी० कालेज के लिए श्री पं० गुरुदत्तजी एम० ए० ने प्रभूत परिश्रम एवं धनसंग्रह करने में सहयोग दिया। उनका विचार था कि आधुनिक विज्ञान के साथ-साथ अष्टाध्यायी महाभाष्यादि आर्षग्रन्थों का भी इसमें पठन-पाठन होगा। परन्तु कुछ काल पश्चात् ही जब उनको इस बात का ज्ञान हुआ कि अधिसंख्य व्यक्ति कालेज में संस्कृत पढ़ाने के विरोधी हैं, तो उन्होंने कालेज से सर्वदा के लिए अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।[2] इतना ही नहीं, वे अङ्गरेजी भाषा पढ़ाने का विरोध भी करने लगे।[3]

कुछ काल पश्चात् पञ्जाब में मांसभक्षण वेदविरुद्ध है, या नहीं, इस पर विवाद चला और पञ्जाब के आर्यसमाजी दो भागों में विभक्त हो गए, जिन्हें उस समय मांस पार्टी और घास पार्टी नाम दिया गया। जब कालेज विरोधी लोगों के अग्रगामी महात्मा मुंशीरामजी ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की तब से उन दोनों पार्टियों के नाम कालेज पार्टी और गुरुकुल पार्टी प्रसिद्ध हुए। इस विरोध से पञ्जाब में आर्यसमाज के कार्य को बहुत धक्का लगा।

लगभग इसी काल में उत्तर प्रदेश में बाबू पार्टी और ब्राह्मण पार्टी का विरोध उत्पन्न हुआ। यतः अधिकारियों में अधिकतर बाबू लोग थे, वे नहीं चाहते थे कि आर्यसमाज में ब्राह्मणों का वर्चस्व होवे, अतः

---

१. यदि आजकल के अङ्गरेजीपरस्त आर्यों को देखें तो स्वामीजी हतप्रभ हो जायेंगे।

२. द्र०—लाला लाजपतराय कृत गुरुदत्तजी का जीवनचरित, पृष्ठ १००।

३. वही, पृष्ठ १००।

उन्होंने चुन-चुनकर जो जन्मना ब्राह्मण और संस्कृतज्ञ थे, उनका विरोध करना आरम्भ किया। इसकी पराकाष्ठा पण्डित भीमसेन शर्मा (इटावा) गुजरात द्वारा सम्पादित सोमयाग में आटे का पिष्ट पशु बनाकर आहुति देने के आधार पर हुई। इसका आर्यसमाज में बहुत विरोध हुआ। पं० भीमसेन शर्मा ने क्षमायाचना भी की। परन्तु बाबू पार्टी को तो भीमसेन शर्मा को आर्यसमाज से निकालने का एक अमोघ अस्त्र प्राप्त हो गया था। अतः उन्हें क्षमादान स्वीकार नहीं था। इस विरोध के कारण जो संस्कृतज्ञ व्यक्ति जन्मना ब्राह्मण थे, तथा पौराणिक समुदाय से आये थे, वे अपना अपमान न सहकर अथवा आर्थिक लोभादि के कारण आर्यसमाज से बाहर हो गए। दो-चार ही ऐसे संस्कृतज्ञ जन्मना ब्राह्मण आर्यसमाज में टिके रहे, जिन्होंने बाबू पार्टी के विरोध एवं अपमान आदि की परवाह नहीं की। इस विरोध से आर्यसमाज को संस्कृतज्ञ अनेक व्यक्तियों से हाथ धोना पड़ा।

यह आपसी विरोध गुजरात और महाराष्ट्र (उस समय दोनों एक प्रान्त थे) में नये रूप में उभरा। बम्बई नगर में दोनों समुदायों की प्रबलता थी, अतः आर्यसमाज बम्बई की स्थापना में इन दोनों समुदायों का पूरा सहयोग था। सदस्य संख्या में भी विशेष अन्तर नहीं था। गुजराती सदस्य अधिकतर व्यापारी वर्ग के थे; और महाराष्ट्रीय वर्ग में अधिकतर ब्राह्मण तथा पढ़े-लिखे लोग और संस्कृत के विद्वान् थे। बम्बई आर्यसमाज की जो पुरानी लगभग १५ वर्ष की कार्यवाही की रूपरेखा मिलती है, उससे ज्ञात होता है कि लगभग इतने काल तक दोनों समुदायों का बम्बई आर्यसमाज पर प्रभाव रहा; परन्तु कालान्तर में धन के मद में गुजराती समुदाय ने महाराष्ट्रीय समुदाय की उपेक्षा आरम्भ कर दी। इसका फल यह हुआ कि महाराष्ट्रीय वर्ग जो विशेष पठित था, शनैः-शनैः बम्बई आर्यसमाज से पृथक् हो गया और गुजराती व्यापारी वर्ग का आर्यसमाज पर पूर्ण प्रभुत्व हो गया। इन्होंने महाराष्ट्र में आर्य धर्म के प्रचार की भी उपेक्षा की।

उत्तर प्रदेश में ब्राह्मण वर्ग के निष्कासन के कारण और बम्बई आर्यसमाज से महाराष्ट्रीय वर्ग के पृथक् हो जाने के कारण इन वर्गों में जो

पुरानी वैदिक परम्पराएँ चली आती थीं, उनका आर्यसमाज से लोप हो गया। प्राचीन वैदिक परम्परा को आत्मसात् किए हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखे गये ग्रन्थ का प्राचीन परम्परा से रहित लोगों के लिए न केवल समझना ही कठिन हो गया, अपितु समस्या बन गई। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में अनेक विषय संकेत रूप में लिखे हैं। कुछ बातें अतिप्रसिद्धि के कारण छोड़ दी हैं; क्योंकि वे समझते थे कि ये बातें परम्परा से प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्रीय विद्वानों के (पञ्जाब में परम्पराएँ पहले ही लुप्त हो चुकी थीं) पृथक् हो जाने से ज्ञानहीन आर्यसमाजियों ने नयी अशास्त्रीय परम्पराएँ मनमाने ढंग से प्रवृत्त कर दीं। आज दयानन्द के नाम पर इन्हीं कल्पित अशास्त्रीय परम्पराओं को प्रमाण माना जाता है।

# आर्यसमाज के अतीत काल का वर्गीकरण

आर्यसमाज को स्थापित हुए ११७ वर्ष बीत चुके हैं। यद्यपि किसी संस्था के जीवन में ११७ वर्ष विशेष महत्त्व नहीं रखते; परन्तु आर्यसमाज के ११७ वर्ष के इतिहास को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हम इसे पचीस-पचीस वर्ष के निम्न खण्डों में बाँट सकते हैं—

१. सन् १८७५ से १९०० तक के काल को **स्वर्णकाल** कहा जा सकता है। इस काल में आर्यसमाजी व्यक्ति के चरित्र की छाप न केवल विरोधियों पर ही पड़ी, अपितु आर्यसमाजी कभी झूठ नहीं बोल सकता, इसलिए उसकी गवाही पर अदालती फैसले भी हुए।[1] इतना ही नहीं, इस काल में प्रत्येक आर्यसमाजी अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार आर्यसमाज का प्रचारक रहा। पञ्जाब की एक घटना प्रसिद्ध है कि एक पहरेदार रात को फेरी लगाते समय लोगों को सावधान करने के लिए आवाज देता था—"ऐ पाँच हजार वर्ष से सोने वालो अब तो जागो!" अधिकारी ने उससे इस वाक्य का तात्पर्य जानना चाहा तो उसने "भारतीय पाँच हजार वर्ष से अविद्या अन्धकार में सोये हुए हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आकर उन्हें जगाया है। इसी बात को ध्यान में रखकर लोगों को सावधान करने के लिए उक्त वाक्य कहता हूं"—यह कह कर उसने सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति अधिकारी को देते हुए कहा—

---

१. हमने एक ऐसे वकील को न केवल देखा है, अपितु उनके घर दो बार कई दिन रहे हैं, जिन्होंने जन्म भर झूठा मुकद्दमा नहीं लिया। एक बार भूल से अभियुक्त के कथन से भ्रान्त होकर उसे सत्य समझकर स्वीकार कर लिया; परन्तु २-३ पेशी में जब वे समझ गये कि मुकद्दमा झूठा है, तो उन्होंने अदालत में ही उसका भाण्डा फोड़ दिया और ली हुई सारी फीस लौटा दी। इनका नाम था **जैशीरामजी**। ये लोअर धर्मशाला (काङ्गड़ा) में रहते थे। बड़े स्वाध्यायशील विनम्र तथा परोपकारप्रिय थे। ४-५ वर्ष पूर्व इनका लगभग १०० वर्ष की आयु में निधन हुआ था।

"आप इसे पढ़ जाइये। आपको सारी बातें मालूम हो जायेंगी। मैं तो एक अनपढ़ गँवार हूं। इसलिए मैं इतना ही जानता हूं।"[1]

इस काल के व्यक्ति अपने नित्य नियमों के पालन करने और स्वाध्याय करने के प्रति सदा जागरूक रहते थे। इसी कारण इस काल का प्रत्येक व्यक्ति आर्यसमाज का सन्देशवाहक था।

२. सन् १९०१ से १९२५ तक के काल को हम **रजतकाल** कह सकते हैं। इस काल में आर्यों में अपने वैदिक धर्म के प्रति कुछ शिथिलता आने लगी। वेदादि शास्त्रों के अध्ययन के प्रति कुछ कमी आई। यद्यपि इस काल में अनेक प्रसिद्ध गुरुकुल खुले; परन्तु उनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती की पाठविधि का प्रचार न होने से उनसे जो लाभ होना था, वह नहीं हुआ। कई गुरुकुलों में तो प्रमुख वेदाङ्ग व्याकरण का पठन-पाठन भी यथोचित रूप में नहीं हुआ।

यतः इस काल में स्वर्णयुग के कतिपय व्यक्ति जीवित थे, अतः इस काल में उत्पन्न होनेवाली कमियाँ प्रायः आँखों से ओझल रहीं। परन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार ह्रास का जो कर्म चल पड़ा था, उसे रोका नहीं जा सका।

आर्यसमाज के द्वितीयकाल में कुछ ऐसी घटनाएँ भी घटित हुईं, जो आर्यसमाज के लिए कलङ्करूप सिद्ध हुईं। इस काल में जब लाला लाजपतराय और भाई परमानंदजी प्रभृति राजनैतिक व्यक्तियों पर ब्रिटिश शासन की क्रूर दृष्टि पड़ी, उनके विरुद्ध देशद्रोह के मुकद्मे आदि चलाये गये तो उस समय लाला लाजपतरायजी एवं भाई परमानन्दजी प्रभृति नेताओं का आर्यसमाज के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था। परन्तु कालेज विभाग के अधिकारियों ने ब्रिटिश शासन की क्रूर दृष्टि से बचने के लिए

---

१. पिताजी के पास महेश्वर (इन्दौर स्टेट, वर्तमान मध्य प्रदेश) में एक अन्धे संन्यासी प्रातःकाल पहुंचे। नित्य नियम से निवृत्त होने पर पिताजी ने उन्हें प्रातराश के लिए कहा तो वे कहने लगे कि जब तक मैं प्रचारकार्य नहीं कर लूँगा, तब तक मैं अपने अन्न का अधिकारी नहीं हूं। पिताजी ने कहा—"यहाँ इस समय प्रचार का प्रबन्ध नहीं हो सकता।" तो वे बोले कि मेरे साथ किसी बालक को भेज दें, जो मुझे मुख्य बाजार में पहुंचा दे। शेष कार्य मैं स्वयं कर लूँगा। ऐसे होते थे पुराने उपदेशक।

या अपने कालेज आदि की सम्पत्ति बचाने के लिए आर्यसमाज के वे सभी पुराने रिकार्ड नष्ट कर दिए, जिनसे यह पता चलता था कि इनका कालेज विभाग की समाजों के साथ विशेष सम्पर्क है। न केवल रिकार्ड ही नष्ट किए, अपितु खुल्लमखुल्ला कहा जाने लगा कि इन लोगों का आर्यसमाज से कोई सम्पर्क नहीं है। लाला लाजपतराय और भाई परमानन्दजी जैसे व्यक्तियों पर तो इस घटना का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु आर्यसमाज ने यह सिद्ध कर दिया कि देश को स्वतन्त्र कराने वाले नेताओं के साथ हमारा कोई सम्पर्क नहीं है। आर्यसमाज एक **विशुद्ध धार्मिक सङ्गठन** है। राजनीति से इसका कोई लेना-देना नहीं है। यह तो लाला लाजपतराय और भाई परमानन्दजी व्यक्तियों का उदार-चरित था कि उन्होंने आर्यसमाज से कभी भी मुँह नहीं मोड़ा।

इसी काल की एक घटना का और उल्लेख करना आवश्यक समझता हूं। मेरे माता-पिता दृढ़ वैदिक धर्मावलम्बी थे। उन्होंने यह निश्चय कर कर रक्खा था कि हमने ब्राह्मणकुल में जन्म लिया, पर वेद का अध्ययन नहीं किया। हम अपनी एकमात्र सन्तान को वास्तविक रूप में वेदपाठी ब्राह्मण बनायेंगे। माता का मेरी आठ वर्ष की आयु में स्वर्गवास हो गया। उस समय भी उन्होंने पिताजी को यही कहा—"आप अकेले रह जायेंगे। मोह में पड़कर युधिष्ठिर को गुरुकुल भेजना न भूलें।" इस असामयिक दुर्घटना से पिताजी के मन पर गहरा असर पड़ा। दो-ढाई वर्ष उनको मानसिक स्वस्थता प्राप्त करने में लग गए। इस कारण मेरी आयु लगभग साढ़े ग्यारह वर्ष की हो गई थी। उन्होंने गुरुकुल सान्ताक्रुज (बम्बई) के गुरुकुल में मुझे प्रविष्ट कराने के लिए भेजा। उस समय मैं हिन्दी की अपर प्राइमरी पास कर चुका था। साथ ही मराठी और गुजराती भाषा का भी कुछ ज्ञान था। गुरुकुल में प्रविष्ट करनेवाले छात्रों की बौद्धिक परीक्षा में मुझे प्रथम स्थान प्राप्त हुआ, परन्तु डाक्टरी परीक्षा में पैर विकृत होने के कारण मुझे नहीं लिया गया। उसके पश्चात् गुरुकुल काङ्गड़ी और वृन्दावन आदि से भी पत्रव्यवहार किया; परन्तु सबका परिणाम एक ही निकला—ढाक के तीन पात। स्वामी श्रद्धानन्दजी और आर्यसार्वदेशिक सभा से भी प्रार्थना की गई। परन्तु दोनों ने—**हमारा गुरुकुल काङ्गड़ी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं**—कहकर पीछा छुड़ा लिया। गुरुकुल काङ्गड़ी के अधिष्ठाता ने अन्त में लिखा—"यदि आप सत्रह सौ रुपये (१७००रु०) एक साथ देने का

अभिवचन दें तो पत्र का उत्तर आने पर विचार किया जा सकता है।" इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि सत्रह सौ रुपये इकठ्ठा देने पर डेढ़ वर्ष आयु जो अधिक हो गई है, वह क्या कम हो जायेगी ? पिताजी ने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया, "मेरे जैसा स्कूल मास्टर छह-सात महीने का शुल्क तो इकठ्ठा दे सकता है; पर सत्रह सौ रुपया इकठ्ठा देना मेरे लिए अशक्य है।"

इस सबका पिताजी के मन पर जो प्रभाव पड़ा, उसका उन्होंने एक पत्र में इस प्रकार वर्णन किया है—

**"मैं यथाशक्ति मेरे ब्रह्मचारी के लिए, वह गुरुकुल में शिक्षण पावे, पर्याप्त उपाय कर चुका। अब निश्चय हो गया है कि आर्यसमाज एक बीहड़ वन है। उसमें मेरा रुदन किसी ने नहीं सुना। उस वन में कोई दयापूर्ण त्यागी भी नहीं था। मैं अभी नहीं कह सकता कि मेरा पुरुषार्थ बालक के लिए दूसर प्रयत्न में लग जावे।"**[1]

इस पत्र में **दयापूर्ण त्यागी** का संकेत स्वामी श्रद्धानन्दजी की ओर है। "कह नहीं सकता कि मेरा पुरुषार्थ बालक के लिए दूसरे प्रयत्न में लग जावे"—इस संकेत का सम्बन्ध "भरत महाविद्यालय हृषीकेश" की ओर है। भरतमहाविद्यालय में पिताजी के आर्यसमाजी होने से मुझे नहीं लिया गया।

३. सन् १९२६ से लेकर सन् १९५० तक के काल को हम **ताम्रकाल** कह सकते हैं। इस काल में आरम्भिक काल के प्रधान व्यक्तियों के निधन हो जाने से आर्यसमाज में बदलाव स्पष्ट झलकने लगा। आर्य व्यक्ति आर्यसमाज के कामों में बढ़चढ़ कर हिस्सा लेते रहे; परन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन में बहुत बदलाव आया। सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन दो विभागों में बँट गया। इस काल में द्वितीय युग के कुछ व्यक्ति विद्यमान थे। उन्होंने आर्यसमाज में आ रही गिरावट को रोकने का विशेष कार्य किया और आर्यसमाज के प्रचार के लिए सुपठित उपदेशक तथा पुरोहित तैयार करने के लिए आगरा में मुसाफिर विद्यालय खोला। इसने अरबी फारसी के अनेक सुप्रसिद्ध विद्वान् उत्पन्न किए। श्री महेशप्रसादजी मौलवी आलिम फाजिल (हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

---

१. द्र०—आत्म-परिचय, तृतीय परिशिष्ट के "उ०" भाग में उद्धृत संख्या ३ का पत्र, पृष्ठ ३२।

के अरबी फारसी के विभागाध्यक्ष श्री राहुल सांकृत्यायन (जिनका पूर्वनाम रामोदारदास साधु [जन्म नाम केदारनाथ पाण्डे] था) इसी विद्यालय के छात्र थे। और भी अनेक शास्त्रार्थी विद्वान् इस संस्था ने उत्पन्न किये। गुरुकुल विभाग और कालेज विभाग ने लाहौर में उपदेशक विभाग खोले। गुरुदत्त भवन में जो उपदेशक विद्यालय था, उसका कोर्स चार वर्ष का था। श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी, श्री स्वामी वेदानन्दजी, पं० ईश्वरचन्द्रजी जैसे लगनवाले तथा विविध शास्त्रज्ञानसम्पन्न व्यक्ति आचार्य व अध्यापक थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के अतिरिक्त मीमांसा छोड़ कर पाँचों शास्त्र, उपनिषदें तथा विभिन्न मतवाले लोगों के मतों का ज्ञान भी यथेष्ट मात्रा में कराया जाता था। इस विद्यालय से पढ़कर निकले हुए अनेक व्यक्तियों ने आर्यसमाज की अच्छी सेवा की। कालेज विभाग में जो उपदेशक विद्यालय था, उसमें अध्ययन-अध्यापन की गुरुदत्तभवन सदृश व्यवस्था नहीं थी। वहाँ के विद्यार्थियों को विना विशारद परीक्षा के ही शास्त्री में बैठने का अधिकार प्राप्त होने से प्रायः वहाँ के पढ़े हुए छात्र शास्त्री परीक्षा पास कर अन्य कामों में लग जाते थे।

गुरुकुल विभाग की तुलना में कालेज विभाग में अनुशासन और उत्साह अधिक था। श्री महात्मा हंसराजजी के तपोमय जीवन से अनेक व्यक्ति अनुप्राणित थे।[1] अतः जब-जब देश पर दैवी वा साम्प्रदायिक दुर्घटनाएँ घटीं, यथा काङ्गड़ा और बिहार का भूकम्प, सुदूर दक्षिण में

---

१. श्री महात्मा हंसराजजी की काल के गर्त में समाई तपोमय घटना का यहाँ मैं वर्णन करना आवश्यक समझता हूं। यह घटना मेरे सामने घटित हुई थी। सम् १९३३ में दयानन्द निर्वाण अर्ध शताब्दी का अजमेर में आयोजन हुआ था। श्री पूज्य स्वामी सर्वदानन्दजी का साधु मण्डल का अलग शिविर लगा था। हमारे विरजानन्द आश्रम का उनके साथ सम्बन्ध होने से हम उनके शिविर में ही ठहरे थे। एक दिन सायङ्काल आर्यसमाज के पाँच-छह प्रतिष्ठित संन्यासी पूज्य स्वामीजी के पास आये और कहने लगे, "हम महात्मा हंसराजजी को संन्यास धारण करने की प्रेरणा देने उनके पास जाना चाहते हैं। आप हमारा नेतृत्व करें।" श्री पूज्य स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज ने कहा, "महात्मा हंसराज तो मेरे से बड़ा संन्यासी है, मैं उसे संन्यास के लिये कैसे कह सकता हूं।" यह सुनकर अभ्यागत संन्यासी लौट गये।

मोपलाओं के उपद्रव आदि में सहायता के लिए तत्काल पहुंचकर राहत पहुंचाने का कार्य करने में कालेज विभाग गुरुकुल विभाग से अधिक कारगर सिद्ध हुआ। साथ ही इन दोनों में विरोध था; परन्तु आर्यसमाज के प्रचार के प्रति बढ़चढ़ कर कार्य करने की प्रतिस्पर्धा थी। अतः आर्यसमाज में बढ़ती हुई गिरावट भी विशेष प्रभावकारी नहीं हुई। इसी युग में निजामशाही के विरोध में आर्यसमाज ने जो सत्याग्रह किया, उसमें आर्यवीरों के बलिदान से छह महीने में ही निजामशाही को घुटने टेकने पड़े। आरम्भ में महात्मा गांधी ने इस सत्याग्रह का विरोध किया; परन्तु जब उन्होंने देखा कि सत्याग्रह पूरी तरह हिंसारहित है, तो उन्होंने इसकी प्रशंसा भी की। सरदार वल्लभभाई पटेल ने जब निजामशाही पर अधिकार कर लिया, तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि यदि आर्यसमाज का सत्याग्रह न होता तो हमें इतनी आसानी से निजामशाही पर विजय प्राप्त नहीं होती। इस सत्याग्रह में कतिपय मुस्लिम भाईयों ने भी भाग लिया था।

इस काल में कुछ ऐसे गिरे हुए भी लोग सभा-सोसाइटियों के अधिकारी बने हुए थे, जिन्होंने दैवत विपदा के समय जनता के द्वारा दी गई राहत सामग्री का पर्याप्त भाग अपने घरों में पहुंचा दिया। राजस्थान में बनास नदी में आई बाढ़ के समय जनता द्वारा प्रदत्त राहत सामग्री का पर्याप्त अंश अधिकारियों के घरों में पहुंचा था, यह नितान्त सत्य है। मैं उस समय अजमेर में ही था। परन्तु अभी ऐसी दुष्प्रवृत्ति के लोग स्वल्प थे।

इस समय तक आर्यसमाज का जो कुछ वर्चस्व बना हुआ था, उसका प्रधान कारण तत्कालीन आर्यों की स्वाध्यायशीलता की प्रवृत्ति थी। और इसका श्रेय कतिपय तपोनिष्ठ आर्यसमाज के संन्यासी, विद्वान् वा आर्यसमाज के सभासदों को भी दिया जा सकता है। आर्यसमाज में इस काल में स्वाध्याय की जो प्रवृत्ति थी, उसके निदर्शन के लिए हम एक उदाहरण उपस्थित करते हैं। सन् १९४६ के बच्छोवाली आर्यसमाज लाहौर के (उन दिनों दोनों विभागों के वार्षिक उत्सव एक ही काल में भिन्न-भिन्न स्थानों पर होते थे। अतः दोनों विभागों की जनता का दोनों ओर आना-जाना लगा रहता था।) वार्षिकोत्सव के समय रामलाल कपूर ट्रस्ट की पुस्तकों की दूकान लगाई थी। उस पर बिक्री के लिए मैं ही बैठा था। इस जलसे में पूज्य गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु द्वारा

सम्पादित यजुर्वेदभाष्यविवरण की छह सौ कापियाँ और पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" की चार सौ कापियाँ मैंने अपने हाथ से बेची हैं। इसकी तुलना में सन् १९७५ में सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह के अवसर पर जो पुस्तकों की बिक्री हुई, वह पासँग के बराबर थी। अर्थात् तब तक आर्यसमाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति में नितान्त कमी आ गई थी।

देश-विभाजन के समय ऐसे भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, जब पाकिस्तान से मरकटकर आनेवाले कतिपय आर्य सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों को अपनी छाती से चिपकाए बड़े यत्नपूर्वक साथ लेकर आए।

**विशिष्ट विद्वान् को विशेष वेदाध्ययन के लिए पचीस रुपये माहवारी खर्च देने का सार्वदेशिकसभा के पास कोई फण्ड नहीं**—सन् १९४४ के मध्य की घटना है। मैं उन दिनों अजमेर में कार्य करता था; परन्तु गुरुजी के विशेष निमन्त्रण पर विरजानन्द आश्रम, लाहौर आया हुआ था। हम दोनों यजुर्वेदभाष्य के किसी स्थल पर विचार कर रहे थे कि देखा एक गेरुआ वस्त्रधारी प्रौढ़ व्यक्ति आ रहा है। समीप आने पर पता चला कि वे प्रियरत्नजी आर्य नाम से विख्यात विद्वान् हैं। प्रियरत्नजी का पुराना नाम "प्यारेलाल" था।[1] वे गुरुजी के गुरुभाई थे। समीप में आने पर और उन्हें बैठाने के पश्चात् गुरुजी ने कहा—"**अरे प्यारेलाल ये गेरुए कपड़े कब से रंग लिए ?**" इसके उत्तर में पण्डित प्रियरत्नजी ने निम्न घटना सुनाई—

मैंने आर्य सार्वदेशिक सभा को लगभग तीन दर्जन पुस्तकें लिखकर दी हैं, जिनकी रायल्टी आदि भी मैं नहीं लेता। मेरा विचार हुआ कि वेद का विशेष अध्ययन करने के लिए तीन वर्ष गुरुकुल काङ्गड़ी के पुस्तकालय में बैठकर वेद का अध्ययन करूँ। इसके लिए मैंने सार्वदेशिक सभा को प्रार्थनापत्र लिखकर दिया कि मुझे तीन वर्ष तक पचीस रुपया महीना वेद के अध्ययन के लिए दिया जाय। मैं गुरुकुल काङ्गड़ी में (वहाँ उत्तम पुस्तकालय है) वेद का विशेष अध्ययन करना चाहता हूं।

---

१. उन्होंने कालान्तर में अपने नाम का प्रियरत्न के रूप में संस्कृतीकरण कर दिया था।

मन्त्री सार्वदेशिक सभा का उत्तर आया कि विना कुछ कार्य किए, अध्ययनमात्र के लिए पच्चीस रुपया मासिक देने का हमारे पास कोई फण्ड नहीं है। इस पत्र से मेरे मन को बहुत क्लेश पहुंचा। सफेद वस्त्र में कोई व्यक्ति किसी की सहायता भी नहीं करता। अतः मैंने कपड़े रँगना उचित समझा। अब मुझे लोग अपने आप सहायता देते हैं।

यह घटना इस बात को प्रमाणित करती है कि इस काल में आर्य-समाज में किसी योग्य विद्वान् का क्या आदर और सम्मान था। पच्चीस रुपया मासिक कोई बड़ी रकम नहीं थी, और वह भी वेदाध्ययन के लिए, जिस वेद पर आर्यसमाज का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा हो। इसीलिए प्रायः गुरुजी कहा करते थे—"जो व्यक्ति घर से रोटी खाने और आर्य-समाजियों की गालियाँ सुनने में समर्थ हो, वह आर्यसमाज का कार्य करे।" वस्तुतः यह उनके जीवन का निष्कर्ष था। उनके साथ भी आर्य-समाजियों ने जैसा अभद्र व्यवहार किया है, उसको लिखकर के हम पृष्ठ बढ़ाना नहीं चाहते।

वस्तुतः आर्यसमाज का उक्त युग देश-विभाजन के काल में ही समाप्त हो जाता है; क्योंकि पञ्जाब और सिंध से खाली हाथ आए हुए आर्यों के सामने सबसे पहली आवश्यकता यह थी कि वे इस स्थिति से अपने और अपने परिवार को कैसे उबारें। उन्होंने दिन-रात एक करके बिना किसी के आगे हाथ पसारे कठोर परिश्रम से अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया। इस स्थिति में स्वाध्याय आदि के लिए समय निकालना भी कठिन था। परन्तु जब एक बार स्वाध्याय की प्रवृत्ति कुछ वर्षों के लिए छूट गयी तो अपनी आर्थिक स्थिति सुधार लेने पर भी आर्य व्यक्ति उससे उदासीन ही रहे। अर्थात् एक बार स्वाध्याय की जो प्रवृत्ति छूटी, वह सदा के लिए छूट ही गयी।[1] मैं समझता हूं, इसका कारण स्वाध्याय के लाभ पर यथोचित ध्यान न देना है।

देश-विभाजन के समय जो कतिपय प्रमुख संस्थाएँ वैदिक धर्म के

---

१. ऐसी ही एक घटना पुराकाल में भी हुई, जब मुसलमानों ने कश्मीर पर आक्रमण किया तो वहाँ के पैप्पलाद शाखाध्यायी ब्राह्मण कश्मीर छोड़कर सुदूर उड़ीसा के पार्वत्य प्रदेश में चले गए। साथ में अपनी शाखा के ग्रन्थ तो ले गए, जो आज भी बचे हुए उपलब्ध होते हैं; परन्तु अध्येता कोई भी ब्राह्मण उपलब्ध नहीं होता।

प्रचारक तैयार करती थीं तथा अन्य भी जो संस्थाएँ किसी-न-किसी प्रकार आर्यसमाज के कार्य से सम्बद्ध थीं, उनका प्रमुख भाग पाकिस्तान के विभाग में चले जाने से शिक्षा की दृष्टि से आर्यसमाज की महती हानी हुई। इसी प्रकार सनातन धर्म की जो संस्थाएँ संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार में लगी हुई थीं, वे भी देशविभाजन के साथ समाप्त हो गईं।

(४) सन् १९५१ से सन् १९७५ तक का काल आर्यसमाज के इतिहास की दृष्टि से **कृष्णायस् काल** कहा जा सकता है। इसके प्रारम्भिक वर्षों में पञ्जाब से आये हुए आर्यसमाजियों ने जिस-जिस क्षेत्र में पदार्पण किया, आर्यसमाज की स्थापना करना आरम्भ किया। इनमें प्रधान रूप से वृद्ध व्यक्तियों और प्रौढ़ व्यक्तियों ने भाग लिया। शनैः-शनैः उन्होंने आर्यसमाज के कई विशाल भव्य मन्दिर स्थापित किए, परन्तु प्रचार का सिलसिला जो देशविभाजन के कारण टूट चुका था, पुनः यथोचित मात्रा में आरम्भ नहीं हो सका। फिर भी आर्यों ने उस समय अपनी समस्याओं से जूझते हुए भी आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों की यथासम्भव शुरुआत की। मैं सन् १९५५ में काशी से जब देहली पहुंचा था, तो उस समय हिन्दुस्तान और नवभारत टाइम्स के कालमों में अनेक समाजों के साप्ताहिक अधिवेशनों की सूचना छपती थी और उसमें वक्ता का नाम दिया जाता था। इसी प्रकार सनातन धर्म आदि की सभाओं की सूचना भी प्रति सप्ताह छपती थी। शनैः-शनैः ये सूचनाएँ संक्षिप्त होती गईं और अन्त में इनका छपना ही दोनों समाचारपत्रों में बन्द हो गया। इससे भी आर्यसमाज में शनैः-शनैः होनेवाली शिथिलता का अनुमान लगाया जा सकता है। उन दिनों समाजों में ४०-५० सभासद उपस्थित होते थे, जिनमें महिलाएँ और बच्चे भी भाग लेते थे। आज स्थिति यह है कि संध्या और हवन के समय दो-चार वृद्ध सज्जनों के अतिरिक्त कोई उपस्थित नहीं होता। प्रवचन आदि के समय भी दस-पन्द्रह से अधिक सदस्य कभी-कभी ही उपस्थित होते हैं। इनमें भी अधिकतर पचास पार के लोग ही होते हैं। नवयुवकों का आगमन नहीं देखा जाता।

आर्यसमाज के विधान में पुस्तकाध्यक्ष का एक विशिष्ट पद है। इसका चुनाव तो हो जाता है; परन्तु समाजों में पुस्तकों का अभाव ही

रहता है। इससे जो व्यक्ति पुस्तक खरीदकर पढ़ नहीं सकते, वे स्वाध्याय से वञ्चित हो जाते हैं। अधिकारियों को तो स्वाध्याय के प्रति रुचि ही नहीं रही। इससे आत्मा में जो पवित्रता और उत्साह आदि विशेष गुण उत्पन्न हो सकते थे, उनसे आर्यसमाज प्रायः वञ्चित हो गया।

इस काल में बड़ी-बड़ी आर्यसमाजों ने कुछ कन्यापाठशालाएँ वा स्कूल आदि चलाने आरम्भ किए; परन्तु उनमें धर्मशिक्षा का प्रबन्ध न होने से इनसे आर्यसमाज को कोई लाभ नहीं पहुंचा। देशविभाजन से पूर्व आर्यसमाज की प्रायः सभी प्रतिष्ठित संस्थाएँ सरकार से अनुदान न लेकर अपने बलबूते पर चलाई जाती थीं। इसलिए उनमें कुछ धर्मशिक्षा आदि का अध्यापन होता रहता था। देश के स्वतन्त्र होने पर आर्यसमाज की सभी संस्थाओं ने सरकार से अनुदान लेना आरम्भ कर दिया। उसका प्रभाव यह पड़ा कि आर्यसमाज अपनी संस्थाओं में ही अपने धर्म की शिक्षा देने से वञ्चित हो गया।

इसके साथ ही आर्यसमाज में कुछ ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित हो गए, जिनको आर्यसमाज के सिद्धान्तों से न कोई प्रेम था और न ज्ञान। सरकार की चाटुकारिता ही उनका लक्ष्य-सा बन गया था। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण हमें सन् १९७५ में सत्यार्थप्रकाश शताब्दी महासम्मेलन में देखने को मिला। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है—"**धर्म एक है**"। आर्यसमाज भी इसी बात को लगभग १०० वर्ष से स्वीकार करता रहा। परन्तु सत्यार्थप्रकाश शताब्दी सम्मेलन में संजय गाँधी को बुलाने के लिये प्रथम बार "**सर्वधर्मसम्मेलन**" का एक बड़ा पट्ट लगाया गया। यह आर्यसिद्धान्त के विपरीत था। परन्तु सम्मेलन के अधिकारियों ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। संजय गाँधी इस सम्मेलन में पधारे; किन्तु धर्मविषयक कोई चर्चा न करके आर्यों को परिवार नियोजन की शिक्षा देकर चले गए।

इस समय के सार्वदेशिक सभा के अधिकारी कितने निर्बल थे, इसका उदाहरण भी इसी अवसर पर देखने को मिला। सत्यार्थप्रकाश शताब्दी सम्मेलन दिसम्बर की कड़कती ठण्ड के अवसर पर मनाया जा रहा था। अधिकारियों ने बाहर से आये अतिथियों के रहने का प्रबन्ध अपने विद्यालयों वा महाविद्यालयों में किया; (क्योंकि उन दिनों में अवकाश था) परन्तु सम्मेलन आरम्भ होने से एक दिन पूर्व प्रधानमन्त्री इन्दिरा

गाँधी ने घोषणा कर दी कि जिन विद्यालयों में बाहर के आर्य अतिथियों को ठहराया जाएगा, उनकी सहायता बन्द कर दी जाएगी। इस घोषणा से अधिकारियों के होश उड़ गए। अधिकारियों में स्वामी श्रद्धानन्द जैसा एक भी दबंग व्यक्ति नहीं था। अन्यथा वह बाहर से आये वा स्थानीय आर्यों की एक लाख की फौज लेकर इन्दिरा गाँधी के पास पहुंच कर उसके होश उड़ा देते। परन्तु दब्बू अधिकारियों ने अपने कांग्रेसी मित्रों के सहयोग से इन्दिरा गाँधी से बहुत अनुनय-विनय करके उक्त आदेश को निरस्त करवाया। सरकारी अनुदान लेने का जो प्रतिफल होता है, वह इन दोनों घटनाओं से स्पष्ट है।

यद्यपि इस अवसर पर देशभर के आर्यसमाजी पहुंचे; परन्तु उनका प्रधान लक्ष्य जलूस में सम्मिलित होना था। अतः जलूस निकलने के पश्चात् शनैः-शनै बाहर के व्यक्ति खिसकते गए। तात्पर्य यह है कि उन्हें आर्यसमाज के कार्यक्रम को सुनने आदि की विशेष उत्कण्ठा नहीं थी। इसी प्रकार इतने भारी मेले में आर्यसमाज की पुस्तकों की जो बिक्री हुई, वह उतनी भी नहीं थी, जितनी लाहौर के वार्षिक उत्सवों में होती थी। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि आर्यों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति प्रायः नष्ट हो चुकी थी। नया ज्ञान अर्जन की उनकी इच्छाएँ ही समाप्त हो चुकी थीं। इस प्रकार आर्यसमाज के इतिहास का यह चौथा खण्ड अपनी उत्तरोत्तर कमजोरी को प्रकट करता हुआ समाप्त होता है।

५. १९७६ से आर्यसमाज का **वर्तमान काल** खण्ड आरम्भ होता है। इसकी हम गहरे जंग लगे हुए लोहे के साथ तुलना कर सकते हैं। जब लोहे पर जंग लगना आरम्भ होता है, तो वह सारे लोहे को भी जंगरूप में परिणत करके आत्मसात् कर लेता है। अर्थात् नष्ट कर देता है। इस काल की कोई ऐसी विशिष्ट घटना नहीं है, जिसे आर्यों की उपलब्धि कहा जा सके। सन् १९८३ में अजमेर में दयानन्द निर्वाण शताब्दी मनाई गई; परन्तु उसकी व्यवस्था का सारा भार दिल्ली के आर्यसमाजियों ने ही उठाया था। राजस्थान की प्रतिनिधि सभा और परोपकारिणी सभा का भाग इसमें नगण्य था। दिल्ली वालों को तो अन्य व्यवस्था के अतिरिक्त टेण्ट आदि भी दिल्ली से ही भेजने पड़े। यहाँ पर भी दयानन्द के नाम पर आर्यजनता पर्याप्त मात्रा में उपस्थित हो गई, परन्तु उसे जो थोड़ा-बहुत ज्ञानवृद्धि का लाभ हो सकता था वह भी नहीं हुआ। मंच की व्यवस्था बहुत अव्यवस्थित थी। इस कारण यथेष्ट और उचित प्रवचन

आदि भी नहीं हो सके। इसके अतिरिक्त इस काल की एक ही घटना है कि आर्यसमाज में प्रतिसमाज और शिरोमणि सभाओं में नये-नये गुट पैदा होकर आपस में लड़ते झगड़ते हैं। इसी प्रकार गुरुकुल काँगड़ी में भी वर्षों तक आपस की लड़ाई के कारण व्यवस्था छिन्न-भिन्न रही। गुरुकुल काँगड़ी और गुरुकुल वृन्दावन ने विश्वविद्यालय का दर्जा पाने के लिए जो जोड़-तोड़ आरम्भ की, उसके कारण कालेज विभाग में बाहर के छात्रों को भी प्रवेश देना अनिवार्य हो गया। इससे १० वर्ष तक गुरुकुलीय पद्धति से जीवन व्यतीत करनेवाले छात्रों में भी बाहर के विद्यार्थियों के कारण प्रायः वे सब दोष आ गये, जो अन्य विश्वविद्यालयों में व्याप्त हैं। सरकार की चेष्टा तो यह थी कि कालेज विभाग में बाहर की छात्राओं को भी प्रवेश दिया जाय; परन्तु गुरुकुल के अधिकारियों ने किसी तरह इसको निरस्त करवा दिया, अन्यथा वहाँ भी सहशिक्षा का बोलबाला हो जाता।

इस काल में गुरुकुल विभाग से सम्बद्ध समाजों ने भी कन्यापाठशालाएँ, महिला कालेज और अन्य कालेज खोलने आरम्भ कर दिये। इनसे भी आर्यसमाज को कुछ लाभ नहीं हुआ। आर्यसमाज का धन अनार्य कार्यों में लगता रहा। हाँ, कुछ अधिकारियों को अधिकार प्राप्त हो जाने से उनके अहं की तुष्टि अवश्य हुई।

कालेज विभाग ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् डी० ए० वी० स्कूलों और कालेजों का जाल बिछाना शुरु कर दिया। अब तो अधिकतर अंग्रेजी माध्यम के स्कूल खोलने पर विशेष बल दिया जा रहा है। ऋषि दयानन्द अंग्रेजी भाषा के विरोधी नहीं थे। आवश्यकता पड़ने पर उसके कामचलाऊ ज्ञान के वे पक्षपाती थे। परन्तु उन्होंने अंग्रेजी के विषय में अपने पत्रों में जो दो बातें लिखी हैं, उनको दृष्टि में रखना प्रत्येक दयानन्द के अनुयायी का कर्तव्य है। उन्होंने १०० वर्ष पहले लिखा था—**"अंग्रेजी हमारी मातृभाषा हो चली है।"** और दूसरा—**"अंग्रेजी का प्रचार करना आर्यसमाज का उद्देश्य नहीं।"** ये अंश जिस पत्रांश में आये हैं, उन्हें हम पूर्व छाप चुके हैं।

जो आर्य प्रादेशिक सभा व डी० ए० वी० कालेज की प्रबन्धकर्तृ सभा अपने अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों के और नये-नये कालेजों के खोलने में अपनी महत्ता समझ रही है, उसके मुखपत्र **आर्यजगत्** के रविवार १४ जून १९९२ के अङ्क के मुखपृष्ठ पर शीर्षक है—

**प्रादेशिक सभा एवं डी० ए० वी० के उत्सव सम्पन्न**

**वेदों की ओर चलो : महर्षि के मन्तव्यों का प्रचार प्रसार करो**

जिन डी० ए० वी० कालेजों में संस्कृत की उच्चकोटि की शिक्षा देने के स्थान पर पाश्चात्य शिक्षा भी अंग्रेजी माध्यम से दी जाती हो, उसका घोष "**वेदों की ओर चलो**" क्या आत्मवञ्चनापूर्ण नहीं है ? वेद और वैदिक साहित्य संस्कृत में है। महर्षि दयानन्द ने भी संस्कृत के प्रचार-प्रसार पर ही बल दिया है। ऐसी स्थिति में महर्षि के मन्तव्यों का प्रचार-प्रसार कैसे होगा ? क्योंकि जब डी०ए०वी० कालेज के स्नातक वेद और वैदिक वाङ्मय से सर्वथा अपरिचित होंगे तो उनके आधार पर स्वीकृत महर्षि के मन्तव्यों का प्रचार-प्रचार कैसे किया जा सकता है ? क्या यह— **मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्**—का प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं है ? यदि आर्यों को वेदों की ओर आना है और महर्षि के मन्तव्यों का प्रचार-प्रसार करना है तो आर्यसमाज को वेद और वैदिक वाङ्मय के उत्कृष्ट पाण्डित्य को उत्पन्न करने की व्यवस्था करनी होगी। अन्यथा यह दिवास्पप्न ही बना रह जायेगा और यह भी स्थिति आ सकती है कि भावी आर्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्यभाषा में लिखे ग्रन्थों को समझने में भी असमर्थ हो जायें।

श्री पण्डित मदनमोहन मालवीय ने जब काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की तो एक पत्र में महात्मा गाँधी ने मालवीय जी को लिखा था—

**"गङ्गा के किनारे, हरिद्वार के जङ्गलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी की गङ्गा के किनारे बैठकर आप बच्चों को टेन्स का पानी क्यों पिला रहे हैं ?"** (द्रष्टव्य : श्री विष्णु प्रभाकर द्वारा लिखित एवं साहित्य अकादमी, दिल्ली से प्रकाशित "भारतीय साहित्य के निर्माता स्वामी दयानन्द सरवस्ती", पृष्ठ ९८)।

महात्माजी का यह लेख कालेज विभाग द्वारा सञ्चालित अंग्रेजी माध्यम के डी० ए० वी० स्कूल वा कालेजों पर भी पूर्णतया घटित होता है।

आर्यसमाज के पञ्चम युग का भी अर्धाधिक भाग बीत चुका है। इस भाग के अन्त में हमने एक नयी उपलब्धि प्राप्त की है।

आर्यसमाज सदा से आत्मबलिदानी व्यक्तियों का समुदाय रहा है। कम से कम ताम्रयुग तक तो यह स्थिति वर्तमान रही। परन्तु उत्तर काल में हमारे नेताओं में अनेक प्रकार की कमजोरियाँ आ गयीं। इसका प्रत्यक्षीकरण कोई भी व्यक्ति सार्वदेशिक सभा के भवन में प्रवेश करते समय अनुभव कर सकता है। सार्वदेशिक सभा के वर्तमान प्रधान पता नहीं अपने जीवन से इतने भयभीत हैं कि उन्हें अपने जीवन की रक्षा के लिए दरवाजे पर बन्दूकधारी प्रहरी नियत करने पड़े और 'दरवाजे के दोनों ओर धातुनिरीक्षक यन्त्र लगाने पड़े। आत्मा की नित्यता में विश्वास रखनेवाले पुराने आर्यों ने आत्मबलिदान द्वारा आर्यसमाज का जो गौरव बढ़ाया था, वह आज एक संन्यासी के द्वारा मिट्टी में मिल गया। भारत में सदा आत्मबलिदानी व्यक्तियों की पूजा होती रही है। वीर हकीकत राय और गुरु गोविन्द सिंह के पुत्रों ने धर्म पर अपना बलिदान करके भारत का जो गौरव बढ़ाया है,वह कोई पुरानी बात नहीं है। गुरु तेगबहादुर और बन्दा बैरागी का आत्मबलिदान भी जब तक भारत में भारतीय आर्य (हिन्दू) जीवित रहेगा, नहीं भुला सकता। परन्तु हमारे सर्वोच्च सभा के प्रधान ने अपनी रक्षा के लिए जो प्रयत्न किया है, वह आर्यमर्यादा के तो विपरीत है ही, प्रचार में भी बाधक है। यह हमारी इस समय की अन्तिम मनोदशा को सूचित करता है।

**विशेष**—यहाँ आत्मबलिदानी शब्द से हमारा अभिप्राय धर्म के लिए किसी शस्त्राघात आदि से मरने तक ही सीमित नहीं है (यद्यपि लोक में इतना सीमित अर्थ ही प्रसिद्ध है)। आत्मबलिदानी वे महापुरुष भी हैं, जिन्होंने ऋषि दयानन्द के आदेश के अनुपालन में अपने सम्पूर्ण जीवन को विभिन्न आपदाओं को सहन करते हुए समाप्त कर दिया। यथा—श्री पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी एम० ए०, श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए०, श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु आदि-आदि ! इन सबका बलिदान शस्त्राघात से मरनेवालों की अपेक्षा कहीं अधिक महान् है; क्योंकि शस्त्राघात से मरने में तो पीड़ा थोड़ी ही देर सहन करनी पड़ती है; परन्तु इन महानुभावों ने तो सम्पूर्ण विषम परिस्थितियों का पग-पग पर डटकर मुकाबला करते हुए जो जन्म भर कष्ट उठाया है, उसकी तुलना सम्भव नहीं है।

# साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति कैसे होती है ?

इस प्रकरण के आरम्भ में ही हमने स्वामी दयानन्द सरस्वती के उस लेख को उद्धृत किया है, जिसमें आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् उचित व्यवस्था न होने पर इसके भी एक सम्प्रदाय वा पन्थ बन जाने की आशङ्का व्यक्त की गई थी।

समस्त सम्प्रदायों की उत्पत्ति का इतिहास बताता है कि जब भी किसी महापुरुष ने जनता में व्याप्त किन्हीं दुर्गुणों या कमियों को दूर करने के लिए उपदेश वा प्रवचन किये वा कुछ ग्रन्थ लिखे, तो अपनी कमियों को या दुर्गुणों को छोड़ना प्रायः साहसिक व्यक्ति ही कर सकते हैं। साधारण जनता में इतना सामर्थ्य नहीं होता कि वे अपने महापुरुष के कथन को जीवन में उतार सकें। अतः शनैः-शनैः जनता मार्गदर्शक महात्माओं के उपदेश आदि से जैसे-जैसे कालकृत दूर होती जाती है, महात्माओं के नामस्मरण या जयघोष से ही अपना व महात्मा निर्दिशत मार्ग का कल्याण मानने लगती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी आर्यसमाज की स्थापना के समय कुछ नियम बनाये थे और अपने प्रवचनों में भी सदा संस्कृत भाषा तथा वैदिक वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन पर जोर देते रहे। आर्यसमाज के सम्प्रति प्रचलित नियम में भी लिखा है—**"वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"** इस नियम की पूर्ति के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान और वैदिक वाङ्मय का अध्ययन स्वयं आकृष्ट हो जाता है। इस नियम का तात्पर्य यही है कि संस्कृत भाषा सीखकर वैदिक वाङ्मय की सहायता से वेद का पढ़ना-पढ़ाना सुनना-सुनना सब आर्यों का परम धर्म है। ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भ में भी लिखा है—**"विद्वांस उक्तपूर्वं वेदार्थज्ञानसाहित्यपठनपुरःसरमृग्वेदमधीत्य।"** इसी दृष्टि से सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में समस्त वैदिक वाङ्मय सहित वेदाध्ययन की पाठविधि का उल्लेख किया है।

अनेक भावुक आर्य व्यक्ति ऋषि दयानन्द के आदेश का पालन करने के लिए उनके वेदभाष्य के हिन्दी अनुवाद का सहारा लेते हैं; परन्तु

हिन्दी अनुवाद भी पण्डितों का किया गया होने से प्रायः भ्रामक और अस्पष्ट है। इसलिये जब उन्हें हिन्दी अनुवाद से कुछ पल्ले नहीं पड़ता, तो वे वेदाध्ययन को छोड़ देते हैं। वेद को समझने के लिए जिस मूलभूत संस्कृत भाषा का ज्ञान आवश्यक है, उसके लिए वे प्रयत्नशील नहीं होते और न स्वामी दयानन्द सरस्वती के रचे गए, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ-प्रकाश आदि के द्वारा अपनी योग्यता बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। आर्य-समाज के प्रारम्भिक काल में पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी के सदृश कुछ ऐसे पुरुषार्थी व्यक्ति हुए, जिन्होंने ऋषि दयानन्द के आदेश को शिरो-धार्य करके संस्कृत का अध्ययन कर न केवल वेद समझने की योग्यता उत्पन्न की अपितु उन्होंने उनकी व्याख्याएँ भी लिखीं। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवनचरित में आता है कि उनके पिता ने मृत्यु से एक वर्ष पूर्व अपने पुत्र की प्रेरणा से संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया था और छह महीने की अवधि में ही अपने पुत्र को संस्कृत में पत्र लिखा था, जो प्रायः शुद्ध था।[1] यदि संस्कृत भाषा सीखने की यह लगन आर्यसमाज में जारी रहती तो आर्यसमाज संस्कृतज्ञप्रधान समाज होता।

उत्तरकाल में जब आर्यों की वेद के स्वाध्याय में अरुचि होने लगी तो उन्होंने दर्शन एवं उपनिषदों के हिन्दी व उर्दू अनुवादों का अध्ययन आरम्भ किया और साथ में ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का स्वाध्याय करने लगे। जब तक आर्यसमाज में यह परिस्थिति भी कायम रही, तबतक आर्यसमाज का सदस्य किसी न किसी प्रकार वेद और वैदिक वाङ्मय से सम्बद्ध रहा। परन्तु शनैः-शनै यह प्रवृत्ति घटने लगी और प्रायः समाप्त ही हो गई। यदि आज की समाजों के अधिकारियों और शिरोमणि सभाओं के अधिकारियों से शपथपूर्वक पूछा जाय, तो ऐसे विरले ही व्यक्ति मिलेंगे, जिन्होंने सत्यार्थप्रकाश को भी अथ से इति तक पढ़ा हो। यही कारण है कि आर्यसमाज अपने ज्ञान वा आचरण के द्वारा समाज की श्रीवृद्धि करने में असमर्थ हो रहा है। वह केवल साप्ताहिक अधि-वेशनों तथा विशिष्ट अवसरों पर "दयानन्द अमर हो" "आर्यसमाज अमर हो" जैसे थोथे नारे लगा कर ही यह समझते हैं कि हमने अपनी भावना व्यक्त कर दी और दयानन्द वा आर्यसमाज इन नारों के आधार पर ही बना रहेगा। यह ठीक वैसा ही है जैसे कबूतर बिल्ली को

---

१. लाला लाजपतराय द्वारा लिखित "पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी का जीवन और कार्य", हिन्दी संस्करण पृष्ठ १५।

देखकर आँखें बन्द कर लेता है और यह समझता है कि मैं बिल्ली को नहीं देख रहा, तो बिल्ली भी मुझे नहीं देखती होगी। इस प्रकार वह बिल्ली का शिकार बन जाता है। चाहिए तो यह था कि आर्य व्यक्ति अपने जीवन के उच्चतम गुणों और ज्ञान की छाप आर्यसमाजेतर विद्वानों पर डालता, जिससे वे दयानन्द और आर्यसमाज के नामलेवा बनते। परन्तु यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। उपनिषद् के शब्दों में "**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**" के अनुसार छुरे की धार पर चलने के समान अर्थात् दयानन्द और उसके कार्यों के प्रति अपने आपको सर्वथा सर्वदा के लिये समर्पित करने के समान है। जितने भी सम्प्रदाय बने हैं, उनकी उत्पत्ति का भी यही रहस्य है कि महापुरुषों के आदेश पर न चलकर केवल उनके नाम पर ही जीने का या अपनी अलग पहचान बनाने का प्रयत्न करना है।

इस प्रकार समस्त सम्प्रदायों को नष्ट करके सबको एक वेद के झण्डे के नीचे एकत्रित करने की इच्छावाले स्वामी दयानन्द सरस्वती का आरोपित पौधा आर्यसमाज भी आज पूरी तरह एक सम्प्रदाय बन चुका है। हम इस सत्य को स्वीकार करें या न करें; परन्तु यह आर्यसमाज की गतिविधि से स्पष्ट है।

# वैदिक-धर्म-प्रचार यथेष्ट क्यों नहीं हुआ ?

विगत १०० वर्षों में अनेक नये-नये मतमतान्तर देश में प्रकट हुए; परन्तु उनका अल्प समय में जितना प्रचार हुआ, उसकी तुलना में वैदिक धर्म का प्रचार सर्वथा नगण्य है। इसका क्या कारण है कि सिद्धान्तरूप में वैदिक धर्म के सिद्धान्त सर्वोच्च होते हुए भी जनता में यथेष्ट प्रचारित नहीं हुए। इसके कई एक कारण हैं। उनमें से हम कुछ का उल्लेख नीचे कर रहे हैं—

(१) सहस्रों वर्षों से मतमतान्तरों के प्रचार की जो व्यवस्था चली आ रही थी, उसका यथेष्ट अध्ययन न करके हमने कोई उसके प्रतिपक्ष में नई व्यवस्था व्यवस्थित नहीं की; अपितु कई विषयों में उचित व्यवस्था को सँवारने का प्रयत्न कर हमने उनका परित्याग कर दिया। आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व तक प्रत्येक मतमतान्तर के प्रचारक गाँवों में पहुंचकर अपना प्रचार किया करते थे। कम-से-कम चौमासे में तो नियमित रूप से भागवत आदि के कथावाचक गाँवों में जाकर कथा आदि किया करते थे। इसी प्रकार पुरोहित वर्ग में जो प्रत्येक कुटुम्ब का नियत होता था, वह समय-समय पर करने योग्य व्रत-त्यौहार आदि का निर्देश घर-घर जाकर किया करता था। पुरोहित वर्ग का प्रत्येक घर में अबाध प्रवेश था। माता, बहन, बेटियों के साथ सीधा सम्पर्क रखते थे। हमने इन दोनों व्यवस्थाओं का ही परित्याग कर दिया। अतः हमारा सम्बन्ध ग्रामीण वा शहरी क्षेत्रों में घरों तक (माताओं, बहनों आदि तक) नहीं पहुंच सका।

(२) भारत की अस्सी प्रतिशत जनता गाँवों में वा दूर-दराज की बस्तियों में रहती है। उन तक हमारा कोई उपदेशक जाने को तैयार नहीं होता।

इसका कारण यह है कि हमारे उपदेशक प्रायः शहरी अथवा कस्बों के रहनेवाले होते हैं। शहरी सुविधा और भोजनादि की व्यवस्था ग्रामों में उनको उपलब्ध नहीं होती, इसलिए वे ग्रामीण क्षेत्रों में जाना पसन्द ही नहीं करते। हमने विगत काल में उपदेशक तैयार करने के जो भी

प्रयत्न किए, उनमें अधिकांश छात्र शहरी अथवा कस्बों के ही थे। हमने ग्रामीण क्षेत्र के बालकों को लेकर ग्रामीण वातावरण में रखकर वैदिक धर्म की शिक्षा देने का प्रयत्न अतीत में किया ही नहीं। जो भूले-भटके ग्रामीण क्षेत्र के बालक उपदेशक विद्यालयों वा गुरुकुलों में प्रविष्ट हुए, उनके रहन-सहन में अत्यधिक परिवर्तन आ जाने के कारण तथा अपने को ग्रामीणों से भिन्न समझने के कारण न वे ग्रामों में गये और न उनसे मेल-मिलाप बढ़ा सके। ऐसी अवस्था में ग्रामों में हम प्रचार करने में सर्वथा असफल रहे।

(३) हमारा देश बहुत बड़ा है। प्रत्येक प्रान्त की भाषा, रहन-सहन और खान-पान भिन्न-भिन्न है। इसलिए किसी एक प्रान्त का उपदेशक दूसरे प्रान्त के ग्रामों में जाने से कतराता है। हमें चाहिये था कि प्रत्येक प्रान्त में ऐसे उपदेशक तैयार करते, जो उस प्रान्त के ग्रामीण रहन-सहन और भोजन-छादन में अरुचि रखनेवाले न हों। भला पञ्जाब का उपदेशक राजस्थान के उन ग्रामों में जाकर प्रचार कैसे कर सकता है, जहाँ बारहों महीने गुञ्जी, बेझड़, जौ, मक्का या बाजरा खाया-पिया जाता है। यदि ऐसे स्थान पर वह चला भी जायेगा तो स्थानीय भोजन उसके लिए सात्म्य न होने के कारण वह बीमार पड़ जायेगा।

(४) यही स्थिति भाषा-भेद की है। हमारे सभी उपदेशक विद्यालय हिन्दी के माध्यम से उपदेशक तैयार करते हैं। वे जब भिन्न भाषावाले क्षेत्र में जाकर प्रचार करते हैं तो शहरों के कुछ लोग जो हिन्दी भाषा समझते हैं, लाभ उठा सकते हैं। प्रान्तीय भाषा से इतर भाषा को न समझनेवाली जनता किसी प्रकार का लाभ नहीं उठा सकती। इसलिए आवश्यक यह था कि प्रत्येक प्रान्त की स्थानीय भाषा में हम उपदेशक तैयार करते, परन्तु यह कार्य हमने नाममात्र भी नहीं किया। ऐसी स्थिति में जिन प्रान्तों में हिन्दी बोली वा समझी जाती है, उन प्रान्तों के अतिरिक्त दूसरे प्रान्तों में स्थानीय लोगों में हम वैदिक धर्म का प्रचार करने में असमर्थ रहे।

(५) अहिन्दीभाषी क्षेत्रों के शहरों में जहाँ आर्यसमाजें स्थापित हुईं, वे आर्य व्यक्ति व्यापार आदि के लिए उन प्रान्तों में जाते समय अपने साथ वैदिक धर्म के कुछ संस्कार लेकर गये। इनमें पञ्जाबी और मारवाड़ी प्रधान हैं। इन लोगों मे जब आर्यसमाज की स्थापना की तो उस पर इन्हीं लोगों का वर्चस्व बना रहा।

इतने सुदीर्घकाल में अहिन्दी क्षेत्र के अनेक विद्यार्थियों ने उत्तरभारत में आकर गुरुकुलों और उपदेशक विद्यालयों में प्रवेश पाकर वैदिक धर्म की दीक्षा ली; परन्तु उनमें लगभग ९० प्रतिशत व्यक्ति उत्तर भारत में ही रह गये। अपने-अपने प्रान्तों मे जाकर स्थानीय भाषा के माध्यम से आर्यसमाज का प्रचार करने से वे दूर रहे। इस समस्या का मूल कारण क्या है? इस पर हमने कभी विचार नहीं किया। हमारी सभाएँ अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में प्रचार के नाम पर हिन्दी जाननेवालों को भेजती रहीं। उसका लाभ शहरों की अतिसीमित जनता तक हुआ। यदि हम संस्कृत के दिग्गज विद्वान् उत्पन्न करके उन्हें भी अहिन्दीभाषी क्षेत्रों को भेजते तो संस्कृत भाषा के माध्यम से वहां के विद्वज्जनों में पर्याप्त जागृति उत्पन्न कर सकते थे; क्योंकि इन क्षेत्रों में धर्मप्रधानभाषा संस्कृत ही है और इसके जाननेवाले शहरों और कस्बों में यथेष्ट संख्या में उपलब्ध होते हैं।

इन क्षेत्रों में केवल खण्डनात्मक प्रचार-पद्धति उपयोगी नहीं है; अपितु मण्डनात्मक पद्धति तथा प्रत्येक मतमतान्तर की तुलनात्मक पद्धति पर किया गया प्रचार ही सफल हो सकता है। यह मेरा निजी अनुभव है।

(६) **स्थानीय प्रचारसमर्थ व्यक्तियों का सहयोग न लेना**—हमारे पाणिनि महाविद्यालय (बहालगढ़, सोनीपत) में तथा उससे पूर्व भी अनेक मद्रासी, कन्नड़भाषी, मराठीभाषी तथा गुजराती आदि के छात्र अध्ययन के लिए आते रहे। मैं सबसे कहा करता था कि वे अपने-अपने प्रान्तों में जाकर प्रान्तीय भाषा में वैदिक धर्म के सिद्धान्तों को जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न करें। उनमें से कुछेक व्यक्तियों ने अपने प्रान्तों में जाकर प्रचार कार्य करना चाहा। उसके लिए पूर्वस्थापित आर्यसमाजों से सहायता की आवश्यकता थी; परन्तु हुआ उलटा। इन प्रान्तों में जितनी समाजें स्थापित हैं, उन पर या तो पञ्जाबियों का आधिपत्य है या मारवाड़ियों का। जब उत्तर भारत से पढ़कर विद्यार्थी जिनमें वैदिक धर्म के प्रचार की लगन थी, इन अधिकारियों से सम्पर्क किया तो उन्होंने उनकी सहायता करना तो दूर, उलटा उनका विरोध किया। यह मैं सर्वथा सत्य बात लिख रहा हूं। जिन व्यक्तियों का पूर्वोक्त मठाधीशों ने विरोध किया, उनके मैं नाम गिना सकता हूं, परन्तु उससे लाभ कुछ नहीं। आवश्यकता है हमें अपनी व्यवस्था में सुधार करने की, जिससे इन प्रान्तों के विद्यार्थी उत्तर भारत में शिक्षित होकर अपने प्रान्तों में लौटें तो

उन्हें यथेष्ट सम्मान व प्रचार में सहयोग प्राप्त होवे। केवल एक व्यक्ति श्री पण्डित विज्ञानभिक्षुजी जो कुछ काल मेरे पास रहे थे, अपने कार्यों में सफल हुए और लगभग ३० वर्ष से मङ्गलूर आदि में वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे हैं। इनके विरुद्ध भी आर्यसमाज ने अनेक अवरोध उत्पन्न किए; परन्तु जहाँ वे अपनी लगन के पक्के थे, वहाँ एकाकी व्यक्ति थे। अतः आवश्यकताएँ अधिक न होने से विघ्नबाधाओं की इन्होंने परवाह नहीं की। जहाँ आर्यसमाजियों ने आर्यसमाज से इनको खदेड़ा, वहाँ ईसाइयों ने उन्हें अपने प्रचार के लिए स्थान आदि की सुविधा प्रदान की।

(७) **आर्यसमाज की प्रतिनिधि सभाओं द्वारा प्रचार कार्य में बाधा डालना**—पूज्य पिताजी ने नीमाड़ प्रान्त में ग्रामों में आर्यसमाज का प्रचार करने के लिए पण्डित सुखवासीलाल का एक मास तक कार्य देख कर और उस कार्य से सन्तुष्ट होकर खरगोन आदि की आर्यसमाजों की आर्थिक सहायता से नियत किया और उसकी सूचना "आर्यप्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा"[1] के मन्त्रीजी को यथा समय दे दी। साथ में यह भी लिख दिया कि इनके व्यय का भार सभा पर नहीं पड़ेगा। यहीं से प्रबन्ध किया गया है। परन्तु मन्त्री आर्यप्रतिनिधि सभा अजमेर ने उत्तर में लिखा, "**आपको इस तरह का कार्य करना उचित नहीं। इससे संगठन में बाधा प्रतीत होती है।**"

यह स्थिति सन् १९२६ की है, जब पिताजी महेश्वर में रहते थे।

(८) **साधारण व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले महत्त्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा**—पिताजी इन्दौर स्टेट में अध्यापक थे। इन्दौर स्टेट के कर्मचारियों की एक "इन्दौर स्टेट सरकारी कर्मचारी कुटुम्ब सहायक सभा" कई वर्षों से कार्यरत थी। इसका साधारण नियम यह था कि इस सभा के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर सभी सदस्यों से एक-एक रुपया उगाह कर प्राप्त धन में से कुछ अंश सभा के कार्य के लिये रखकर शेष ९० प्रतिशत अंश मृत सभासद के कुटुम्बियों को दे दिया जाता था। उस काल में किसी साधारण परिवार को एक साथ हजार-बारह सौ रुपया प्राप्त

---

१. उस काल में मालवा प्रान्त की आर्यसमाजों का भी राजस्थान प्रतिनिधि सभा के साथ ही सम्बन्ध था। अतः सभा के नाम में मालवा पद का निर्देश भी किया जाता था।

होने पर जो राहत पहुंचती थी, उसे वे लोग दैवी सहायता समझते थे। पिताजी के मन में उक्त सभा के अनुरूप "आर्य कुटुम्ब सहायक द्रव्यनिधि" बनाने की प्रेरणा हुई, जिससे साधारण आर्यजनों को कमाऊ मुखिया के निधन पर कुछ राहत प्राप्त हो सके। उसके लिए नियमावली आदि छपवाकर सभा में यह विषय उपस्थित किया गया। यतः सभा के अधिकारीगण प्रायः धनाढ्य होते हैं, उनके लिए हजार-बारह सौ रुपया न कोई मूल्य रखता है और न वे साधारण परिवार की आर्थिक कठिनाइयों से परिचित होते हैं, इसलिए इस विषय के विचार के लिए एक उपसमिति नियत कर दी गयी। यह सामान्य नियम है कि सभा के अधिकारी जिस कार्य को नहीं करना चाहते हैं, उसका सीधा विरोध न करके उपसमिति बना देते हैं। पिताजी के आगामी दस वर्ष के जीवनकाल में अनेक बार प्रयत्न करने पर भी न उपसमिति की बैठक हुई और न इस विषय में कोई निर्णय लिया गया, जबकि इस कार्य का फल प्रत्यक्ष जाना जा सकता था।

आर्यसमाज में प्रायः आदिकाल से ही आर्यसमाज वा प्रतिनिधि सभाओं के अधिकारी धनाढ्य व्यक्ति ही बनाए जाते हैं। इनमें न धर्म के प्रति पूरी आस्था होती है और न प्रचार की लगन। सब कार्य इनके द्वारा सञ्चालित होने से भी आर्यसमाज के प्रचार कार्य में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। वस्तुतः आर्यसमाज में विद्या और तप की तुलना में धन को प्रमुखता देने से प्रचार कार्य करनेवाले उपदेशक प्रायः इनके अधीन रहते हैं। इनके किसी कार्य का विरोध करने की उनमें शक्ति नहीं होती।

ऊपर सातवें-आठवें की जो घटना लिखी है, उसका पूरा विवरण प्रतिनिधि सभा के पत्रादि के हवाले से मैंने "आत्म-परिचय" में यथास्थान विस्तार से लिखा है।

(९) **विधवाश्रम की स्थापना**—आर्यसमाज द्वारा आरम्भकाल में अनेक स्थानों पर विधवाओं को ईसाई-मुसलमानों के चँगुल से बचाकर उनको जीवनयापन की सुविधा देने के लिए विधवाश्रमों की स्थापना की गयी। उद्देश्य बड़ा पवित्र था; परन्तु कालान्तर में ये विधवाश्रम व्यभिचार के अड्डे बन गये। कम-से-कम तीन-चार विधवाश्रमों के सम्बन्ध में मैं भली प्रकार जानता हूं। विधवाश्रमों के रक्षक ही प्रायः इस कुत्सित कार्य में लिप्त हो गए। अनेक विधवाश्रमों के विरुद्ध न्यायालय

में मुकदमे भी चले। फल यह हुआ कि अन्त में विधवाश्रमों की स्थापना का सिलसिला बन्द करना पड़ा।

(१०) **मन्त्री वा प्रधान के अनुमतिपत्र के बिना आर्यसमाज मन्दिर में प्रवेश न करने देना**—आरम्भकाल में बाहर से आये किसी आर्य व्यक्ति को बिना मन्त्री वा प्रधान के अनुमति पत्र के ठहने का अधिकार था या नहीं, यह मैं नहीं जानता। परन्तु लगभग ६० वर्ष से यह प्रथा प्रचलित है कि कोई भी बाहरी आर्य व्यक्ति को आर्यसमाज मन्दिर में सेवक ठहरने नहीं देता। सन् १९२८ में इन्दौर के मल्हारगंज आर्यसमाज में रात को लगभग दो बजे मैं पहुंचा। वर्षा हो रही थी। स्थानीय सामने के मकान के स्वामी के यह कहने पर भी कि मैं इनके पिता को जानता हूं, सेवक ने दरवाजा नहीं खोला। वीतराग पूज्य स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज एक बार दस बजे रात की गाड़ी से उतर कर आर्यसमाज मन्दिर अजमेर गए। यद्यपि स्वामीजी ने अपने आने की सूचना मन्त्री जी को दे दी थी; परन्तु वे सेवक को कहना भूल गए थे (स्वामीजी महाराज इससे पहले भी कई बार अजमेर जा चुके थे)। अतः सेवक ने उन्हें ठहरने नहीं दिया। स्वामीजी पास की एक मस्जिद में जाकर ठहर गए। मौलवी ने उन्हें सत्कारपूर्वक दूध आदि मँगाकर उनकी सेवा की।[1] मेरे पर तो इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना का इतना प्रभाव पड़ा कि लगभग ५० वर्ष तक मैंने आर्यसमाज मन्दिर में ठहरने का विचार ही नहीं किया। यात्राओं में धर्मशाला, अन्य मतावलम्बियों के मन्दिरों वा गुरुद्वारों में ठहरता रहा। मन्दिर चाहे किसी भी समाज का हो, एक सार्वजनिक स्थान है, उसमें किसी के भी (जिसका आचरण नियम-विपरीत न हो) ठहरने का अधिकार है। सिक्खों के गुरुद्वारों में बाहर के अतिथियों के ठहरने की उन दिनों बड़ी सुन्दर व्यवस्था रहती थी। बाहर से जानेवाला हर एक आर्य व्यक्ति आर्यसमाज को अपना घर समझकर अन्यत्र ठहरने की बजाय, वहाँ ठहरना चाहता है; परन्तु अधिकारियों के द्वारा आर्यसमाज पर थोपे गए नियमों के कारण उसे कभी-कभी बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। अतिथिसेवा आर्यधर्म का एक प्रधान अङ्ग है। इसके द्वारा भिन्न विचार

---

१. इन दोनों घटनाओं का विस्तृत वर्णन मेरे "आत्म-परिचय" पृष्ठ ८७-८८ तक (द्वि० सं०) में देखें।

वाले व्यक्तियों को भी अपने उदार सेवावृत्ति से अपने अनुकूल बनाया जा सकता है।

सम्भव है इस बन्धन की प्रवृत्ति उस काल में हुई होगी, जब अंग्रेज सरकार के विरुद्ध क्रान्तिकारी और अन्य व्यक्ति कार्यरत थे। समाज पर अंग्रेज सरकार की कुपित दृष्टि न पड़े, इसलिए यह व्यवस्था की गई हो; परन्तु ऐसी स्थिति में भी सामाजिकता की दृष्टि से यह नियम अवैध है। क्योंकि देश के नौजवान और स्वतन्त्रतासेनानी देश को स्वतन्त्र कराने के लिए सिर पर कफन बाँधकर कार्य कर रहे हों, उस काल में देश में अपना राज्य देखने के अभिलाषी स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायियों द्वारा उन्हें आर्यसमाज से दूर रखना सर्वथा अनुचित था। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भी यह नियम पूर्ववत् जारी है, जिसकी आज कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसके पीछे अधिकारियों का अभिमान ही एकमात्र कारण है। हाँ, यह ठीक है कि आर्यसमाज में ठहरनेवाले व्यक्ति के लिए कुछ उचित नियमों का पालन करना आवश्यक है।

(११) **आर्यसमाज में कन्यापाठशालाएँ चलाना या उन्हें जञ्ज (बारात) घर बना देना**—आर्यसमाज में बाहर से आये आर्य व्यक्ति को इसलिए नहीं ठहराया जाता था, कि उनमें प्रायः कन्यापाठशालाएँ चलती हैं। इसी प्रकार अनेक बड़ी-बड़ी आर्यसमाजों ने अपने मन्दिरों का उपयोग बारातों के ठहराने का अविज्ञात कुलशील युवक युवतियों के विवाह सम्पन्न कराने के लिए करना शुरू कर दिया है; क्योंकि इससे उन्हें काफी रुपया प्राप्त हो जाता है। अनेक समाजों में तो विवाह आदि के समय माँस और शराब आदि का भी प्रयोग होता देखा गया है। अब तो किसी नगर में आर्यसमाज का पता पूछने पर उत्तर देनेवाला पूछता है कि आपका मतलब उस जगह से है, जहाँ भागे हुए प्रेमी युवक-युवतियों का विवाह कराया जाता है? तात्पर्य यह है कि दिन-प्रतिदिन आर्यसमाज मन्दिर की धार्मिकता नष्ट हो रही है और हम अनधिकृत कामों से प्राप्त होनेवाले धन के लालच में फँसते जाते हैं।

ये कुछ कमियाँ हैं, जो आर्यसमाज की व्यवस्था में मैं चिरकाल से अनुभव कर रहा हूं। कहाँ तो एक समय वह था, जब बाहर का कोई आर्य व्यक्ति किसी समाज में आकर "**नमस्ते**" कहता था, तो केवल एक शब्द से ही आत्मीयता का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता था। बाहर का

व्यक्ति अपने को स्थानीय आर्यकुटुम्ब का अन्यतम सदस्य समझता था। पर ये सब बातें हमारे वैदिक धर्माचरण के विलोप के कारण लुप्त हो गयीं और आर्यसमाज भी एक पंथ बनने की ओर तीव्रता से बढ़ रहा है। इससे आर्यसमाज की जो सङ्गठनात्मक शक्ति थी, वह नष्ट हो गयी। यहाँ हमने महात्मा गाँधी जैसे विश्वविख्यात नेता द्वारा विरोध करने पर भी अपनी स्वशक्ति से दुर्दान्त हैदराबाद की निजामशाही को छह महीने में ही घुटने टेकने को मजबूर कर दिया, वहाँ गोरक्षा आन्दोलन और हिन्दी रक्षा आन्दोलन के समय अपनी शक्ति पर भरोसा न करके अन्य मतावलम्बियों के सहयोग से चलाने का निश्चय किया, फलस्वरूप ये दोनों आन्दोलन ऐसे असफल हुए कि अब हिन्दीरक्षा या गोरक्षा आन्दोलन चलाने की बात कोई सोचता ही नहीं, जबकि हमारी सरकार के द्वारा इन दोनों विषयों में प्रतिदिन आपत्तिजनक कार्य हो रहे हैं।

# पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी को शक्तिपात द्वारा

## वेदार्थ का ज्ञान कराना

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद और वेदार्थ के उद्धार के लिए जो पूर्वनिर्दिष्ट तीन कार्य किये, उसमें आर्षपाठविधि का कार्य सबसे महत्त्व-पूर्ण है; क्योंकि इसके द्वारा सत्य वेदार्थ तक पहुंचा जा सकता है। पर इस पाठविधि से अध्ययन करने के लिए भी ३२-३३ वर्ष चाहिए। साथ ही इस आर्षपाठविधि के अनुसार पढ़ानेवाले अध्यापक भी उपलब्ध नहीं थे।

स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी फर्रुखाबाद, मिर्जापुर, कासगंज, छलेसर, काशी और लखनऊ में पाठशालाएँ स्थापित कीं या करायी थीं, परन्तु आर्षग्रन्थों के पढ़ानेवाले योग्य अध्यापकों के न होने से वे पाठशालाएँ न चल सकीं। इतना ही नहीं, जब महात्मा मुंशीराम (स्वा० श्रद्धानन्द) ने हरिद्वार के निकट काँगड़ी गाँव में गुरुकुल आरम्भ किया, तो उसमें पढ़ानेवाले पौराणिक मतानुयायी अध्यापकों को ही रखना पड़ा और उन्होंने स्पष्ट कहा कि अष्टाध्यायी से व्याकरण के पण्डित नहीं बन सकते। यदि पण्डित बनाना है तो कौमुदी, मनोरमा आदि पढ़ाना पड़ेगा। काँगड़ी में आरम्भ से ही जो विवाद पैदा हुआ, उसका फल यह हुआ कि इतने वर्ष में भी कोई वैयाकरण उत्पन्न नहीं हुआ। व्याकरण जो वेदाङ्गों में प्रथम है, उसकी सदा उपेक्षा रही। उसकी उपेक्षा के कारण अन्य विषयों में भी दो-तीन व्यक्तियों के अति-रिक्त कोई पण्डित पैदा नहीं हुआ।

यतः आर्षपाठविधि के अनुसार पढ़कर विद्वान् बनने के लिए बहुत काल विवक्षित है और इस काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा किया गया वेदार्थ का उद्धार कार्य लुप्त हो सकता था। अतः उन्होंने एक तात्कालिक उपाय किया। वह था अत्यन्त मेधावी और पाश्चात्य विज्ञान के विद्यार्थी श्री गुरुदत्त को शक्तिपात द्वारा वेदज्ञान में दीक्षित करना।

जिस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती का अन्तकाल उपस्थित हुआ, तब उन्होंने उपस्थित सब अनुयायियों को सिरहाने की ओर खड़े होने का आदेश दिया। उसका एक अभिप्राय यह था कि मेरे पश्चात् तुम्हें मैंने जो उपदेश दिया है या ग्रन्थ लिखे हैं, उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करना।

दूसरा प्रयोजन यह था कि अन्त समय में ईश्वर के स्मरण में किसी तरह का व्याघात न हो। परन्तु गुरुदत्त विद्यार्थी इसके अपवाद थे। वे एक ओर ऐसे स्थान पर खड़े थे, जहाँ ऋषि की दृष्टि बिना व्यवधान के पड़ रही थी। यद्यपि शक्तिपात कार्य में शक्तिपात करनेवाले और जिस पर शक्तिपात का प्रयोग किया जाय, उसका आमने-सामने रहना अनिवार्य नहीं, परन्तु दोनों के आमने-सामने होने से अल्प प्रयास द्वारा शक्तिपात किया जा सकता है। जादूगर भी दृष्टिबन्ध द्वारा अपने द्रष्टाओं को आश्चर्य भरे कार्य दिखलाने में समर्थ होते हैं, यद्यपि यह भी अल्पकाल का एक प्रकार का शक्तिपात ही है, परन्तु इसके लिए लोक में जो दृष्टिबन्ध शब्द प्रयुक्त होता है, वह उचित है।

यद्यपि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुरुदत्त विद्यार्थी को अपने विशिष्ट कार्य के लिए योग्यतम समझा, इसलिए उन्होंने गुरुदत्त विद्यार्थी में शक्तिपात द्वारा वेदार्थ के विशेष ज्ञान को सञ्चरित किया। इसीलिए हम उनके जीवन में इस घटना के कुछ काल पश्चात् ही वेद-विषयक गहन उपदेश देते हुए पाते हैं।[1] उन्होंने वेदविषयक अंग्रेजी में कुछ लेख लिखे, उनको पाश्चात्य विद्वानों ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना।

यतः स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूर्वलिखित तीन कार्य उनके पश्चात् यथावत् सम्पन्न नहीं हो पाये, इसी प्रकार गुरुदत्त विद्यार्थी में शक्तिपात द्वारा जो विशिष्ट कार्य करना चाहते थे, वह उनके अल्पायु २७ वर्ष की अवस्था में निधन के कारण यथावत् सम्पन्न न हो सका, किन्तु उनके पश्चात् जब भी वेदार्थवेत्ताओं की गणना होती है, तो सबसे

---

१. द्र०—लाला लाजपतराय कृत पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का जीवन-चरित। पं० गुरुदत्त और उनके कार्य पर लाला लाजपतराय ने जो लिखा है, वह विशेष प्रामाणिक है, क्योंकि लालाजी उनके सहयोगी और मित्र थे।

पहले गुरुदत्त विद्यार्थी का ही नाम स्मरण किया जाता है। उनके अल्पायु में निधन होने का कारण आयुविषयक कर्म का अल्प होना प्रमुख रहा हो, परन्तु प्रत्यक्ष में उनकी ज्ञानार्जन पिपासा के अधिक होने से स्वस्थता के नियमों का यथावत् पालन न करना भी एक प्रमुख कारण माना जाता है।

आर्यसमाज के विद्वान् मेरे इस शक्तिपात के प्रयोग को गप्प मानें चाहे इसके विरोध में कुछ भी कहें, परन्तु मैं इसे सर्वथा सत्य ऐतिहासिक घटना मानता हूं, क्योंकि मैंने ऐसी कुछ घटनाएँ प्रत्यक्ष देखी हैं।

# परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

# स्वामी दयानन्द सरस्वती को समग्ररूप में न समझने के कारण होनेवाली भ्रान्तियों का

## एक नवीनतम उदाहरण

परोपकारी मासिक पत्र (अजमेर) के मई १९९० के अङ्क के मुख-पृष्ठ पर (जिसका शेष भाग आवरण पत्र के तृतीय पृष्ठ पर पूरा हुआ है) **'इतिहास के हस्ताक्षर'** के रूप में पं० कालूरामजी के लिये लिखे गये उपदेशों का एक पत्रा (खरड़ा) छपा है। उससे **आर्यसमाज के क्षेत्र में महती हलचल मच गई है**। इसके विरोध में कुछ लेख छपे हैं और सम्भव है आगे भी छपें।

**दो आलोचनाएँ**—एक आलोचना यमुना नगर के इन्द्रजित्जी देव की 'सर्वहितकारी' (साप्ताहिक) के ७ और १४ जुलाई के अङ्कों में छपी है। ७ जुलाई के अङ्क में केवल उक्त पत्रे की प्रतिलिपि ही छपी है, १४ जुलाई के अङ्क में विस्तृत आलोचना है। उसे पढ़कर मैंने उसकी समीक्षा में एक लेख लिखकर सर्वहितकारी के सम्पादक को भेज दिया है। उस समय तक मुझे यह ज्ञान नहीं था कि श्री उपेन्द्ररावजी द्वारा लिखित आलोचना हमारी 'वेदवाणी' पत्रिका के अक्टूबर १९९० के अङ्क में भी छप रही है। (इसका कारण यह है कि मैं अस्वस्थता के कारण कभी बहालगढ़ तो कभी फरीदाबाद रहता हूं)। जब वेदवाणी का अङ्क छप-कर कार्यालय में पहुंचा, तब उसे देखने पर उक्त आलोचना के छपने का मुझे ज्ञान हुआ। १ जुलाई के सार्वदेशिक पत्र में भी उक्त पत्र छपा है। सम्पादक ने केवल प्रथम उपदेश के सम्बन्ध में ही सामान्य सी टिप्पणी दी है। अस्तु।

ऋषि दयानन्द के द्वारा लिखे पत्र वा पत्रे का किसी मान्य संस्था द्वारा प्रकाशन होने पर आलोचना लिखनेवालों का यह कर्तव्य है कि प्रकाशन संस्था से पूछे कि उन्हें उक्त पत्र कहाँ से, किससे और कब प्राप्त

हुआ। उसका विवरण प्राप्त होने के पश्चात् यदि सन्तुष्टि न हो और आलोचना करनी युक्त हो तो अवश्य की जाये। परन्तु हमारे आर्य-सामाजिक लेखकों को न तो किसी बात की गहराई तक पहुंचने की इच्छा ही होती है और न उसमें लगनेवाले समय की प्रतीक्षा करने की शक्ति। वे तो 'हम दयानन्द के मन्तव्यों के रक्षक हैं' इस भावना से बिना गहराई तक विचार किये चटपट आलोचना लिखकर छपवा देते हैं।

**वस्तुस्थिति**—परोपकारी के सहसम्पादक पं० धर्मवीरजी ऋषि के प्रति अत्यन्त भावुक व्यक्ति हैं। उन्हें कुछ वर्ष पूर्व परोपकारिणी सभा के पुराने कागजों में ऋषि दयानन्द के लगभग ४० पत्र ऐसे उपलब्ध हुए, जो उस समय तक छपे नहीं थे। पं० धर्मवीरजी ने इन पत्रों को यथावत् रूप में प्रकाशित करने की इच्छा से इनके ब्लाक बनवाकर पहले 'परोपकारी' पत्र में, पश्चात् स्वतन्त्र पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। (इसमें ४-५ वे पत्र भी हैं, जो पहले परोपकारी में छप चुके थे)। पं० धर्मवीरजी को ज्ञात था कि रामलाल कपूर ट्रस्ट के संग्रह में भी कुछ पत्र हैं। उन्हें प्राप्त कर ब्लाक द्वारा छपवाने की इच्छा से वे मेरे पास बहालगढ़ आये। मैंने उन्हें कहा कि मूल लिखित पत्र तो हमारे संग्रह में नहीं है, ३-४ नये पत्रों को छोड़कर पूर्व छपे पत्रों की फोटोस्टेट कापी है। उन्होंने उस संग्रह को देखा और कहा कि यदि आप कुछ समय के लिये इन्हें दे देवें तो मैं इनके भी ब्लाक बनवाकर आपको लौटा दूँगा। ब्लाक से छापने पर पत्र चिरकाल के लिये स्थायी हो जायेंगे और सैंकड़ों पाठकों तक पहुंच जायेंगे, यह विचार कर मैंने ट्रस्ट के संग्रह के लगभग ३५ पत्र उन्हें दे दिये। अब लगभग डेढ़ दो वर्ष से परोपकारी पत्र के मुखपृष्ठ पर जो पत्र छप रहे हैं, वे हमारे संग्रह के हैं। इन्हीं में कालूरामजी के उपदेशवाला वह पत्र भी है, जो चर्चा का विषय बन गया है।

**पत्र, विज्ञापन, उपदेश वा प्रवचन में देश-काल-स्थिति का ध्यान रखना**—ऋषि दयानन्द स्व सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते थे, परन्तु कभी-कभी देश, काल और परिस्थिति को ध्यान में रखकर सिद्धान्तों में कुछ ढील देने की बात भी लिख देते थे वा प्रवचनों में कह देते थे। इसके हम तीन-चार उदाहरण नीचे देते हैं। इनके प्रकाश में विवादग्रस्त पण्डित कालूरामजी को दिये उपदेशों पर विचार करने में सहायता मिलेगी।

१. ऋषि दयानन्द ने काशी में जो संस्कृत पाठशाला सं १९३० पौष

मास (=दिसम्बर १८७३) में आरम्भ की थी, उसका एक विज्ञापन प्रकाशित किया था। उसमें लिखा था—

**इसमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेंगे वेद पर्यन्त। और शूद्र मन्त्र-भाग को छोड़ के सब शास्त्र पढ़ेंगे।** ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ३५ पं० ८, ६ (तृतीय संस्क०)।

इसमें शूद्र को वेद न पढ़ाने का उल्लेख इसलिये किया गया है कि इस पाठशाला के सभी पण्डित पुरानी विचारधारा के थे। पढ़ाने के लिये उन्हें ही रखा गया था। **सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः** के अनुसार यदि उक्त निर्देश न करते तो काशी में आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन को प्रचलित करने का जो कार्य वे करना चाहते थे, वह नहीं होता।[1]

२. ऋषि दयानन्द यह जानते थे कि यदि कोई ईसाई मुसलमान वैदिक मत ग्रहण कर लेगा तब भी वर्तमान के आर्यावर्तीय जन उसके साथ विवाह और खान-पान न करेंगे। अतः उन्होंने १६ अप्रैल १८८२ को चौबे कन्हैयालाल को लिखे पत्र में उनके तीसरे प्रश्न के उत्तर में लिखा—

उ० (३) **मुसलमानादि अन्य मतवाले वैदिक मत में आवें तो जिस वर्ण के गुण और कर्मयुक्त हों, उसी वर्ण में रह सकते हैं। विवाह और खान-पानादि व्यवहार भी अपने समान वर्ण के साथ करें। आजकल के आर्यावर्तीय उनके साथ उक्त व्यवहार नहीं करेंगे। इसलिये अपने लोगों में ही करें और मत वैदिक रखें। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती।** द्र०—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन भाग २, पृष्ठ ४६७।

यहाँ ऋषि दयानन्द ने भारतीय लोगों की कमजोरी समझकर वैदिक मत ग्रहण करनेवाले ईसाई मुसलमानों के लिये लिखा है कि वे विवाह और खान-पान अपने लोगों में ही करें और मत वैदिक रखें।

३. मुंबई आर्यसमाज में ऋषि दयानन्द के सन् १८८२ में निरन्तर २२ प्रवचन हुए थे। उनका सारांश काकड़वाड़ी आर्यसमाज में उसी समय गुजराती में लिखी गई कार्यवाही में लिखा सुरक्षित मिलता है।

---

१. मुझे इसके लगभग ५४ वर्ष पश्चात् जन्मना ब्राह्मण होने पर भी केवल आर्यसमाजी होने के कारण एक सामवेदी ब्राह्मण ने वेद नहीं पढ़ाया।

ज्येष्ठ शुक्ला ११ रविवार सं० १९३८ (=२८ मई १८८२) को स्वामी महाराज का एक प्रवचन देशोन्नति पर हुआ था। उसमें कहा था—

जब तक इस प्रकार की व्यवस्था बराबर न बने, तब तक अपने देश में चली आ रही रीति के अनुसार देह शुद्धि की प्रायश्चित्त की विधि करनी चाहिये। यहाँ के लोगों को न चिढ़ाना ही बुद्धिमत्ता युक्त है। द्र०—दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन, बम्बई प्रवचन संख्या २०, पृष्ठ ५०८।

४. जब ऋषि दयानन्द कौपीनमात्रधारी निस्सङ्ग रूप में गङ्गा के तट पर विचरते थे, तब वे उस भक्त का लाया हुआ भोजन भी कर लेते थे, जिसका बनाया उच्च वर्ण के लोग नहीं करते थे। परन्तु जब वे वैदिक धर्म के प्रचार कार्य में प्रवृत्त हुए, तब से वे जन्मना ब्राह्मण को ही रसोईया बनाके रखने लगे। जिससे मूर्ख जन कार्यसिद्धि में बाधक न बनें।

महाराज का रसोइया चला गया था, तो शिवराम ही उनका भोजन बनाया करता था। परन्तु उसका बनाया हुआ भोजन अच्छा न बनता था, क्योंकि वह आटा अच्छी तरह नहीं माँडता था। एक दिन महाराज ने स्वयं आटा मांडा और दो चार रोटियाँ बनाईं। शिवराम ने महाराज के कहार को लक्ष्य करके कहा कि यह अच्छी रसोई बनाता है, आप इसी से बनवाया कीजिए। इसके हाथ का बना हुआ भोजन खाने में क्या आपत्ति है? महाराज ने कहा कि हमें तो कोई आपत्ति नहीं परन्तु तुम हमारे पास से चले जाओगे और सब कहीं हमारी निन्दा करते फिरोगे कि स्वामीजी कृष्टान हैं। द्र०—पं० देवेन्द्रनाथ संकलित ऋ० द० का जीवनचरित, भाग २, पृष्ठ २२९, तृतीय संस्करण।

५. २३ अगस्त १८७८ को सर सय्यद अहमद खाँ ने महाराज तथा बम्बई के सज्जनों को संध्या समय अपने गृह पर भोजनार्थ निमन्त्रित किया। उन्होंने समझा था कि महाराज जाति-भेद नहीं मानते हैं और कहते हैं कि सबके ही हाथ का पकाया हुआ भोजन खाया जा सकता है, अतः उन्हें हमारे घर पर भोजन करने में कोई आपत्ति न होगी, परन्तु महाराज भोजन करने न गये और कहा कि यद्यपि मुसलमानों के भोजन में सम्मिलित होने और भोजन करने में कोई दोष नहीं है, परन्तु ऐसा करने से हमारे देशवासियों में हमारे प्रति अश्रद्धा का उदय होगा और

हमारे उद्देश्यों की सिद्धि में बाधा पड़ेगी, परन्तु श्यामजीकृष्ण वर्मा आदि भोज में सम्मिलित हुए। वही पृष्ठ १२०।

६. एक दिन महाराज कलेऊ कर रहे थे कि कई अंग्रेज उनसे मिलने आये। उनमें से एक ने कहा कि यदि हम आपके भोजन को छू दें तो आप खा लेंगे वा नहीं? महाराज ने कहा कि नहीं खायेंगे। यद्यपि उसके खाने में कोई दोष वा पाप नहीं है, परन्तु हमारे नौकर और विद्यार्थी भाग जायेंगे और लोक में अपवाद होगा कि स्वामीजी कृष्टान हो गये। वही, पृष्ठ २२६।

अब हम प्रकृत प्रसङ्ग पर आते हैं—पं० कालूराम को लिखे गये उपदेशों वाला जो पत्र या पत्रा सम्प्रति विवादास्पद बना दिया गया है, उसके साथ ही हमें एक पत्र और भी मिला था। उसमें भी मन्त्रोपदेश का प्रसङ्ग है। दोनों पर संख्या १ तथा २ लिखी है। हम उन दोनों पत्रों की यथावत् प्रतिलिपि नीचे दे रहे हैं। इन दोनों पत्रों में से प्रथम पत्र परोपकारी के अगस्त १९८९ के अङ्क के मुख पृष्ठ पर छपा है। इसमें मूल पत्र के आरम्भ में लिखा 'ओ३म्' और 'संख्या १' अंश ब्लाक बनाते समय छोड़ दिया है। दूसरे पत्र के अन्त में स्वामीजी के हस्ताक्षर के नीचे की ८ पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं। प्रथम (अगस्त १९८९ में छपे) पत्र के अन्त में हस्ताक्षर के नीचे पत्र को प्रमाणित करने की गौरीशङ्कर शर्मा के हाथ की लिखी ६ पंक्तियाँ छपी हैं, उसी प्रकार द्वितीय पं० कालूराम जी के उपदेशवाले पत्र में थीं। द्वितीय पत्र को प्रमाणित करनेवाले व्यक्तियों में **एक समर्थदान के हस्ताक्षर** भी हैं। यदि ये पंक्तियाँ परोपकारी पत्र में छपी होतीं तो सम्भव है कि इस पत्र के सम्बन्ध में जो आन्दोलन उठा है, वह न उठता। क्योंकि पत्र को प्रमाणित करनेवाला एक व्यक्ति **समर्थदान** स्वामीजी का अत्यन्त विश्वासपात्र था। समर्थदान के हस्ताक्षर उन अनेक पत्रों में मिलते हैं, जो स्वामीजी को लिखे थे।

**इतिहास की एक कठिन समस्या हल हुई**—ऋषि दयानन्द के हस्तलेखों पर कार्य करनेवाले श्री पं० भगवद्दत्तजी कहा करते थे कि स्वामी जी के पास एक लेखक ऐसा था, जिसका हस्तलेख स्वामीजी के हस्तलेख से बहुत मिलता था। पूज्य गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुजी का तथा मेरा भी यही विचार था, परन्तु उसका नाम न श्री पं० भगवद्दत्त जी जान पाये और न पूज्य गुरुवर। मुझे भी इसका ज्ञान नहीं था। परन्तु

पं० कालूरामजी के उपदेश पत्र पर पं० उपेन्द्ररावजी की आलोचना छपी, तो मैंने रामलाल कपूर ट्रस्ट के संग्रह में सुरक्षित दोनों पत्रों के अन्त में **पत्रों को प्रमाणित करनेवाली पंक्तियाँ, जो गौरीशंकर शर्मा के हाथ की लिखी हैं**, को ध्यान से देखा, तो यह ज्ञात हो गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास तथाविध लेखक **गौरीशंकर शर्मा** था। उसी के हाथ के ये पत्र लिखे हुए हैं।[1] इस आलोचना के प्रसङ्ग जो गौरीशङ्कर शर्मा का नाम ज्ञात हुआ है, वह मेरे लिये इस विवाद की महती उपलब्धि है।

## दोनों पत्रों की यथावत् प्रतिलिपि

(पृष्ठ १)

**ओ३म्**[2]

**संख्या १।।**

**पंडित गौरीशंकर जी आनन्दित रहो।**

**पत्र आया**[3] **समाचार जाना जो तुमने लिखा सो ठीक है। कायस्थ और कारीगर लोग जो मंत्रोपदेश चाहते हों उनको (विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव) इस मंत्र का उपदेश कर दिया करें। वेदों का अधिकार सबको है और जो उच्चारण करने में असमर्थ हों उनके लिये (नमः परमेश्वराय) इतना ही उपदेश कर देना।। पहले से हमको यह संदेह था कि जितनी राजनीति वेदशास्त्रों के अनुकूल**

---

१. इसका परिज्ञान वे व्यक्ति स्वयं कर सकते हैं, जिनके पास परोपकारी का अगस्त १९८९ का अङ्क है। उसमें गौरीशंकर शर्मा द्वारा प्रमाणित करनेवाली पंक्ति का ब्लाक मुद्रण मुखपृष्ठ की पीठ पर विद्यमान है। पाठक उनको ध्यान से देखें। पत्र को प्रमाणित करनेवाला गौरीशंकर उस 'पं० गौरीशंकर' से भिन्न व्यक्ति है, जिसके नाम वह पत्र लिखा गया था। पं० गौरीशंकर को स्वामीजी की अनुज्ञा से आर्यसमाज जयपुर ने उपदेशक नियत किया था। यह ऋ० द० स० के पत्र-व्यवहार से विदित होता है।

२. हमें इस पत्र की तथा अगले उपदेश पत्र की जो फोटो स्टेट (झेरोक्स) प्रतियाँ मिली हैं, वे पूर्णतया स्पष्ट नहीं हैं।

३. यहाँ संकेतित पं० गौरीशंकर का पत्र हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

हम जानते हैं, सो कदाचित् शरीर के साथ ही न जावे। सो इसका जानना अब सफल हुआ और हमारा चित्त भी संतुष्ट हुवा। यहाँ श्री दरबार महाराणाजी सब राजनीति को पढ़ते सुनते और आचरण भी यथोचित करते हैं॥

(पृष्ठ २)

तुम्हारे समाज की अच्छी उन्नति सुनकर बड़ा आनंद हुआ। शेष समाचार लिखने योग्य पश्चात् लिखा जावेगा॥ सबसे हमारा आशीर्वाद कह देना।

मिति पोष शुदि १० बुधवार।

संवत् १९३९

(दयानन्द सरस्वती)

पूर्वोक्त पत्र श्री स्वामी दयानंद सरस्वती जी महाराज के हस्ताक्षरांकित पंडित गौरीशंकर निवासस्थान सूर्य्यपुर परगना बागपत जिला मेरठ के पास हमने अपने नेत्रों से देखा है॥[1]

गौरीशंकर शर्मा

(पृष्ठ १)

संख्या २

पंडित कालूरामजी महाराज निवास स्थान रामगढ़ जिला सीकर इलाके जयपुर को श्री स्वामी दयानंद सरस्वती जी महाराज ने ..... [2]द्वारा निम्नलिखित उपदेश किया।

ओ३म्

उपदेश

१. सब मंत्रों के पूर्व ओ३मकार का प्रयोग करना।

---

१. मूल में ये पंक्तियाँ ५ लाइनों में लिखी हुई हैं। नीचे बाईं और गौरीशंकर शर्मा के हस्ताक्षर हैं।

२. 'ने' के आगे और 'द्वारा' से पूर्व लिखा शब्द पढ़ा नहीं जाता है। हमने इसे 'स्त' पढ़ा है। पं० कालूराम ने ऋ०[illegible]द० के शाहपुरा में दर्शन किये थे। अतः क्या 'f [नजह]स्त' पाठ हो सकता है?

२. त्रिवर्ण को तत्सवितुः० गायत्री मंत्र द्विजों की स्त्रियोंको (विश्वानि देव०) मंत्र शूद्र और उनकी स्त्रियों को (विश्वानि देव०) मंत्र और ईसाई मुसलमान आदि को भी विश्वानि देव० मंत्र अंत्यजादि को [1]परमात्मानमिति मंत्र ॥

३. नमस्ते शब्द सब आपस में बोलें। छोटा प्रथम बोले बड़ा पीछे बोले ॥

४. जो कोई ब्राह्मण हो उसको संन्यास देकर नाम के अंत में सरस्वती शब्द होना चाहिये और क्षत्रिय वैश्य को आनंद शब्दांत जैसे अच्युतानंद और शूद्र को दास जैसे अच्युतदास ॥

१॥ ओं[2] सर्वात्मान मंतर्यामिनं कृपामृत।
सागरं [3]परमात्मानमहं शरणं प्रपद्ये ॥

(पृष्ठ २)

५. अंत्यज सब स्वजाति के उपदेशक और अध्यापक हों ॥

६. वर्ण व्यवस्था गुण कर्म्म से होनी चाहिये धर्म्मव्यवहार में ॥

७. कोई पूछे तुम कौन साधु हो कहे कि (वेदानुयायी) तुम्हारा मत क्या तो कहे (वेदोक्त) तुम्हारा धर्म्म क्या (पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्य[4] है) ॥

८. भगवाँ वस्त्र सबको होने चाहिये ॥

---

१. मूल पत्र में 'परमात्मा' के 'रमा' अक्षरों पर टिप्पणी के लिये '१॥' संकेत किया है। और चौथे उपदेश के नीचे '१॥' का संकेत देकर मन्त्र का पूरा पाठ दिया है।

२. यह ऊपर लिखे 'परमात्मानमिति' अधूरे मन्त्र का पूरा पाठ है। चौथे उपदेश के नीचे इसलिये लिखा गया कि यहाँ पृष्ठ पूरा होता है और पाँचवाँ उपदेश दूसरे पृष्ठ पर है।

३. नीचे लाइन ऊपर के पाठ के साथ संबन्ध को दर्शाने के लिये है। समाप्ति बोधन के लिये नहीं है।

४. 'सत्य' और 'है' के मध्य का कुछ पाठ मूल कापी में कटा हुआ है, जो पढ़ा नहीं जाता।

९. (प्रायश्चित्त) जिस समय कोई मतमतांतरस्थ पुरुष वेदमत ग्रहण करना चाहे तभी पवित्र हो गया परन्तु पुनः वोह वेदमत छोड़ वेदविरुद्ध मत ग्रहण कभी न करे उसके लिये यही प्रायश्चित्त है ॥

१०. सब लोग आचरण सत्यभाषणादि धर्मयुक्त ब्रह्मचारी रहैं और विद्या की उन्नति करें।

मिति चैत्र बदि १४ गुरुवार संवत् १९३९

(दयानन्द सरस्वती)

पृष्ठ ३

पूर्वोक्त पत्र श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज के हस्ताक्षरांकित पंडित कालूरामजी निवास स्थान सेठों का रामगढ़ जिला सीकर इलाके जयपुर के पास हमने अपने नेत्र से देखा है ॥

गौरीशंकर शर्मा

ह० सीवनारायण मन्तरी वैदिक धर्म सभा रामगढ़

ह० समर्थदान, रामगढ़ माघ सुदी ९ सं० १९।[1]

**पत्रों की प्राप्ति का इतिवृत्त**—सन् १९८१ के मई मास में 'पूना विद्यापीठ' के तत्त्वावधान में 'पाणिनि पर हुई विश्व विद्वद्गोष्ठी' (इण्टर नेशनल सेमिनार ओन पाणिनि) में भाग लेकर मैं बम्बई गया था, उस समय आर्यसमाज काकड़वाड़ी बम्बई के वेदोपदेशक श्री पं० दयाशंकर जी ने मुझसे कहा था कि बम्बई में एक व्यक्ति के पास ऋषि दयानन्द के दो मूल पत्र हैं, मैं उन्हें प्राप्त करने का यत्न कर रहा हूं। सो भाग्य से दिसम्बर (१९८१) के आरम्भ में बम्बई पुनः जाने से पूर्व ही बहुत परिश्रम करके श्री पं० दयाशंकरजी ने उन पत्रों की फोटोस्टेट (झेरोक्स) कापी प्राप्त कर ली थी।[2] उन्होंने मङ्गलवार ८ दिसम्बर १९८१ को उन

१. इसके बाद के दो अङ्क हमारी फोटोस्टेट कापी में नहीं आये या फिर लिखने में छूट गये।

२. पं० दयाशङ्करजी ने ये पत्र पं० गौरीशङ्कर के पौत्र श्री सुधाकर दीक्षित

दिनों पत्रों की फोटोस्टेट कापी मुझे प्रदान की। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये पं० दयाशंकरजी सम्पूर्ण आर्यजगत् के धन्यवाद के पात्र हैं। प्रथम पत्र सं० १९३९ पौष सुदि १० बुधवार (=१४ जनवरी १८८३) का है। पत्र में **'कहां से लिखा गया'** इसका निर्देश नहीं है, तथापि इस समय ऋषि दयानन्द उदयपुर में विराजमान थे, अतः यह पत्र उदयपुर से लिखा गया है। पत्र के मध्य भाग से भी इसकी पुष्टि होती है। यह पत्र पं० गौरीशंकर को लिखा गया है। पं० गौरीशङ्कर का उल्लेख ऋषि दयानन्द के अन्य पत्रों में भी उपलब्ध होता है (द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, संस्करण ३, भाग २, पृष्ठ ७७२, ७७३, ७९४)। इस पत्र के अन्त में तथा द्वितीय पत्र के आद्यन्त में ऋषि दयानन्द के पत्र से बहिर्भूत कुछ पंक्तियाँ विद्यमान हैं, अन्त की पंक्तियों में मूल पत्र को देखने का निर्देश है। उनके अन्त में गौरीशंकर शर्मा के हस्ताक्षर हैं। यह गौरीशंकर शर्मा पत्र में उल्लिखित पं० गौरीशंकर शर्मा से भिन्न व्यक्ति हैं। द्वितीय पत्र में पं० गौरीशंकर शर्मा के साथ दो व्यक्तियों (सीवनारायण मन्त्री वैदिक धर्म सभा रामगढ़ तथा समर्थदान) के हस्ताक्षर हैं।

**विशेष**—(१) दोनों पत्र क्रमशः २ और ३ पृष्ठों में लिखे गये हैं। पूर्व पृष्ठ जहाँ समाप्त होता है, उसके पश्चात् हमने थोड़ा सा स्थान छोड़कर अगले पृष्ठ का लेख आरम्भ किया है। और बाईं ओर हमने पृष्ठ संख्या सुगमता की दृष्टि से ( ) कोष्ठक में दे दी है।

(२)—सर्वहितकारी में छपी श्री इन्द्रजित्जी देव की और श्री उपेन्द्ररावजी की वेदवाणी में छपी आलोचनाएँ अनेक अंशों में समान हैं, अतः दोनों आलोचनाओं का एक साथ ही उत्तर दिया जा रहा है। जो आलोचना भिन्न है, उसके साथ आलोचक का नाम दिया है।

(३)—हम आलोचनाओं की समीक्षा पत्र के लेख के अनुसार करेंगे।

## आलोचनाओं की समीक्षा

१. देवजी—पत्र के आरम्भ में संख्या २ लिखी है। संख्या १ का पत्र भी कोई था।

---

के दामाद श्री जितेन्द्रजी आर्य, फोटो ग्राफर 'टाइम्स आफ इण्डिया' बम्बई से प्राप्त किये थे। मूल पत्र श्री जितेन्द्रजी आर्य के पास सुरक्षित हैं।

**समीक्षा**—संख्या १ का पत्र जो था, उसे हमने ऊपर छापा है। उसे देखें।

२. देवजी—पत्र कहाँ से लिखा गया, यह स्पष्ट नहीं होता।

**समीक्षा**—ऋषि दयानन्द के अनेक पत्र ऐसे हैं, जिनमें पत्र कहाँ से लिखा गया, इसका निर्देश नहीं मिलता। उदाहरण के लिये परोपकारिणी सभा द्वारा सं० २०४५ (सन् १९८८) का ब्लाकों से छपवाया गया 'महर्षि दयानन्द सरस्वती के पत्र' नामक संग्रह देखें।

३. देवजी—ऋषि दयानन्द के सभी पत्रों के आरम्भ में जिसको पत्र लिखा जाता है, उसको सम्बोधित करके पत्र लिखा जाता है। इस पत्र के आरम्भ में ऐसा नहीं है।

**समीक्षा**—वस्तुतः यह अन्य पत्रों के समान पत्र नहीं है। केवल पं० कालूरामजी को लिखे गये उपदेशों के पृष्ठ हैं।

४. देवजी—पण्डित कालूरामजी कौन थे, प्रस्तुत पत्र से स्पष्ट नहीं।

**समीक्षा**—पं० कालूरामजी का पूरा पता आरम्भ की पंक्तियों में स्पष्ट लिखा हुआ है। इस पर भी पं० कालूराम सदृश वैदिकधर्मप्रचारक व्यक्ति का ज्ञान न होना आश्चर्य का विषय है। उनके दो जीवनचरित छप भी चुके हैं। श्री रावजी को भी पं० कालूरामजी का यथावत् परिचय नहीं है। अतएव उन्होंने सर्वत्र कालूरामजी के नाम के आगे "महाराज" पद के निर्देश में " " उपरिबन्धक चिह्न लगाकर पं० कालूराम के प्रति अपना तिरस्कार भाव व्यक्त किया है। यह उनकी आलोचना से भी स्पष्ट है।

५. देवजी—आरम्भ से लेकर अन्त के हस्ताक्षरों तक पूर्ण पत्र एक ही प्रकार के हस्तलेख में है।

**समीक्षा**—हम पूर्व वक्तव्य में लिख चुके हैं कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों वा पत्र विज्ञापनों पर सूक्ष्म दृष्टि से कार्य करनेवाले श्री पं० भगवद्दत्तजी और पं० ब्रह्मदत्तजी का मत था कि ऋषि दयानन्द के पास कोई ऐसा लेखक था, जिसका ऋषि दयानन्द के हस्तलेख से अत्यधिक मिलता था (परन्तु वे उस लेखक का नाम नहीं जान सके)। यह सारा लेख (हस्ताक्षर को छोड़कर) उसी लेखक का लिखा है। संख्या १ का पत्र

का लेखक भी यही व्यक्ति है (देखें संख्या १ का पत्र परोपकारी के अगस्त १९८९ के अङ्क के मुख पृष्ठ पर)। ऋषि दयानन्द और उक्त पत्रों के लेख की अत्यन्त समानता होने पर भी दोनों के लेखों की भिन्नता का ज्ञान वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने वर्षों तक विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हस्तलेखों पर काम किया हो। दोनों लेखों में यहाँ एक सूक्ष्म भिन्नता वर्तमान है। ऋषि दयानन्द अपने नाम में **'दयानंद'** ऐसा कभी नहीं लिखते, सर्वत्र हस्ताक्षर में अनुस्वार के स्थान में 'आधे न' का प्रयोग मिलता है। इतना ही नहीं, जो पत्र पूरे रूप से स्वामीजी के हाथ के हैं, उनमें **पण्डित मन्त्र आनन्द** आदि में सर्वत्र आधे **ङ ण न म** का ही प्रयोग मिलता है। इन दोनों पत्रों में हस्ताक्षरों को छोड़कर सर्वत्र **पंडित मंत्र आनंद** आदि में अनुस्वार ही प्रयुक्त है। यहाँ तक की 'ओ३म्' से पहले लिखी पंक्तियों में **दयानंद** शब्द में भी अनुस्वार प्रयुक्त है।[1] यह लेखनशैली का सूक्ष्म भेद पत्र का लेखक ऋषि दयानन्द से भिन्न व्यक्ति है, यह स्पष्ट करता है और उस लेखक का नाम था **गौरीशंकर शर्मा**।

६. देवजी—'श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज' जैसे शब्द न होते।

**समीक्षा**—ये आरम्भ की पंक्तियाँ ऋषि दयानन्द की लिखाई हुई नहीं हैं, अपितु इन्हें **'विषय-निर्देश'** के रूप में लेखक(क्लर्क) ने लिखा है। अतः उसके द्वारा 'श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज' लिखा जाना युक्त है।

७. रावजी—पत्र के ऊपर उक्त शीर्षक है, इसका अर्थ हुआ यह पत्र पंडित कालूरामजी "महाराज" का लिखा हुआ है।

**समीक्षा**—श्री रावजी ने उक्त तात्पर्य कैसे और किस शब्द से निकाला, यह मेरी समझ में नहीं आया। विना सोचे समझे और प्रमाण

---

१. प्रथम पत्र की परोपकारी में छपी ब्लाक प्रतिलिपि में ऋ० द० के हस्ताक्षरों के नीचे जैसी पंक्तियाँ छपी हैं, वैसी द्वितीय पत्र के नीचे भी हैं (ये पंक्तियाँ परोपकारी पत्र में नहीं छपीं)। उनका लेखक भी वही है। उनमें भी दयानंद, हस्ताक्षरांकित, पंडित शब्दों में अनुस्वार का ही प्रयोग किया है। दोनों पत्रों के अन्त में लिखी पंक्तियों पर हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

के विना किसी लेख का अपनी इच्छा से तात्पर्य निकालना सरासर अन्याय है।

८. दोनों—पत्र की आरम्भिक पंक्तियों के पश्चात् 'ओ३म्' लिखना परम्परा के विरुद्ध है, कभी किसी वाक्य के नीचे नहीं लिखा जाता है।

**समीक्षा**—दोनो समीक्षकों ने ऊपर की तीन पंक्तियों को भी पत्र का अङ्ग समझकर आक्षेप किया है। आरम्भ की पंक्तियाँ तो विषयनिर्देश के रूप में हैं। मूल भाग उपदेश है, सो **उपदेश** शब्द से ऊपर ही 'ओ३म्' का निर्देश है, अतः इसमें परम्परा का कोई विरोध नहीं है। आक्षेपक महोदयों को मेरे लेख से सम्भवतः सन्तुष्टि न होवे, अतः हम ऋषि दयानन्द के एक पत्र के आरम्भिक भाग की नीचे प्रतिलिपि देते हैं—

**(श्री स्वामीजी महाराज के आज्ञा पत्र की प्रति)**

ॐ

**मंत्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद लाला कालीचरणजी आनंदित रहो। विदित हो कि रामानंद ब्रह्मचारी की माता मुहल्ला**.....[1]।

**ज्येष्ठ शुक्ला ६ सं० ४० जोधपुर (दयानंद सरस्वती)**

यह ऋषि दयानन्द के उस पत्र की नकल है, जो उन्होंने रामानन्द ब्रह्मचारी की माता के देहान्त होने पर 'आर्यसमाज को क्या करना है' के विषय में लिखा। मुद्रित पत्र नकल है, यह पहली पंक्ति जो **विषयनिर्देश-विषयक** है, के लेख से स्पष्ट है। इसका लेखक भी गौरीशंकर शर्मा ही प्रतीत होता है। उसने सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग किया है, यहाँ तक कि अन्त में हस्ताक्षर में भी 'दयानंद' लिखा है। इसमें भी ॐ बीच में ही है। पत्र की दृष्टि से ॐ (ओ३म्) आरम्भ है। अन्तर केवल इतना ही है कि यह असली पत्र की नकल है। इसमें ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षर

---

१. यह पत्र परोपकारिणी सभा द्वारा ब्लाक बनवाकर छपवाये गये पत्रसंग्रह में पृष्ठ ५६ पर छपा है। पीठ पर मृतक संस्कार के लिये विविध पदार्थों के व्यय का निर्देश है।

भी नकल करनेवाले के लिखे हुए हैं और उपदेशवाला पत्र मूल है, उसमें हस्ताक्षर स्वामीजी के अपने हाथ के हैं।

९. सब मन्त्रों के पूर्व ओ३म्कार का प्रयोग करना।

**समीक्षा**— **गतानुगतिको लोकः न लोकः पारमार्थिकः** न्याय के अनुसार आर्यसमाज के विद्वानों में किसी ने यह लिखा है कि ऋषि दयानन्द ने इसमें सब मन्त्रों के आरम्भ में 'ओ३म्' बोलने का आदेश दिया है अर्थात् प्रकरणरूप में पठित मन्त्रसमूह में केवल आदि में ओ३म् बोलने का निर्देश जो पण्डित करते हैं, वह अशुद्ध है।

श्री देवजी और श्री रावजी दोनों ने इस उपदेश का उक्त तात्पर्य समझकर ही आलोचना की है। भेद इतना है कि देवजी ने अन्तिम परिष्कृत संस्कारविधि की दुहाई देकर इस लेख को अप्रामाणिक माना है तो रावजी ने 'महर्षि दयानन्द आर्ष परम्परा और कर्मकाण्ड में बुद्धिपूर्वक किये गये विधान को माननेवाले थे' की दुहाई देकर 'स्वामी दयानन्द कभी उपर्युक्त निर्देश नहीं दे सकते थे' लिखकर पत्र को जाली सिद्ध करने की चेष्टा की है।

मुझे आर्यसमाजी पण्डितों की बुद्धि पर तरस आता है कि **'सब'** या **'सर्व'** शब्द का कहीं **निरपेक्ष** और कहीं **सापेक्ष** प्रयोग होता है, इतना भी नहीं जानते। **'सब मानवों का धर्म मानवता है'** में सब शब्द निरपेक्ष रूप से मानवमात्र का बोधक है। **'सब ब्रह्मचारियों को फल बाँट दो'** इस प्रकार किसी आचार्य वा अधिष्ठाता के वाक्य में 'सब' शब्द सापेक्ष है। उनसे सम्बद्ध जो गुरुकुल, उसके सब ब्रह्मचारियों को फल बाँट दो, यह अभिप्राय है। ऐसा अनर्थ पुराने कर्मकाण्डी भी करते थे। आधान की पूर्णाहुति के विषय में एक वाक्य है—**पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति** (मी० १।२।१६ के भाष्य में उद्धृत)। भगवान् जैमिनि ने 'आधानीय पूर्णाहुति से ही यदि यजमान की सर्वकामनाएँ पूरी हो जायें तो उत्तरक्रतु दर्शपूर्णमासादि सब अनर्थक होंगे' यह समझकर समाधान किया है, **सर्वत्वमाधिकारिकम्** (मी० १।२।१६)। अर्थात् ऐसे प्रयोगों में सर्वत्व सीमित है, जिस विषय में कहा गया है, उससे ही संबद्ध है। उक्त वाक्य में आधान की पूर्णाहुति का सम्बन्ध होने से इसका तात्पर्य है—पूर्णाहुति से जो फल प्राप्त होता है, उस सबको पूर्णाहुति करनेवाला प्राप्त कर लेता है। अर्थात् आधान की पूर्णाहुति के फल का सर्वत्व इतना ही है कि

आधान कर्म सम्पन्न होने पर यजमान सब यागों का अधिकारी बन जाता है।

**इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे** (ऋ० १०।८५।४२) का प्रमाण देकर कई आर्यसमाजी भी कहते हैं कि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम अवैदिक=वेदविरुद्ध हैं, क्योंकि इस मन्त्र में पुत्रों पौत्रों के साथ सम्पूर्ण आयु रमण करने का निर्देश है। वस्तुतः यहाँ भी 'विश्व' शब्द सापेक्ष है। विवाहप्रकरण का मन्त्र होने से गृहस्थ आश्रम की जो वयःसीमा है, उसी की पूर्णता यहाँ अभिप्रेत है।

इस प्रकार लौकिक और वैदिक प्रयोगों में बहुत **सब सर्व विश्व** आदि शब्द जैसे सापेक्ष प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार **'सब मन्त्रों के पूर्व ओ३म् का प्रयोग करना'** वाक्य में भी सब शब्द सापेक्ष है। आगे द्वितीय उपदेश में जितने मन्त्र उपदेशार्थ लिखे हैं, उन सबके पूर्व ओ३म् का प्रयोग करना, इतना ही यहाँ प्रकरणानुसार लेखक का तात्पर्य है। लेखक के तात्पर्य को न समझकर केवल 'सब' शब्द देखकर निरपेक्ष सर्वत्व की कल्पना करके अपनी बुद्धि का प्रयोग न करना अन्याय्य है।

१०. रावजी दूसरे उपदेश की आलोचना में लिखते हैं—महर्षि दयानन्द इस समय (सं० १९३९) इस प्रकार पौराणिक मन्त्र दीक्षा भी देते थे। यह सोच से परे की बात है।

**समीक्षा**—रावजी ने यह 'पौराणिक मन्त्र दीक्षा' का भाव स्पष्ट नहीं किया, गोलमाल लिख गये। यदि 'पौराणिक' शब्द 'मन्त्र' का विशेषण है तो बतायें पौराणिक मन्त्र कौन सा है? 'परमात्मानम्' निर्देश के अतिरिक्त **विश्वानि देव** और **तत्सवितुः** मन्त्र ही तो लिखे हैं, क्या ये पौराणिक हैं? यदि 'पौराणिक' शब्द 'मन्त्रदीक्षा' का विशेषण है, तो भी मन्त्रदीक्षा देना पौराणिक कर्म नहीं है। क्या वेदारम्भ में गुरु शिष्य को गायत्री मन्त्र का उपदेश नहीं देता? वहाँ **मन्त्रोपदेश** शब्द है। इस मन्त्रोपदेश से ही गुरु और शिष्य का सम्बन्ध जुड़ता है। इसीलिये **तत्सवितुः** को **गुरुमन्त्र** कहा जाता है। 'गुरुमन्त्र' शब्द का प्रयोग ऋषि दयानन्द ने स्वयं पञ्चमहायज्ञविधि में किया है। इस सारे उपदेश में **'दीक्षा'** शब्द का कहीं व्यवहार ही नहीं। वाक्य की पूर्ति के लिये आरम्भ में निर्दिष्ट 'उपदेश' पद जोड़कर 'उपदेश करें' वाक्य पूर्ण करना होगा।

दीक्षा पद भी वैदिक है। जिस व्यक्ति को किसी कर्म में प्रतिबद्ध करना होता है, तो वहाँ 'दीक्षा' शब्द का प्रयोग होता है। अतएव सोमयाजी को प्रथम दिन दीक्षा दी जाती है। **व्रतेन दीक्षामाप्नोति** मन्त्र का भी यही भाव है।

इस प्रकरण को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि पं० कालूरामजी ने ऋषि दयानन्द के सम्पर्क में आने से पूर्व ही धर्मोपदेश करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके शिष्यों में ब्राह्मण से अन्त्यज पर्यन्त और ईसाई मुसलमान भी थे[1]। वेदमार्गानुसारी होने से उन्होंने अपने सभी शिष्यों को किस मन्त्र या मन्त्रों का उपदेश करें, यह उन्होंने शाहपुरा में पूछा होगा, (द्र०—पृष्ठ ३४२ की टिप्पणी ३)।

इस विषय में श्री पं० गौरीशंकर[2] ने भी ऋषि दयानन्द से पत्र द्वारा

---

१. महाराष्ट्र के अक्कलकोट के एक सन्त गजानन्द महाराज हुए हैं (२-३ वर्ष पूर्व उनका निधन हुआ है)। उनकी शिष्टमण्डली में ईसाई, मुसलमान सभी व्यक्ति हैं, इनमें योरोपीय शिष्यों की संख्या भी पर्याप्त है। वे स्वयं मूर्तिपूजक होते हुए सब शिष्यों को नियमित रूप से सूर्योदय और सूर्यास्त के समय अग्निहोत्र करने का ही मुख्य रूप से उपदेश देते थे। मैंने इन्हें देखा है। इनके शिष्य किस प्रतिबद्धता के साथ ठीक सूर्योदय और सूर्यास्त के समय लौकिक कर्म छोड़कर अग्निहोत्र करते हैं, यह भी मैं भली प्रकार जानता हूं। इनके शिष्यों के मुख से मन्त्रों का शुद्ध पाठ सुनकर मैं चकित रह गया। आर्यसमाज में तो किसी को कहो कि भाई मन्त्रपाठ तो शुद्ध सीख लो तो वे झट उत्तर देते हैं—तोतले बच्चे की बात मां समझ लेती है, क्या परमात्मा हमारे भाव नहीं जानेगा? इसी प्रकार सायं प्रातः दोनों समय संध्या अग्निहोत्र करनेवालों की संख्या तो अतिस्वल्प (कराग्रगणनीय) है। जो अधिकतर अग्निहोत्र करते भी हैं, वे प्रातःकाल की आहुतियाँ और सायंकालीन आहुतियाँ देकर अपने को कृतार्थ समझते हैं। क्या यह कर्म **दोनों समय के भोजन की पूर्णमात्रा** एक बार खाने के समान नहीं है। ऐसा करनेवाला क्या रोग से बच सकता है? यदि नहीं, तो एक बार में दोनों समय का अग्निहोत्र करनेवाला अध्यात्म लाभ से अवश्य वञ्चित रहेगा। यज्ञों की अध्यात्म भावना मुख्य मानी गई है। जलवायु शुद्धि तो प्रासङ्गिक लाभ है, हम उन्हें ही प्रधान मान बैठे हैं।

२. यह पत्र हमें नहीं मिला, परन्तु ऋषि दयानन्द के पत्र के आरम्भ में 'पत्र आया' से पं० गौरीशंकर के पत्र भेजने की पुष्टि होती है।

पूछा था, उसका जो उत्तर ऋषि दयानन्द ने दिया, वह हम पृष्ठ ३४२ पर प्रथम पत्र के रूप में छाप चुके हैं। उसके पूर्व भाग की इस उपदेश से तुलना करें। वहाँ भी मन्त्रोपदेश का विधान मिलता है।

११. रावजी ने 'नमस्ते' शब्द 'छोटा प्रथम बोले बड़ा पीछे' पर लिखा है, यह नियम अनावश्यक है। बड़ा कौन छोटा कौन, इसका निर्णय करना कठिन है। सज्जन, चाहे छोटा हो या बड़ा, पहले नमस्ते करता है। यह निर्देश महर्षि दयानन्द नहीं दे सकते थे।

**समीक्षा**—प्रतीत होता है, रावजी पर आलोचना का भूत सवार हो गया था। यह तो एक साधारण लौकिक व्यवहार है। छोटा जब नमस्ते कहता है तो अर्थ होता है—मैं आपका सम्मान करता हूं और बड़ा जब उत्तर में नमस्ते कहता है तो उसका अर्थ होता है—मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं या मैं तुम्हारा कल्याण चाहता हूं। छोटा कौन, बड़ा कौन का भेद राव जी अपने परिवार में वृद्ध माता-पिता या सम्बन्धियों और पुत्र पौत्र आदि के मध्य भी नहीं कर पाते होंगे? अस्तु इस पर कुछ लिखना व्यर्थ है।

१२. देवजी—स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—संन्यास का अधिकार ब्राह्मण को ही है। यह ठीक है परन्तु जो उपदेश दिया है, वह उस व्यक्ति को दिया है, जिसके भक्त चारों वर्णों के हैं तथा संसार से विरक्ति के कारण संन्यास लेना चाहते हैं या साधु बनना चाहते हैं। ऐसे विरक्त पुरुष क्या संन्यासी या साधु बने? संन्यास के अधिकार के लिये शर्त है, लोकैषणा वित्तैषणा और पुत्रैषणा का त्याग। सिद्धान्त की दुहाई देनेवाले आर्यसमाजी अपने उन संन्यासवेशधारियों को कुछ नहीं कहते, जो संन्यास लेकर भी इन एषणाओं में से एक या दो में आकण्ठ निमज्जित हैं। क्या आर्यसमाज में ऐसे संन्यासी नहीं हैं, जो स्वामीजी के मन्तव्य के अनुसार ब्राह्मणत्व से रहित हैं?

रावजी सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का हवाला देकर कहते हैं—नाम बदलना आधुनिक है, स्वामीजी के मन्तव्य के विरुद्ध है। प्राचीनकाल में नाम नहीं बदले जाते थे, जैसे—याज्ञवल्क्य, पंचशिख। क्षत्रिय वैश्य शूद्र को संन्यास देना खाखी सम्प्रदाय का मत है, आर्यसमाज का नहीं।

यदि रावजी का कथन मान लिया जाये तो आज का आर्यसमाज खाखी सम्प्रदाय ही है, क्योंकि आर्यसमाज में सैंकड़ों भगवाँ कपड़े धारी विद्यमान हैं, जो स्वामीजी के मन्तव्य के अनुसार शूद्र ही हैं। पहले उन्हें अर्धचन्द्र देकर समाज से बाहर निकालिये। उच्च पदों पर आसीन लोकैषणा वित्तैषणा आदि में आकण्ठ डूबे तथाकथित संन्यासियों से आर्यसमाज का पीछा छुड़ाइये। सच्चे संन्यासियों और विद्वानों की रोगावस्था और वृद्धावस्था में सेवा शुश्रूषा का प्रबन्ध कीजिये, जिससे उन्हें लाचार होकर अपने पारिवारिक जनों के आश्रय में वापस न जाना पड़े या अन्न,वस्त्र, दवा आदि के अभाव में प्राण न त्यागना पड़े। पं० कालूराम के प्रायः सभी भक्त वैदिकधर्मानुयायी थे। यह हो सकता है, कुछ पढ़े लिखे न हों। धर्मात्मा तो सभी बन सकते हैं, चाहें पढ़े लिखे हों या नहीं। स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—विद्वान् सब नहीं हो सकते। धर्मात्मा सब हो सकते हैं, यदि वे चाहें।

१३. उपदेश ४ के अन्त में[1] वारीक अक्षरों में लिखे पाठ के सम्बन्ध में—

देवजी—उपदेश ४ के अन्त में '**शाडां सर्वात्मान**……' वाक्य की इसी क्रम में वर्णित उपदेश से क्या संगति है ?

रावजी—'ॐ**सर्वात्मानमन्तर्यामिनं**…'पृष्ठ के नीचे लिखा यह महर्षि दयानन्द का नहीं हो सकता। ओम् भी वाममार्गी ढंग का है। वाक्य के नीचे भी आड़ी रेखा खींची गई है, जो पत्र की समाप्ति को दर्शाता है, परन्तु पत्र के अंश ५-१० तक आगे भी हैं। उपर्युक्त वाक्य का लेखक पत्र के लेखक से भिन्न है।

**समीक्षा**—इस पर जितने भी आक्षेप किये हैं, उनमें अधिकतर इसलिये हैं कि दोनों समालोचकों को हस्तलेखों पर कभी काम नहीं करना पड़ा। वे लेखन के विविध निर्देशों से परिचित नहीं हैं।

देवजी के आक्षेप का उत्तर है—यह टिप्पणी के रूप में दिया गया पाठ है। इसका सम्बन्ध संख्या ४ के उपदेश से नहीं है, अपितु संख्या २ के उपदेश के अन्त में पठित **परमात्मानमिति** से है। कृपया ध्यान से देखें

---

१. यह पत्र तीन पृष्ठों में पूरा हुआ है। हमने कौनसा पृष्ठ कहाँ समाप्त होता है, इसके ज्ञान के लिये मूल पत्रानुसार पृष्ठ अलग-अलग दर्शाते हुए छापे हैं।

**परमात्मानमिति** के ऊपर '१।।' ऐसा चिह्न है। और यही १।। चिह्न देकर नीचे पूरा पाठ दिया गया है। यतः उपदेश का प्रथम पृष्ठ चौथे उपदेश पर समाप्त होता है, इसलिये उक्त पाठपूर्ति इसी पृष्ठ के अन्त में की है। देवजी ने टिप्पणी के आरम्भ के पाठ को **'शाडां'** कैसे पढ़ा, यह हम नहीं जानते। पाठ में '१।।' चिह्न से आगे 'ओं' साफ लिखा है। यह रूप पञ्जाबी लिपि का है।

रावजी ने पत्र की टिप्पणी में पठित 'ओं' को जो स्पष्ट रूप में लिखा है, 'ॐ' रूप में पढ़कर आलोचना करते हुए, इसे वाममार्गी ढंग का कहा है। 'ॐ' इस रूप को कोई आर्यसमाजी वाममार्गियों का मानता है, तो कोई जैनियों का और कुछ गणेश का प्रतीक। ओम् के 'ॐ' रूप को समझने के लिये दाक्षिणात्य लिपियों पर ध्यान देना होगा। तेलगू, कन्नड, मलयालम, तमिल, उड़िया तथा तमिलनाडु में संस्कृतज्ञों द्वारा संस्कृत-ग्रन्थों को यथावत् रूप में लिखने के लिये उद्भावित ग्रन्थाक्षरलिपि, इन सभी लिपियों के अक्षरों की बनावट गोल है। रावजी कर्नाटक के हैं, वे अपनी लिपि के गोलाक्षरों का कारण जानते हैं वा नहीं, मुझे ज्ञात नहीं। इन प्रदेशों में प्राचीन काल से ताड़ पत्र पर लोहे की नुकीली कलम से ग्रन्थ लिखने की परिपाटी है (नुकीली कलम से लिखने के पश्चात् उस पर धुएँ की कालिमा पोत दी जाती है, जो लिखे गए खुरदरे स्थान में भर दी जाती है। इससे अक्षर काले होकर सुपाठ्य हो जाते हैं)। लोहे की नुकीली लेखनी से नागराक्षरों के तुल्य सीधी रेखा नहीं खींची जा सकती। इससे ताड़पत्र फट जाता है। यह रहस्य है दक्षिण भारत की सभी लिपियों के गोलमटोल शब्दों का। इसके परिप्रेक्ष्य में ॐ की लिखाई का रहस्य स्पष्ट हो जायेगा। ऊपर अनुस्वार है, न कि अनुनासिक का चिह्न। अनुस्वार रेखा के ऊपर लगता है। सीधी रेखा ताड़पत्र पर खींची नहीं जा सकती अतः उसे भी गोलाई दे दी है। वैदिक ग्रन्थों के सहस्रों ५-७ सौ वर्ष पुराने ग्रन्थों में ओम् का यह स्वरूप मिलता है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन लिपियों का साधारण ज्ञान और लिखित ग्रन्थों में प्रयुक्त संकेतों का ज्ञान हस्तलिखित पत्रों वा पुस्तकों को यथावत् पढ़ने के लिये आवश्यक है। प्रसङ्गात् हम एक आर्य विद्वान् के अज्ञान से सत्यार्थप्रकाश में छपवाई टिप्पणी की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं—

सत्यार्थप्रकाश तृतीयसमुल्लासस्थ पठन-पाठन विधि में ऋषि दयानन्द ने लिखा है— **इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों के बीच में···।**

इस पर परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश के ३३वें संस्करण के नीचे एक आर्य विद्वान् ने टिप्पणी दी है—**अष्टाध्यायी पहले श्लोकों में थी।**' वस्तुतः गद्यरूप ग्रन्थ के परिमाण के ज्ञान के लिये अनुष्टुप् श्लोकों के अक्षरों के अनुसार गिनती करके श्लोक-संख्या दी जाती है। इसीलिये ओरियण्टल कालेज लाहौर के प्रिंसिपल बूल्हर कहा करते थे कि जिसने हस्तलेखों पर काम नहीं किया, वह किसी विषय पर शोध नहीं कर सकता।[1] उन्होंने अपने समय में प्रत्येक व्यक्ति से डी० लिट्०[2] उपाधि के लिये विविध प्राचीन ग्रन्थों को ही सम्पादित कराया।

रावजी आगे लिखते हैं—'उक्त वाक्य के नीचे जो आड़ी रेखा खिंची है, वह पत्र की समाप्ति को दर्शाता है।' ये जो आड़ी रेखा '**परमात्मान-महं**' के नीचे है, यह पत्र की समाप्ति के लिये नहीं है, अपितु संख्या २ में जिस **परमात्मानमिति** पर टिप्पणी के संकेतार्थ १।। संकेत किया है, उसकी ओर ध्यान दिलाने के लिये है। पुनः रावजी लिखते हैं—'उपर्युक्त वाक्य का लेखक पत्र के लेखक से भिन्न है।' इस अद्भुत खोज के लिये रावजी को बधाई। यदि पत्र के अक्षरों और इस पंक्ति के अक्षरों पर ध्यान देवें तो स्पष्ट प्रतीत हो जायेगा कि दोनों का लेखक एक ही है। केवल बड़े और छोटे अक्षरों के कारण लेखक-भेद की कल्पना तो साधारण व्यक्ति भी नहीं कर सकता। यतः यह पंक्ति टिप्पणी रूप है, अतः छोटे अक्षरों से लिखी गई है।

१४. संख्या ५ के उपदेश के विषय में--रावजी लिखते हैं—यह भी महर्षि दयानन्द का निर्देश नहीं हो सकता, केवल ब्राह्मण ही सबका उपदेशक अध्यापक होता है। देवजी लिखते हैं—अन्त्यज (शूद्र) स्वजाति के उपदेशक कैसे हो सकते हैं। जो पढ़ा लिखा ही नहीं होगा, वह उपदेशक कैसे बनेगा।

**समीक्षा**—ऋषि दयानन्द ने यह कहीं नहीं लिखा कि 'ब्राह्मण ही उपदेशक और अध्यापक होवें, अन्य नहीं'। मनुस्मृति आदि में चारों वर्णों के जो कर्म लिखे हैं, वे उन-उन वर्णों के मुख्य कर्म हैं। प्रत्येक व्यक्ति

---

१. यह श्री पं० भगवद्दत्तजी से हमने सुना था। पं० विश्वश्रवा:जी भी इसका अनुमोदन करते थे।

२. पहले पी० एच डी० उपाधि का प्रचलन नहीं था।

अपने से कम ज्ञानवाले को उपदेश वा अध्यापन करा सकता है। इसका न कहीं निषेध है और न लोक-व्यवहार के प्रतिकूल है। क्या कोई क्षत्रिय किसी को शस्त्रविद्या और वैश्य व्यापारविद्या नहीं सिखा सकता? शूद्र ही नहीं अपितु अन्त्यज भी जो धर्मात्मा हो, वह अपने साथियों को धर्मोपदेश कर सकता है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि **धर्मात्मा सभी हो सकते हैं, विद्वान् सभी नहीं हो सकते।** इसी प्रकार अपने ज्ञान के अनुसार अपने साथियों को थोड़ा बहुत पढ़ा भी सकता है। विद्वान् एवं धर्मात्मा मनुष्यों के सत्सङ्ग से क्या शूद्रादि को धर्मज्ञान नहीं हो सकता? आज से ६५-७० वर्ष पूर्व के वृद्ध यद्यपि अक्षरज्ञान से रहित होते थे, परन्तु उन्हें धर्म या कर्तव्याकर्तव्य का आजकल के पढ़े लिखों से कहीं अधिक ज्ञान होता था। भारत से सात समुन्दर पार बैठे मैक्समूलर को भी गँवई लोगों की इस विशेषता का ज्ञान था। वह लिखता है—**'वेदान्तदर्शन के अनेक प्रमुख अङ्ग गँवई गाँव के निरक्षर व्यक्ति भी पूरी तरह समझते हैं।'** (द्र०—हम भारत से क्या सीखें, पृष्ठ २२७, प्र० सं०)।

आर्यसमाज के आरम्भिक काल में अनेकों निरक्षर व्यक्तियों ने वैदिक धर्म का प्रचार किया, क्या इसे भुलाया जा सकता है? मैं जानता हूं कि मेरे पिताजी को वैदिक धर्म का परिज्ञान गाँव के एक हस्ताक्षर मात्र करना जाननेवाले गूजर ने कराया था। उसने अजमेर में ऋषि दयानन्द के दो तीन व्याख्यान सुने थे। मेरे पिताजी इनका 'आदि गुरु' के नाम से उल्लेख करते थे।[1] यदि इस निरक्षर व्यक्ति से पूज्य पिताजी को वैदिक धर्म का ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तो हमारा कुल पौराणिक मत के अन्ध कूप में डूबा होता। इसलिये अपने ज्ञानानुसार उपदेश और अध्यापन सभी करा सकते हैं। ब्राह्मणों ने उपदेशकी और अध्यापकी का ठेका नहीं लिया हुआ है।

१५. रावजी—वर्णव्यवस्था गुण कर्म से होनी चाहिये धर्मव्यवहार में। यहाँ 'धर्मव्यवहार' की शर्त लगाना महर्षि दयानन्द का मन्तव्य नहीं है।

**समीक्षा**—धर्मव्यवहार शब्द से 'लोकव्यवहार में कुछ छूट देना'

---

१. सं० १९७० चैत्र शु० ९ शनिवार (१५ अप्रैल १९१३) की डायरी में जो विवरण लिखा है, उसका पूरा उद्धरण 'आत्म-परिचय' के पृष्ठ २७ (प्र० सं०) पृष्ठ २८ (द्वि० सं०) पर देखें।

प्रयोजन है। सौ सवा सौ वर्ष पूर्व लोकव्यवहार में पूर्णतया इस वर्ण-व्यवस्था को नहीं निभाया जा सकता था, यह ऋषि दयानन्द अच्छी तरह जानते थे। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने १६ अप्रैल १८८१ के पत्र में लिखा है—

**मुसलमानादि अन्य मतवाले वैदिक मत में आवें तो.....। आजकल के आर्यावर्तीय उनके साथ उक्त[1] व्यवहार नहीं करेंगे। इसलिये अपने लोगों में ही करें और मत वैदिक रखें। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती।** (द्र०—ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ४९७)।

कहिये रावजी, क्या यह लेख भी ऋषि दयानन्द का लिखा हुआ नहीं है? इस पत्र की उपलब्धि का १० पंक्तियों में पूरा वृत्तान्त पं० भगवद्दत्त जी ने नीचे टिप्पणी में दिया है। (द्र०—वही पृष्ठ ४९६)।

१६. रावजी—७वें उपदेश की भाषा गँवारू है, महर्षि दयानन्द की नहीं है। महर्षि दयानन्द पाखण्डी साधुओं के नेता नहीं थे। अन्तिम 'सत्य' शब्द के बाद एक लाइन लिखकर उसे काटा गया है। इस पत्र को जाली सिद्ध करने के लिये यही प्रमाण पर्याप्त है।

**समीक्षा**—क्या भाषा के गँवारू होने से कोई पत्र जाली हो सकता है? पत्र के लेखन में लेखक (=लिपिकर) का भी कभी-कभी सम्बन्ध देखा जाता है। मेरे विचार में तो भाषा गँवारू नहीं है। ग्रन्थ की भाषा और पत्रों की भाषा में तो कुछ-न-कुछ अन्तर होता ही है। रावजी ने पं० कालूरामजी को खाखी पाखण्डी साधु समझा है। हम रावजी से विनम्र निवेदन करेंगे कि वे पं० कालूरामजी के दोनों छपे जीवनचरितों और किशनपोल जयपुर की शताब्दी समारोह के समय प्रकाशित स्मारिका पढ़ें। उन्हें पता लग जायगा कि वे पाखण्डी साधु थे या वैदिक धर्म के सच्चे अनुयायी और प्रचारक थे। किसी व्यक्ति के चरित को यथावत् जाने बिना उस पर कीचड़ उछालना आर्यों का काम नहीं। रही 'अन्तिम लाइन को काटने की बात' इसे रावजी पत्र के जाली होने में एक प्रमुख प्रमाण मानते हैं। हमें किसी शोधकर्ता ने यह नहीं बतलाया कि किसी पंक्ति को लिखकर काटना उसके जाली होने का प्रमाण माना जाता है। यदि इसे मानें तो ऋषि दयानन्द का कोई ग्रन्थ न बचेगा, जो

---

१. विवाह और खान-पानादि व्यवहार।

इस युक्ति से जाली न कहा जा सके। उनके ग्रन्थों के हस्तलेखों में स्थान-स्थान पर लिखी हुई पंक्तियाँ काटी हुई मिलती हैं। अजमेर जाकर उनके हस्तलेख जाली सिद्ध करने के जोश में यह नहीं भूलना चाहिये कि उनकी युक्ति का कहाँ क्या प्रभाव हो सकता है।

१७. रावजी—सबका वस्त्र भगवाँ होना चाहिये। यह निर्देश ही बता रहा है कि यह सब खाकी प्रपञ्च है।

**समीक्षा**—देखो पूर्व समीक्षा।

१८. उपदेश संख्या ९-१० को ठीक मानने के लिये रावजी का धन्यवाद! कुछ अंश तो उन्हें ठीक प्रतीत हुआ।

१९. रावजी लिखते हैं—चैत्र बदि १४ सं० १९३९ को गुरुवार नहीं था शुक्रवार था।.....यह तिथि ठीक नहीं।

**समीक्षा**—चैत्र बदि १४ को मङ्गलवार होना ठीक नहीं या चैत्र बदि १४ तिथि ठीक नहीं? आप दोनों में से क्या कहना चाहते हैं? अथवा इस भूल से पत्र को जाली सिद्ध करना चाहते हैं? पत्र लिखते समय तिथि और वार की भूल होना साधारण बात है। प्रत्येक व्यक्ति से कभी न कभी भूल होती ही रहती है। इससे पत्र का जाली होना कभी प्रमाणित नहीं होता। यह भूल क्लेरिकल मिस्टेक (लिपिकर की भूलें) की गिनती में आती है।

हम रावजी के ज्ञानार्थ शाहपुरा-निवासकाल में लिखे गये ऐसे पत्रों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जहाँ संवत् की भूल है। द्र०—पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ६८९, पं० ३ 'वैशाख कृष्णा ४ गुरु संवत् १९३९'; पृष्ठ ६९५, पं० १९ 'वैशाख शुक्ल २, संवत् १९३९। स्थान शाहपुरा।' दोनों स्थानों में संवत् १९४० की जगह १९३९ लिखा गया है। आगे पीछे के इसी वैशाख मास के पत्रों पर संवत् १९४० लेख शुद्ध है।

२०. रावजी 'दयानन्द सरस्वती' के हस्ताक्षर के विषय में लिखते हैं—उपर्युक्त हस्ताक्षर जाली हैं, क्योंकि हस्ताक्षरों के ऊपर की शिरो-रेखा दो स्थानों पर त्रुटित है। महर्षि दयानन्द अपने हस्ताक्षर में शिरो-रेखा निरन्तर लगाते थे।

समीक्षा—वाह रावजी आपकी दृष्टि धन्य है। आपको पूरे पत्र में और कहीं अक्षर वर्ण शिरोरेखा त्रुटित दिखाई नहीं दी, यहाँ दीख गई।

वास्तविकता यह है कि हमें दोनों पत्रों की जो फोटो स्टेट कापी मिली है, वह पूरी तरह साफ नहीं है. कहीं-कहीं मात्राएँ भी पूरी नहीं आई हैं। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—(१) फोटो स्टेट कापी निकालने में असावधानी, (२) पत्र पुराना होने से स्याही का रङ्ग फीका पड़ जाना। जैसे दोनों पत्रों में कहीं-कहीं अक्षर वर्णमात्रा आदि नहीं आई है, वैसे ही यहाँ भी शिरोरेखा टूट गई है। आपने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि लेखक मंत्र, आनंद, अंत्यज, दयानंद आदि में अनुस्वार लिखता है। परन्तु दोनों पत्रों के हस्ताक्षरों में अनुस्वार न होकर परसवर्ण 'न्द' लिखा गया है।

श्री देवजी और श्री रावजी की समालोचना यहाँ समाप्त हो जाती है। प्रथम पत्र में हस्ताक्षर के नीचे पत्र प्रमाणित करने की जैसी पंक्तियाँ हैं, वैसी ही इस पत्र के नीचे भी हैं। ये परोपकारी पत्र में नहीं छपी हैं। इसका क्या कारण है, हमें ज्ञात नहीं। ये पंक्तियाँ तीसरे पृष्ठ पर हैं। सम्भव है दूसरे पत्र के अन्त में हस्ताक्षर देखकर तीसरे पृष्ठ का ब्लाक नहीं बनाया अथवा भूल से रह गया। यह पं० धर्मवीरजी ही बता सकते हैं। यदि ये पंक्तियाँ छपी होतीं और उसमें पत्र को सत्यापित करनेवाले समर्थदान के हस्ताक्षर देखकर सम्भव है, रावजी समालोचना न लिखते। मुंशी समर्थदान ऋषि दयानन्द का इतना विश्वस्त व्यक्ति था कि ऋषि दयानन्द ने उसे सत्यार्थप्रकाश में भाषा का संशोधन, अनुचित शब्द को निकालने और टिप्पणी लिखने की छूट दी थी। द्र०—पत्र और विज्ञापन भाग २, पृष्ठ ६२०, पं० ५; ७६४, ३-४; ६१२, १६; ६१७, १४। इतना ही नहीं, उसने यजुर्वेद अ० १३ के मन्त्र ४७-५१ तक के मन्त्रों का जो भाष्य कम्पोज होकर छपने के लिये तैयार था, रोक कर ऋषि दयानन्द के पास वापस भेजा। उसमें ऐसा लेख था, जिससे माँसाहारी माँस खाने का विधान मान सकता था। ऋषि दयानन्द ने उसे पुनः शोधकर भेजा और लिखा—**'शोधने में माँस खाने में कोई रह गया हो तो उसको तुम काट देना और उचित धरवा देना'** (ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ६६६, पं० २६, पृष्ठ ६७०, पं० २)। रावजी आपको शायद स्मरण होगा कि सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास के हस्तलेख में भी दो पंक्तियाँ कटी हैं, जिन पर मूलराज एम० ए० और उनके साथियों ने बहुत बावेला मचाया था। उन पंक्तियों की ओर भी मुंशी समर्थदान ने ही ऋषि दयानन्द का ध्यान आकृष्ट किया

था। (द्र०—ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, भाग ३, पूर्णसंख्या ४०६, पृष्ठ ४१३, १३-७-८३ का लिखा समर्थदान का पत्र)। उसे नर रत्न को पं० कालूरामजी ने ही स्वामीजी की सेवा में भेजा था। इतना ही नहीं, प्रसिद्ध शास्त्रार्थमहारथी **पं० गणपति शर्मा** भी कालूराम के ही उपदेश से वैदिक धर्म में दीक्षित हुए थे (द्र०—आर्यसमाज जयपुर की शताब्दी समारोह स्मारिका, पृष्ठ ५३)। ऐसे नररत्नों को ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज को प्रदान करनेवाले पं० कालूरामजी[1] के प्रति तिरस्कार प्रदर्शित करना न केवल अनुचित है, अपितु प्रायश्चित्तीय अपराध है।

इसलिये जब समर्थदान जैसा विश्वस्त व्यक्ति इस उपदेश-पत्र को प्रमाणित करता है, तो कम-से-कम मैं उसे जाली नहीं मान सकता। मुंशी समर्थदान के हस्ताक्षर मैं पहचानता हूं और अन्यत्र उपलब्ध भी हैं।

**विशेष**—अब यह भी स्पष्ट हो गया है कि ऋषि दयानन्द ने ये उपदेश लिखवाकर शाहपुरा में ही पं० कालूरामजी को हाथों हाथ दिये थे। आर्यसमाज जयपुर की शताब्दी समारोह की स्मारिका के पृष्ठ ३६ पर लिखा है—**कालान्तर में आपने मेरठ जयपुर व शाहपुरा में महर्षि के दर्शन किये थे।**

**आवश्यक विचार**—हमने जो दो पत्र छापे हैं, उनके अन्त में इन्हें सत्यापित करनेवाली पंक्तियाँ हैं। प्रथम पत्र में सत्यापित करनेवाला गौरीशंकर शर्मा ही है, जो इस पत्र का और दूसरे का लेखक है। दूसरे पत्र के अन्त में सत्यापित करनेवाली पंक्तियाँ उसी के हाथ की लिखी हैं, परन्तु उसमें गौरीशंकर शर्मा के अतिरिक्त वैदिक धर्म सभा के मन्त्री **सीवनारायण** के और **समर्थदान** के भी हस्ताक्षर हैं। किस संवत् में यह सत्यापन किया गया, यह ज्ञात नहीं हो सका, क्योंकि फोटोस्टेट कापी में 'सं० १९' के आगे दो अङ्क टूटे हुए हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन दो पत्रों को सत्यापित करने की क्यों आवश्यकता पड़ी? मुझे इस विषय में कोई लिखित प्रमाण नहीं मिला। परन्तु आर्यसमाजियों में आरम्भकाल से ही किसी व्यक्तिविशेष

१. जयपुर की आर्यसमाज आपके ही उपदेश से स्थापित हुई थी। पं० कालूराम जी के वैदिक धर्मप्रचार एवं कर्नल आल्काट और मैडम ब्लेवेट्स्की के साथ इनके शास्त्रार्थ के विषय में जयपुर आर्यसमाज की स्मारिका में देखें।

पर छींटाकसी करने की आदत चली आरही है (इसके अनेकों प्रमाण हैं)। पं० कालूरामजी ऋषि दयानन्द के सम्पर्क में आने से बहुत पूर्व ही धर्मोपदेश में प्रवृत्त हो गए थे और उनके ब्राह्मण से अन्त्यज पर्यन्त शिष्य थे, जिनको वे प्रचलित परम्परानुसार मन्त्रदीक्षा देते थे। इसी कारण उन्होंने शाहपुरा में ऋषि दयानन्द से बातचीत की और उनसे यह उपदेशपत्र प्राप्त किया। पं० गौरीशंकर भी पं० कालूराम के शिष्य थे। वे भी उसी ढङ्ग पर उपदेश देते थे। उन्होंने भी मन्त्रदीक्षा के लिये ऋषि दयानन्द को पत्र लिखकर निर्देश प्राप्त किया (द्र०—ऊपर छपा पत्र संख्या १)। दोनों का ही आर्यसमाज जयपुर के साथ सीधा सम्बन्ध था। प्रतीत होता है, उस समय भी किन्हीं आर्षपुरुषों ने दोनों के मन्त्रदीक्षा पर आक्षेप किये होंगे। दोनों ने इसके लिये ऋषि दयानन्द की पत्ररूप में प्राप्त सम्मति का निर्देश किया होगा। तब आर्यसमाज जयपुर के अधिकारियों ने उक्त पत्रों को सत्यापन के लिये लेखक गौरीशंकर एवं मुंशी समर्थदान को रामगढ़ भेजा होगा (तीसरा व्यक्ति तो रामगढ़ की आर्यसभा का मन्त्री ही है)। इसीलिये दोनों पत्रों पर ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षर के बाद सत्यापन की पंक्तियाँ लिखी गईं और हस्ताक्षर किये गये। यह सब पत्रों की स्थिति देखकर हमने अनुमान किया है, वास्तविकता तो देव ही जानता है।

अन्त में हम दो आवश्यक बातें लिखकर इसे समाप्त करते हैं—

१. ऋषि दयानन्द के केवल ग्रन्थों को पढ़ कर ही ऋ० द० के मन्तव्य व्यवहार और देशकाल स्थिति के अनुसार व्यवहार करने की शिक्षा के विषय में यथावत् नहीं जान सकते। इसके लिये ऋ० द० के जीवन-चरितों प्रवचनों तथा पत्रों और विज्ञापनों का भी गहराई से अध्ययन एवं मनन आवश्यक है।

२. वास्तविकता तो यह है कि ऋषि दयानन्द को सम्पूर्ण रूप से जानना संसार के सबसे ऊँचे पर्वत की उबसे ऊँची सागरमाथा चोटी पर चढ़ने से भी कठिन है। यह मैं अपने दीर्घकालीन अध्ययन स्वाध्याय एवं मनन के आधार पर लिख रहा हूं। मैं एक उदाहरण देता हूं—

ऋ० द० ने पठन-पाठन विधि में वेदान्तदर्शन पढ़ने से पूर्व उपनिषदों को पढ़ने का इसलिये विधान किया है कि वेदान्तदर्शन में उपनिषद् वाक्यों की विवेचना की है। यही स्थिति मीमांसादर्शन की है। उसमें भी वैदिक वाक्यों की मीमांसा की गई है। अतः मीमांसा पढ़ने से पूर्व एक वेद

पढ़ना(कम से कम कण्ठाग्र करना)आवश्यक है। मीमांसा के सभी भाष्यकार स्पष्ट लिखते हैं कि अधीतवेद व्यक्ति ही मीमांसा पढ़ने का अधिकारी है। परन्तु **ऋ० द० ने मीमांसा से पूर्व वेदाध्ययन का उल्लेख क्यों नहीं किया?** यह शङ्का मुझे लगभग ४० वर्ष से आन्दोलित करती रही। इसका समाधान अभी कुछ मास पूर्व समझ में आया। उपनयन के पश्चात् वेदारम्भ संस्कार का विधान ऋ० द० ने किया है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार वेदारम्भ संस्कार के बाद वेदाध्ययन (कण्ठस्थीकरण) आरम्भ हो जाता था। ऋ० द० को इसी परिपाटी के अनुसार उनके पिता ने यजुर्वेद कण्ठस्थ कराया था। **वेदारम्भ** नाम ही इस सारी बात को प्रकट करता है। यतः ऋ० द० प्राचीन परिपाटी को जानते थे और वेदारम्भ का मूल प्रयोजन भी उन्हें अवगत था। तदनुसार वेदारम्भ के पश्चात् किसी न किसी वेद का कण्ठस्थीकरण आरम्भ करने पर जब मीमांसा के अध्ययन का समय आयेगा, तब तक एक वेद का अध्ययन पूरा स्वतः हो जायेगा। अत एव उन्होंने मीमांसा के अध्ययन से पूर्व वेदाध्ययन का विधान नहीं किया। यह सारा रहस्य छिपा है, **वेदारम्भ** नाम में। आर्यसमाज में यह वेदाध्ययन की परिपाटी आरम्भ ही नहीं हुई, इसीलिये मुझे मीमांसा-अध्ययन के काल में यह शङ्का उत्पन्न हुई और इसका समाधान हुआ लगभग ४० वर्ष पश्चात्। अभी भी बहुत सी शङ्काएँ हैं, जिनका समाधान मुझे आजतक ज्ञात नहीं हुआ।

अतः मेरा आर्य बन्धुओं एवं विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि वे ऋषि दयानन्द को समग्र रूप में जानने का प्रयत्न करें। **गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य** न्यायानुसार ऋ० द० से सम्बद्ध किसी विषय के लिखने में शीघ्रता न किया करें। **ओम् शम्।**

परिशिष्ट—२

# ऋषि-भक्त आर्यजनता सावधान !

## परोपकारिणी सभा द्वारा १०५ वर्षों के पश्चात्

### सत्यार्थप्रकाश में अवांछनीय परिवर्तन

परोपकारिणी सभा ने ३६ संस्करण यथावत् छापने के पश्चात् सन् १९९१ में सत्यार्थप्रकाश के ३७वें संस्करण में अवाञ्छनीय परिवर्तन किया है। मैं सन् १९९१ के अगस्त के आरम्भ में अजमेर गया था। उस समय मुझे यह संस्करण देखने को मिला था। ग्रन्थ पूरा छप गया था, आरम्भ में सभा मन्त्री का वक्तव्य भी छप चुका था। उसे सामान्य रूप से देखने पर जो मेरी प्रतिक्रिया हुई, वह मैंने उस व्यक्ति के सामने प्रकट कर दी, जिसके सौजन्य से यह ग्रन्थ देखने को मिला।[1]

सत्यार्थप्रकाश शताब्दी समारोह से पूर्व रामलाल कपूर ट्रस्ट से सत्यार्थप्रकाश का एक विशिष्ट संस्करण प्रकाशित करने की योजना बनाई, जो शुद्धता की दृष्टि से सर्वोत्तम तो होवे ही, साथ ही शोधकर्ता छात्रों एवं विद्वानों के लिये विशेष उपयोगी होवे। यह संस्करण जनवरी १९७३ में छपा। जब सत्यार्थप्रकाश पर कार्य आरम्भ किया था, तब तक परोपकारिणी सभा द्वारा ३२ या ३३ संस्करण छप चुके थे। उनमें २५-२६ संस्करण मैं विविध व्यक्तियों से प्राप्त करने में सफल रहा और इन सभी संस्करणों के पाठ मिलाये। इस अत्यन्त समयसाध्य एवं परिश्रमसाध्य कार्य को मैंने स्वयं किया। इस कार्य से एक तथ्य यह सामने

---

१. उस समय मैंने इस विषय में इसलिये नहीं लिखा था, यत: वह विक्रय-विभाग द्वारा प्रसारित नहीं हुआ था। गत दिसम्बर मास के उत्तरार्ध में विक्रयार्थ तैयार ग्रन्थ की प्रति प्राप्त हुई। अत: अब इस संस्करण के विषय में लिख रहा हूं।

आया कि द्वितीय संस्करण से लेकर ३२-३३ संस्करण तक सत्यार्थप्रकाश में संशोधकों के प्रमाद एवं अज्ञता के कारण कहीं-कहीं स्वल्प, परन्तु नगण्य कुछ पाठभेद हुए, परन्तु ग्रन्थ प्रायः सुरक्षित रहा। इसका एकमात्र श्रेय परोपकारिणी सभा के दीर्घकाल तक मन्त्रीपद आसीन रहनेवाले श्री दीवानबहादुर हरविलासजी सारडा को है। वे सभा की ओर से छप रहे ग्रन्थों के संशोधक पण्डितों पर सूक्ष्म एवं कठोर दृष्टि रखते थे।

सत्यार्थप्रकाश पर काम करनेवाले किसी भी व्यक्ति को निम्न बातों का परिज्ञान होना परम आवश्यक है—

१—ग्रन्थ के लेखन वा मुद्रण के इतिहास का ज्ञान और सहायक व्यक्तियों के चरित्र का ज्ञान।

२—संशोधन करनेवाले को सम्पादनकला का यथेष्ट परिज्ञान। इसके लिए ३-४ विशिष्ट ग्रन्थों पर उसे कार्य का अनुभव होना आवश्यक है।

३—स्वयं ३-४ ग्रन्थों का लेखन एवं मुद्रण का अनुभव। जिससे पाण्डुलिपि (रफ)कापी और मुद्रण (प्रेस)कापी के भेद का उसे अनुभव होवे।

इन बातों के अनुभव के बिना जो व्यक्ति सत्यार्थप्रकाश सदृश किसी ग्रन्थ पर कार्य करेगा, या ऐसे व्यक्तियों से जो सभा सम्पादन कार्य करायेगी, उससे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होगी।

सत्यार्थप्रकाश के प्रकृत संस्करण के आरम्भ में परोपकारिणी सभा के मन्त्री और कार्यकर्ता श्री पं० विरजानन्दजी दैवकरणि के नाम से जो वक्तव्य छपे हैं, उनमें कार्य करनेहारे तथा जिनकी प्रेरणा से कार्य हुआ है, उनके नाम स्पष्ट हैं, परन्तु सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन का उत्तर-दायित्व परोपकारिणी सभा का ही होने से हम उसी को लक्ष्य में रखकर लिख रहे हैं। इसलिए कार्यकर्ता आदि के विषय में नामग्राहपूर्वक लिखना हमें इष्ट नहीं।

ऋषि दयानन्द को अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ लेखन वा मुद्रणकार्य के लगभग १० वर्ष के काल में लेखक एवं मुद्रक के रूप में एकमात्र मुंशी समर्थदान ही ऐसा व्यक्ति मिला, जिसकी ऋषि दयानन्द के प्रति विशेष श्रद्धा थी और उनके ग्रन्थों को यथावत् उत्तम रूप में प्रकाशन करने की विशेष लगन थी। अन्य सभी व्यक्ति हृदय से प्रायः कुटिल थे। ऋषि दयानन्द

को भी मुंशी समर्थदान पर पूरा भरोसा था। यह रहस्य ऋषि दयानन्द के पत्रव्यवहार से हस्तामलकवत् प्रतीत हो जाता है।

मुंशी समर्थदान ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ छापने में कितने जागरूक थे, इसका एक ही उदाहरण देना पर्याप्त समझते हैं—

ऋषि दयानन्द के फाल्गुन सुदी ९ शनिवार सं [१९३९] १७ मार्च १८८३ के पत्र से ज्ञात होता है कि मुंशी समर्थदान ने १२ मार्च १८८३ को एक पत्र लिखा था और साथ ही यजुर्वेदभाष्य अ० १३ के ४७-५२ मन्त्र तक की प्रेस कापी और कम्पोज किये पत्र संशोधन के लिये भेजे थे। मुंशी समर्थदान को इन मन्त्रों के भाष्य से यह आशंका हुई थी कि जनता इसकी आड़ में 'ऋषि दयानन्द मांसभक्षण को गर्हित नहीं मानते थे' ऐसा प्रचार करने में समर्थ होगी।

ऋषि दयानन्द ने अपने उक्त पत्र के सन्दर्भ (पैराग्राफ १) में लिखा है—

"हमने आज मन्त्र ४७ से लेकर ५२ मन्त्र तक के पत्रे शोधकर आज आये और आज ही रजिस्ट्री कराकर भेज दिये। उसमें जहाँ कहीं माँस खाने का विषय [था] काट दिया और उचित अर्थ कर दिया।..... **यदि शीघ्रता से शोधने में माँस खाने [के विषय] में कोई रह गया है, तो उसको तुम कटवा देना और यथोचित धरवा देना।**" पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ६६९, ६७० (तृतीय सं०)।

ठीक ऐसा ही आदेश ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेदभाष्य अ० १३ की प्रेसकापी के पृष्ठ ४५९ की पीठ पर (दूसरी ओर) **अपने हाथ से** लिखा है—

"जैसा इसको शोध के भेजते हैं, वैसा पुनः कम्पोज कराके छपवा दो और **जो कहीं शोधने में भूल रह गई हो तो तुम वहाँ शोध लेना, जिससे माँसभक्षण का अभिप्राय कुछ भी न रहे**। बाकी सब पत्रों का उत्तर कल भेजेंगे और अगले अङ्क के पत्रे तथा थोड़े से सत्यार्थप्रकाश के पत्रे भी भेजेंगे।"[1]

---

१. यजुर्वेदभाष्य की प्रेसकापी के पृष्ठ ४५९ की पीठ पर लिखी इस टिप्पणी को हमने ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन में इसलिये सम्मिलित कर लिया है, जिससे यह टिप्पणी सुरक्षित रहे। द्र०—भाग २, पृष्ठ ६६६ (तृतीय संस्करण)।

ऐसा ही एक मांसभक्षणविषयक प्रसङ्ग सत्यार्थप्रकाश के दसवें समुल्लास में हाशिये पर लिखे अंश में था। उसके विषय में मुंशी समर्थदान ने १३-७-८३ के पत्र में ऋषि दयानन्द को लिखा था—

"निवेदन यह है कि वेदभाष्य में जो माँसभक्षण का विधान आया था, उसको तो आपने निकाल दिया था और मुझको भी आज्ञा दी थी कि माँसभक्षण का विधान न आवे, इस प्रकार छाप दो, सो मैंने छाप दिया। अब सत्यार्थप्रकाश में भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण पाया। इसमें भी आपने माँस खाने की आज्ञा स्पष्ट दी है।

प्रथम जब पुस्तक लिखा गया था, तब तो मांस की आज्ञा नहीं दी, पीछे से शोधते समय आपने दी है और **ऊपर से आपने बनाया है, इससे मेरी शक्ति नहीं कि इसको काट दूँ**। इसलिये आपसे निवेदन किया है। अब जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा किया जाये।"

द्र०—ऋ० द० को लिखे गये पत्र और विज्ञापन, भाग १,[1] पृष्ठ ४१४, ४१५।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि मुंशी समर्थदान ने ऋषि दयानन्द की आज्ञा के बिना सत्यार्थप्रकाश में स्वयं कुछ हस्तक्षेप नहीं किया।

अब संशोधित सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण का इतिहास संक्षेप में लिखते हैं। (**जिन्हें विस्तार से जानने की इच्छा हो, वे मेरे 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ देखें**)।

१. संशोधित सत्यार्थप्रकाश की दो प्रतियाँ परोपकारिणी सभा के संग्रह में हैं (हमने दोनों देखी हैं)। इनमें एक पाण्डुलिपि (रफ कापी) है और दूसरी मुद्रण (प्रेस) कापी। दोनों पर ऋषि दयानन्द के पर्याप्त संशोधन हैं। अर्थात् प्रेस कापी भी ऋषि दयानन्द ने पूरी तरह छपने से पूर्व देखी थी।

२. सत्यार्थप्रकाश द्वितीय संस्करण के चौदहवें समुल्लास के अन्त में लिखित "अल्लोपनिषद् समीक्षा" पाण्डुलिपि में नहीं है। यह श्रावण शुक्ला सं० १९४० के "भारतमित्र" में छपे अल्लोपनिषद् सम्बन्धी लेख को देखकर लिखी थी। २७ सितम्बर १८८३ तक ऋषि दयानन्द

---

१. पूरे संग्रह की दृष्टि से भाग ३।

ने सत्यार्थप्रकाश के १३वें समुल्लास की प्रेसकापी प्रेस में भेज दी थी।

३. ऋषि दयानन्द के जीवनकाल तक सत्यार्थप्रकाश के ४५ फार्म = ३६० पृष्ठ छप चुके थे।

४. इस समय प्रेस में मुंशी समर्थदान जैसा ऋषिभक्त एवं सुयोग्य प्रबन्धक था। इसी कारण सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण यथावत् छप सके।

५. ऋषि दयानन्द के पास भूमिका सहित सत्यार्थप्रकाश के आरम्भ के छपे हुए कुछ फार्म पहुंचे तो उनमें मुंशी समर्थदान की लिखी हुई टिप्पणी थी। उसे देखकर ऋषि दयानन्द ने भाद्र बदी १२ सं० १९३९ (१सितम्बर १८८२) के पत्र में लिखा है—**जहां जहां उचित समझो वहां वहां नोट दे देना** (ऋ० द० के पत्र-व्यवहार भाग २, पृष्ठ ६१२)। पुनः ऋ० द० ने आश्विन बदी ६ सं० १९३९ (२ अक्टूबर १८८२) के पत्र के अन्त में लिखा है—**तथा जो तुमको विचारपूर्वक नोट देना हो सो भी देते जाना** (भाग २, पृष्ठ ६१७)।

इस प्रकार ऋषि दयानन्द ने दो पत्रों में मुंशी समर्थदान को टिप्पणियाँ देने का आदेश दिया था।

समर्थदान ने प्रारम्भिक टिप्पणियों पर **स० दा०** ऐसा स्वसंक्षिप्त नाम का संकेत इसलिये किया था कि वे टिप्पणियाँ ऋषि दयानन्द की न समझी जायें। परन्तु जब ऋषि दयानन्द ने आदेश दिया—**सत्यार्थ-प्रकाशादि किसी ग्रन्थ में नोट लिखो तो उसमें किसी का नाम न लिखना। टाइटल पेज के ऊपर तो तुम्हारा नाम रहना ही चाहिए परन्तु ग्रन्थ के नोट पर न रहना चाहिये।** (भाग २, पृष्ठ ६३९)।

इस आदेश के प्राप्त होने पर मुंशी समर्थदान ने टिप्पणियों पर जहाँ-जहाँ "स० दा०" संकेत दिया था, उन पर कागज की चिप्पी लगा दी। परन्तु अगले किसी संस्करण में चिप्पी द्वारा छिपाया पाठ छापना शुरू कर दिया।

६. ऋषि दयानन्द ने मुंशी समर्थदान को भाषा के संशोधन का भी अधिकार दिया। ऋषि दयानन्द ने आश्विन सुदी ३ रवि (१५ अक्टूबर १८८२) के पत्र में लिखा है—**जो कहीं भाषा असम्बद्ध हो और अभिप्राय वा अक्षर मात्रा आदि से अशुद्ध हो, उसको तुम ही शोध लिया करो**

(भाग २, पृष्ठ ६२०)। पुनः भाद्र बदी १ सं० १९४० अर्थात् १९ अगस्त १८८३ (निधन से १ मास १२ दिन पूर्व) के पत्र में लिखते हैं—**सत्यार्थ-प्रकाश में जो कोई ऐसा अनुचित शब्द हो तो निकालकर जो हमारे आशय से विरुद्ध न हो वह शब्द उनके स्थान में धरना और हमको लिख-कर सूचित करना यह शब्द धरे हैं** (भाग २, पृष्ठ ७६४)।

१९ अगस्त १८८३ के पत्र के उत्तर में मुंशी समर्थदान ने २४ अगस्त १८८३ को लिखा पत्र पूरा करके **पुनः निवेदनमिदम्** लिखकर लिखा है—**आपने भाषा बदलाने की आज्ञा दी सो मालूम हुआ।.....कापी में गड़बड़ी बहुत आती है। असम्बद्ध भाषा बहुत आती है।.....जो आपकी कापी के अनुकूल छाप दिया जाता तो ग्रन्थ बहुत अशुद्ध होता.....**। ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्र, भाग २, (भाग ४), पृष्ठ ४६२।

वस्तुतः यह पूरा उद्धरण पठनीय है। इससे स्पष्ट होता है कि मुंशी समर्थदान ने सत्यार्थप्रकाश को उत्तम से उत्तम छापने के लिए कितना परिश्रम किया था।

अब हम वर्तमान(सन् १९९१)में छपे संस्करण के विषय में लिखतेहैं—

१. जब हमने गत अगस्त (१९९१) में यह संस्करण देखा था तो उसमें सभा के मन्त्री श्री गजानन्दजी के वक्तव्य में 'मूल कापी के अनुसार' छापने का निर्देश था। हमें यह शब्द खटका था। पाण्डुलिपि(रफ कापी) को मूल प्रति कहना क्या उचित है ?

२. इस संस्करण को मूल प्रति के आधार पर छापने के कारण ऋषि दयानन्द के आदेश के अनुसार मुंशी समर्थदान द्वारा लिखी गई सब टिप्पणियाँ हटा दी गयीं।

३. ऋषि दयानन्द के आदेश के अनुसार मुंशी समर्थदान ने भाषा के संशोधन में जो शब्दादि बदले थे, उन्हें हटा दिया गया।

इस धींगामुस्ती से जहाँ मुंशी समर्थदान द्वारा किया गया सारा परिश्रम नष्ट हुआ, वहीं **ऋषि दयानन्द के आदेशों पर भी पानी फेर दिया गया।** सत्यार्थप्रकाश और ऋषि दयानन्द के साथ इस १९९१ में छपे ३७वें संस्करण में ऋषि दयानन्द द्वारा संस्थापित सभा ने जैसा **क्रूर व्यवहार किया है,** वैसा तो आर्यसमाज के विरोधी पं० कालूराम ने सन् १८७५ के सत्यार्थप्रकाश को छापने में भी नहीं किया। उसने १८७५ के सत्यार्थप्रकाश को अक्षरशः छापा।

इतना ही नहीं, देशी-विदेशी बीसियों भाषाओं में आर्यसमाज ने जो अनुवाद कराये थे, वे भी सब व्यर्थ हो गये। क्या यह आर्यसमाज के साथ कम मजाक है? काम करने पूर्व उससे उत्पन्न होनेवाले परिणाम पर भी ध्यान देना चाहिये था। अपाय-उपाय पर बिना ध्यान दिये कार्य करना किसी समझदार व्यक्ति का काम नहीं होता।

यह सब गड़बड़ी हुई है एक व्यक्ति को संशोधन का अधिकार देने के कारण। इससे पूर्व जो ३४वाँ संस्करण छपा था, उसके लिए सभा ने श्री पं० भगवद्दत्तजी और गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु की समिति बनाई थी। श्री धर्मसिंहजी कोठारी ने रफकापी और प्रेसकापी से यथावत् मिलान करके पाठभेद इकट्ठे करके उनको दोनों विद्वानों के सम्मुख रखकर उनके निर्देशानुसार संशोधन किया था। इस कार्य के लिए कोठारीजी दोनों विद्वानों के पास कई बार गये और कई-कई दिन उस पर विचार किया। प्रस्तुत संस्करण के वक्तव्य में जो लिखा है कि **मूल कापी से किसी ने मिलान नहीं किया**, असत्य है। ३४वें संस्करण में कई स्थानों पर ऐसे बढ़े हुए पाठ हैं, जो पूर्व संस्करणों में नहीं थे।

इसी प्रकार १४वें समुल्लास में, जो ऋषि दयानन्द के बाद छपा, कुछ समीक्षाएँ समर्थदान ने काट दी थीं। उन्हें इस संस्करण में पुनः प्रविष्ट कर दिया गया है। इन कटी हुई आयतों के सम्बन्ध में जब श्री पं० महेशप्रसादजी मौलवी आलिम फाजिल (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अरबी-फारसी विभाग के अध्यक्ष) को दीवान बहादुर श्री हरविलास सारडा जी ने १९४४ में १४वें समुल्लास के संशोधन के लिए बुलाया था, तब भी विचार हुआ था। श्री पं० महेशप्रसादजी ने स्पष्ट कहा था, इन्हें न छापा जाये। मैं उस समय परोपकारिणी सभा में ही काम करता था, अतः यह घटना मेरे सामने की है।

**विशेष**—जब मैंने गत अगस्त (१९९१) में इस छपे संस्करण को देखा था, तब सभा के मन्त्रीजी का ही वक्तव्य छपा था। अब जो प्रकाशित हुआ है, उसमें मन्त्रीजी का वक्तव्य भी बदला हुआ है, श्री देवकरणि जी का जोड़ा गया है। आरम्भ के पृष्ठ बदले गये हैं, जो चिपकाये गये हैं।

इतना ही नहीं, सत्यार्थप्रकाश की जो भूमिका छपी है, वह तीसरे पृष्ठ से आरम्भ हुई है। उससे पूर्व दो पृष्ठ उत्तरार्ध की विषयसूची के हैं। इनके साथ भूमिका को मिलाकर ८ पृष्ठ का एक फार्म बनाया गया

है। आगे सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास पृष्ठ ९ से आरम्भ होता है। अर्थात् भूमिका के पृष्ठ सत्यार्थप्रकाश के साथ छपे, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु प्रथम फार्म के आरम्भ में तीसरे पृष्ठ से आरम्भ होनेवाली भूमिका के साथ जो २ पृष्ठ उत्तरार्ध की सूची के जोड़े गये हैं, वे स्पष्ट बताते हैं कि प्रथम फार्म भी बदलकर दूसरी बार छपवाया है, क्योंकि प्रथम फार्म के पृष्ठ १-२ (संख्या नहीं छपी) पर उत्तरार्ध की विषयसूची कैसे छापी जा सकती है; क्योंकि उसकी पृष्ठसंख्या तो समग्र ग्रन्थ छपने पर ही दी जा सकती है। इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि आरम्भ के १४ पृष्ठ, जिनमें ग्रन्थ का प्रथम फार्म भी है, बदलकर छापा गया है। साधारण-जन इसे नहीं समझ सकते, परन्तु मुझ जैसे व्यक्ति से यह नहीं छिप सकता।

मूलग्रन्थ में परिवर्तन के कुछ और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं परन्तु इस समय स्वास्थ्य अधिक खराब होने से कुछ परिश्रम नहीं कर सकता। कल क्या होगा, इसका कुछ पता नहीं। अतः मैंने अपना कर्तव्य निभाने के लिए असमर्थता में होते हुए भी लिखा है।

यदि सभा के अधिकारियों को सत्यार्थप्रकाश के साथ किये गये मजाक से कुछ भी ग्लानि हो, अपनी भूल उन्हें प्रतीत हो तो इस संस्करण को जला देना चाहिये। अन्यथा हो सकता है कि कोई विरोधी सनातनी वा ईसाई, मुसलमान सत्यार्थप्रकाश बदलने के विषय में न्यायालय में मुकदमा चला सकता है। तब सभा को लेने के देने पड़ जायेंगे।

अभी भी समय है। सभा के अधिकारी इस पर पुनः विचार करें। विद्वानों से इस विषय में सम्मति लें। अन्यथा यदि आर्यजनता और विरोधी लोगों ने इस पर परिवर्तन का आक्षेप किया तो सभा क्या जवाब देगी? मेरा स्वास्थ्य अत्यन्त गिर गया है, फिर भी यह लेख इस दृष्टि से लिखा है कि सभा के अधिकारी समय रहते सचेत हो जावें। जिस व्यक्ति को सत्यार्थप्रकाश के इतिहास का ज्ञान नहीं और न स्वयं लेखक होने से रफकापी और प्रेसकापी के भेद का ज्ञान है, उसके द्वारा यदि कोई कार्य किया जायेगा, तो ऐसा ही परिणाम होगा। परमात्मा करे सभा के अधिकारियों को समय रहते सुबुद्धि आवे।

—वेदवाणी, वर्ष ४४, अङ्क ४ (फरवरी १९९२)

परिशिष्ट—३

## इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की

# दो विशिष्ट समालोचनाएं

## (१)

आदरणीय श्री पण्डितजी

वेदमन्दिर
ज्वालापुर
२९-७-९१

सादर नमस्ते !

आपकी पुस्तक "मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य" आद्यन्त पढ़ ली है। आपने यह पुस्तक लिखकर बहुत उपकार किया है। कुछ बातें आपके विचारार्थ लिख रहा हूं।

१. संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण से प्रमाणित होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारानुसार यज्ञकुण्ड भूतल से ऊपर केवल १५ अंगुल रहना चाहिए, शेष भूतल से नीचे खुदा हुआ। "और इन कुण्डों में १५ अंगुल की मेखला अर्थात् पाँच-पाँच अंगुल की ऊँची तीन बनावें और ये तीन मेखला **यज्ञशाला की भूमि से तले से ऊपर करनी**"। आपने यह उद्धरण दिया है—"यदि भूमि अशुद्ध हो तो यज्ञशाला की पृथिवी और जितनी गहरी वेदी बनानी हो, उतनी पृथिवी दो दो हाथ खोदकर अशुद्ध (मिट्टी) निकालकर उसमें शुद्ध मिट्टी भरें।" आपने यह भी लिखा कि 'गहरी' के स्थान पर 'बड़ी' होना चाहिए। पर 'गहरी' शब्द ही ठीक है। तात्पर्य यह है कि मिट्टी अशुद्ध होने पर यज्ञशाला के भूतल की मिट्टी दो-दो हाथ खोदकर अशुद्ध निकालकर शुद्ध भरें। इसी प्रकार यज्ञकुण्ड भूमि के नीचे जितना गहरा जाना है, उससे नीचे की भी मिट्टी दो-दो हाथ खोदकर शुद्ध मिट्टी भरनी है। यज्ञकुण्ड जितनी गहराई तक होगा, उसमें मिट्टी नहीं भरनी है।

२. आपने लिखा है कि दयानन्द ने अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्म

रूप त्रिविध प्रक्रिया को यथावत् स्वीकार करते हुए वेदार्थ की व्यावहारिकी नाम्नी चतुर्थ प्रक्रिया का अवलम्बन किया, पर स्वामी दयानन्द सरस्वती तो दो ही प्रक्रिया मानते हैं—पारमार्थिकी और व्यावहारिकी। मन्त्रार्थों के लिए उन्होंने अधियज्ञ, अधिदैवत एवं अध्यात्म इन शब्दों का कहीं प्रयोग नहीं किया। मुझे प्रतीत होता है कि जानबूझकर वे इन शब्दों से बचे हैं क्योंकि ये अनिश्चित एवं संदिग्ध अर्थवाले हैं। वेदार्थ प्रक्रिया त्रिविध ही है, यह न शतपथ के काल में मान्यता थी न निरुक्त के काल में। प्रक्रियाओं को त्रिविधता में बाँध देना स्कन्द, दुर्ग आदि की देन है। दयानन्द ने पारमार्थिक और व्यावहारिक अर्थ का जो मार्ग अपनाया है, वह सरल और सीधा है, तथा उसमें सभी प्रक्रियाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। अधियज्ञ, अधिदैवत एवं अध्यात्म प्रक्रियाओं से जिस प्रकार के अर्थ सूचित होते हैं, वैसे अर्थ तो दयानन्द ने किये हैं, पर उन्हें उक्त नामों से अभिहित नहीं किया। आपने जो ऋ० भा० भू० के उद्धरण दिये हैं, उनसे तो केवल इतना ज्ञात होता है कि कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड परक अर्थ स्वामीजी ने अपने भाष्य में कितने अंशों में किये हैं। इन अर्थों को बतानेवाली प्रक्रियाएँ अधियज्ञ एवं अध्यात्म नामक हैं, ऐसा स्वामीजी ने नहीं कहा न उन्हें अभिप्रेत है। प्रत्येक मन्त्र की त्रिविध प्रक्रिया में अर्थ हो सकते हैं, इसे भी स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वीकार नहीं करते।

३. निरुक्त में पदों के नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार विभाग करके पश्चात् यह कहा है कि—**तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च**। अतः नामों में उपसर्ग और निपातों का भी अन्तर्भाव करके उन्हें भी आख्यातज मानना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है। ऋधक्, वाङ् आदि कतिपय गिने-चुने निपातों के जो निर्वचन या सिद्धि प्रकार निरुक्त, उणादि या दयानन्द-भाष्य में मिलते हैं, उनके आधार पर सभी उपसर्गों और निपातों को धातुज क्यों मान लिया जाए? हो सकता है कि वे निपात वस्तुतः नाम ही हों, भले ही वेद में उनका प्रयोग निपात जैसा दीखता हो। फिर वेद के सभी शब्दों को यदि यौगिक या योगरूढ़ मानने का आग्रह किया जाए तो आख्यात को क्यों छोड़ दिया जाए?

स्वामीजी ने व्यावहारिक अर्थ सर्वत्र अलङ्कारों द्वारा प्रदर्शित किये हैं, यह स्थापना विचारणीय है। दयानन्दभाष्य में श्लेष, पूर्णोपमा,

उपमा, वाचकलुप्तोपमा, रूपक (तीन स्थलों पर) और प्रतीप (एक स्थान पर) इस अलङ्कार को दर्शाया गया है। श्लेष में जो भी एकाधिक अर्थ सूचित होते हैं, वे सभी वाच्य तथा तुल्यबल होते हैं। श्लेष अलङ्कार किसी अर्थ की मुख्यता और किसी की गौणता को नहीं कहाता। यथा श्लेष के आधार पर "अग्नि" शब्द का अर्थ परमात्मा और 'भौतिक अग्नि' किया जाता है,तो उसमें परमात्मा अर्थ मुख्य है और भौतिक अग्नि गौण है, इस बात को अलङ्कार नहीं कहता। हाँ, व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार किसी अर्थ को मुख्य और किसी को गौण मानने में स्वतन्त्र हैं। उपमा दयानन्द पारमार्थिक एवं व्यवहारिक दोनों ही प्रकार के अर्थों में मानते हैं। उषा के सूक्तों में कहीं उषा का वाच्यार्थ ही नारी करते हैं और कहीं वाचकलुप्तोपमा मानकर उषा से नारी का साम्य दर्शाते हैं। कहीं उषा का अर्थ (वाच्य) प्राकृतिक उषा ही करते हैं। उषा का पारमार्थिक अर्थ तो स्वामीजी ने कहीं नहीं दर्शाया 'अश्विनौ' के अध्यापक-उपदेशक आदि अर्थ वाच्यार्थ की कोटि में ही आयेंगे। अर्थ तो वाच्य, लक्ष्य या व्यङ्ग्य में से ही कोई होगा, इसके अतिरिक्त अलङ्कारजन्यता तो अर्थ की कोई स्वतन्त्र कोटि नहीं है। हाँ अलङ्कार से कोई वस्तु क्वचित् व्यङ्ग्य हो सकती है। किसी शब्द का कोई वाच्यार्थ कैसे हो गया, इसमें अनेक हेतु होते हैं। दयानन्द जब सूर्य, सविता आदि का अर्थ परमात्मा करते हैं, तब कहीं ये योगार्थ के बल से परमात्मा अर्थ लेते हैं, कहीं सूर्य के समान प्रकाशमान और प्रकाशक होने से परमात्मा अर्थ मानते हैं। इस प्रकार अलङ्कार का योगदान यदि है तो पारमार्थिक और व्यवहारिक दोनों प्रकार के अर्थों में है। अधिकतर तो स्वामीजी व्यावहारिक अर्थ भी योगार्थ के बल से ही करते हैं।

(५) पृ० १८१ पर आपने "**तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू**" में श्रेष्ठोपमा मानी है, तथा "**विधवेव देवरम्**" में हीनोपमा। पर यास्क ने दोनों ही उदाहरण हीनोपमा के दिए प्रतीत होते हैं। यास्क की व्याख्या है—"**अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते।**" न कि "**तस्करौ अग्निमन्थनाभ्यां बाहुभ्यामुपमिमीते।**" हीनोपमा को लोक में व्यतिरेकालङ्कार कहा जाता है (पृ० १८१) यह भाषा भी चिन्त्य है। व्यतिरेकालङ्कार उपमान-उपमेय-मूलक तो है, पर वह उपमा में नहीं आता। मुख्य व्यतिरेकालङ्कार वह है, जहाँ उपमेय की उपमान से अधिकता वर्णित होती है, यथा—"**अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की**

**विधुर्यथा**।" दर्पणकार ने दूसरा व्यतिरेक उसे भी माना है, जिसमें उपमेय की उपमान से न्यूनता वर्णित हो, यथा—"**हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः**।" पर इसमें हीनोपमा की रूपरेखा नहीं भासती है। हीनोपमा में उपमान न्यून होता है, पर व्यतिरेक (द्वितीय भेद) में उपमेय न्यून होता है, एवं दोनों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है।[1]

६. जो अचेतन ऋषि हैं, उनमें द्रष्टृपक्ष कैसे सम्भव है, इस शङ्का का उत्तर यह हो सकता है कि वहाँ अचेतनपरक अर्थ न लेकर लाक्षणिक अर्थ चेतन लिया जायेगा।

उपर्युक्त कुछ बातें छिद्रान्वेषणबुद्धि से नहीं लिखी हैं, अपितु आपकी इच्छा का आदर करते हुए ही लिखी हैं। यदि कोई ग्राह्य प्रतीत हो तो ग्रहण कर लें।

पुस्तक के सम्बन्ध में एक वाक्य में ही आरम्भ में मैंने लिख दिया है। उस एक वाक्य में ही सब कुछ आ जाता है। पुस्तक की जितनी प्रशंसा की जाए कम ही होगी। इससे मुझे भी कई नवीन सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनकी ओर पहले कभी ध्यान नहीं गया। प्रत्येक वेदप्रेमी एवं दयानन्द प्रेमी के लिए ग्रन्थ पठनीय है। जो सम्पूर्ण ग्रन्थ नहीं समझ सकते हैं, उन्हें भी पढ़ना अवश्य चाहिये। कई महत्त्वपूर्ण बातों को वे समझ सकेंगे। आपने अस्वस्थ होते हुए तथा सम्पूर्ण साधन उपलब्ध न होते हुए भी जो महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिख दी है, तदर्थ आप समस्त आर्यजगत् के बधाई एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

आपका

ह०

(रामनाथ)

---

१. श्री पं० रामनाथजी का यह लेख प्रथम संस्करण के निम्न पाठ पर है, जिसका संशोधन हमने प्रस्तुत संस्करण में कर दिया है। इनमें प्रथम श्रेष्ठोपमा कहाती है और दूसरी हीनोपमा। हीनोपमा को लोक में व्यतिरेकालङ्कार कहा जाता है (द्र०—साहित्यदर्पण १०।५२)। यास्क ने श्रेष्ठोपमा का उदाहरण अग्निमन्थन के समय आगे-पीछे होनेवाले तनूत्यक् हाथों से तस्करों को उपमा दी है। हीनोपमा में विधवा के देवर से अश्विनौ देव को उपमित किया है।

—द्रष्टव्य—प्रथम संस्करण, पृ० १८१

पुनश्च पृ० १७८, "यातुमावतः" पर सायणभाष्य इस प्रकार है— "यातवो यातनाः तान् मिमते निर्मिमते इति राक्षसव्यापारा यातुमाः। "आतोऽनुपसर्गे क" इति कः। तदेषामस्तीति मतुप्। मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्" (पा० सू० ६।३।११९) इति दीर्घत्वम्। "संज्ञायाम्" (पा० सू० ८।२।११) इति वत्वम्। मतुपः पित्त्वादनुदात्तत्वे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्।" तदनुसार दयानन्दभाष्य में यातुमशब्दान्मतुप् पाठ होना चाहिए न कि यातुमावत् पदान्मतुप्। आपने "यातुमाशब्दान्मतुप्" टिप्पणी में सुझाव दिया है,वह भी ठीक नहीं। फरीदाबाद में आपके पास सायणभाष्य नहीं रहा होगा।

## (२)

## 'मीमांसक' जी की दृष्टि में दयानन्द

श्री युधिष्ठिर 'मीमांसक' साङ्गोपाङ्ग वेद के अध्येता और अन्वेषक होने के साथ, स्वामी दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व और कृतित्व की गहराई में जाने के लिए जीवन-भर सश्रद्ध प्रयत्नशील रहे हैं। अतः वे साधिकार कह सकते हैं कि 'इस समय में आर्यसमाज में कोई ऐसा विद्वान् नहीं है, जो स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में मेरे बराबर जानता हो।' अपने दयानन्द-समर्पित जीवन के ८०वें वर्ष में, 'श्री मीमांसक' इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'हम ऋषि दयानन्द के केवल ग्रन्थों को पढ़कर ही ऋषि दयानन्द के मन्तव्य, व्यवहार और देशकाल-स्थिति के अनुसार व्यवहार करने की शिक्षा के विषय में यथावत् नहीं जान सकते। इसके लिए ऋषि दयानन्द के जीवनचरितों प्रवचनों, पत्रों और विज्ञापनों का भी गहराई से अध्ययन एवं मनन आवश्यक है।'

निस्संदेह, विद्वान् लेखक ने अपने जीवन-भर इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती को समझने का प्रयास किया है। अतः आर्यसमाज के विद्वानों के लिए उनका यह कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि 'ऋषि दयानन्द को संपूर्ण रूप से जानना संसार की सबसे ऊँची सागरमाथा चोटी पर चढ़ने से भी कठिन है।' केवल पल्लवग्राही पाण्डित्य के आधार पर अपने को दयानन्द के अनन्य उपासक और वकील समझनेवालों की ओर संकेत करते हुए मीमांसक जी कहते हैं कि 'कुछ वर्षों से अनेक विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती को ठीक उसी प्रकार स्वीकार करने लगे हैं, जिस प्रकार विभिन्न संप्रदायों के विद्वान् अपने संप्रदाय-प्रवर्तक

आचार्य को प्रतिष्ठित करते हैं·····वे दयानन्द को सर्वत्र और उनके लेखों वा ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण मान लेते हैं और विचार करने की आवश्यकता ही नहीं समझते। इतना ही नहीं, विचार के लिए व्यक्ति को दयानन्द-द्रोही कहकर जहाँ अपने अज्ञान को छिपाने की चेष्टा करते हैं, वहाँ समाज में अपने को दयानन्द-भक्त प्रख्यापित पूजित बनने का ढोंग रचते हैं।'

इसके विपरीत, स्वामी दयानन्द सरस्वती संप्रदायवाद के माने हुए विरोधी थे, इसीलिए उन्होंने गुरुडम का सदा डटकर विरोध किया। उनके जीवन में एक अन्तःसूत्र सदा विद्यमान रहा। वह है—सत्य का अनुसंधान, अर्थात् सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए सदा उद्यत रहना। मेरे विचारानुसार 'स्वामी दयानन्द सरस्वती का समस्त जीवन इसी एक सूत्र की क्रियात्मक व्याख्या है।' इसी विश्वास के कारण, लेखक ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखों में प्राप्त होने वाली कुछ स्पष्ट अशुद्धियों को दूर करने का जो प्रयास किया, वह सर्वथा उचित और आवश्यक था। स्वयं स्वामीजी ने अपनी भूलों और अशुद्धियों को स्वीकार करके उन्हें सुधारा है। उदाहरण के लिए, लेखक ने सप्रमाण बतलाया है कि स्वामीजी पहले 'ब्राह्मण-ग्रन्थों' को भी वेद मानते थे; बाद में वे केवल चार संहिताओं को ही वेद मानने लगे। स्वामीजी के 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' की अनेक अशुद्धियों को उजागर करते हुए जब काशी के पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'अबोध-निवारण' को प्रकाशित किया तो स्वामीजी ने वैदिक यन्त्रालय को जो पत्र लिखा, उसमें उन्होंने अपनी त्रुटियों को स्वीकार करते हुए लिखा था, "जो 'संस्कृत-वाक्यप्रबोध' पर (काशी के पण्डितों ने) पुस्तक छपवाया है, सो बहुत ठिकानों में उनका लेख अशुद्ध है और कै एक ठिकानों में 'संस्कृतवाक्य-प्रबोध' में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के तीन कारण हैं। एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन के अधीन शोधन का होना और मेरा न देखना, न प्रूफ का शोधन करना। तीसरा छापेखाने में उस समय कोई भी कम्पोजीटर बुद्धिमान् न होना, लैम्पों की न्यूनता होना। इसके उत्तर में जो-जो सच्ची बात है, सो-सो शोधक और छापा का दोष रहेगा।"

यह कथन, सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने के लिए कृतसंकल्प ऋषि के अनुरूप है। सचमुच, 'स्वामी दयानन्द सरस्वती ने

अपने जीवन के अन्तिम १० वर्षों में……जिस ग्रन्थराशि का प्रणयन महान् प्रयत्न से किया' उसमें 'सहयोगियों के अज्ञान, प्रमाद और आलस्य' तथा 'परोपकारिणी सभा की उदासीनता के कारण' लगभग २०-२५ प्रकार की अशुद्धियाँ आ गईं, जिनमें से प्रमुख का वर्गीकरण 'मीमांसक' जी ने इस प्रकार किया है।

(१) पण्डितों की असावधानी से होनेवाली अशुद्धियाँ।

(२) स्वामीजी के हस्तलेख में पण्डितों द्वारा परिवर्तन से उत्पन्न अशुद्धियाँ।

(३) स्वामीजी द्वारा परिशोधित संस्कृत के अनुसार भाषानुवाद न करने से उत्पन्न त्रुटियाँ।

(४) पदपाठ के अन्यथा लेखन से होनेवाली अशुद्धियाँ।

(५) हस्तलेख में आगे-पीछे लिखे शुद्धीकरण के नियमों के अज्ञान से होनेवाली भूलें।

(६) संशोधन में प्रमाद करने से प्रूफ-संशोधकों की भूलें।

(७) अधूरे संशोधन से उत्पन्न त्रुटियाँ।

(८) यज्ञशास्त्र के अज्ञानवश पण्डितों द्वारा किये गये पाठ-परिवर्तन से उत्पन्न अशुद्धियाँ।

(९) विभिन्न पञ्चाङ्गों का ज्ञान न होने से पण्डितों द्वारा किए गये पाठ-परिवर्तन में भूलें।

(१०) स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त सहायक ग्रन्थों की अशुद्धियों के कारण स्वयं स्वामीजी की भूलें।

(११) आधारभूत ग्रन्थ के अशुद्ध होने के कारण अनजान में हुई स्वामीजी की भूलें।

(१२) स्मृति के आधार पर लिखने से स्वामीजी की भूलें।

(१३) परम्परागत प्रसिद्धिप्राप्त अशुद्धियों के प्रयोग से उत्पन्न अशुद्धियाँ।

श्री 'मीमांसक' की दृढ़ मान्यता है कि ऋषि दयानन्द का 'प्रमुख कार्य वेदों का उद्धार ही था।' वेदोद्धारकों में स्वामीजी का अन्यतम स्थान मानते हुए वे लिखते हैं कि 'स्वामी दयानन्द सरस्वती उस ब्रह्मर्षि कोटि के थे, जिन्हें वेद ने स्वयं अपना स्वरूप उद्घाटित किया था। अतः यदि उन्हें याज्ञिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा सभी प्रकार के

व्यावहारिक अर्थ उपज्ञात हुए तो यह उनके तप का प्रभाव है।' फिर भी स्वामी दयानन्द ने जिस मन्त्रार्थ-प्रक्रिया को अपनाया, उसे उन्होंने 'व्यावहारिकी प्रक्रिया' नाम दिया और समस्त वेद का तात्पर्य पर ब्रह्म के ज्ञान, उपासना और प्राप्ति में है, इसके लिए उन्होंने औपनिषत्की अध्यात्मप्रक्रिया का आश्रय लिया। उसको 'पारमार्थिकी प्रक्रिया' नाम दिया। यद्यपि आरम्भिक ऋग्वेदभाष्य में, पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रक्रियाओं का मन्त्रार्थ में समान रूप से प्रयोग किया गया था, पर कार्य विस्तार के भय में और अन्य अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण अन्ततोगत्वा उन्होंने व्यावहारिकी प्रक्रिया का ही मुख्यतया प्रयोग किया।

इस प्रक्रिया के विषय में लेखक का कथन है कि 'इसमें सम्पूर्ण चराचर जगत् का समावेश हो जाता है। मनुष्यों का समाजशास्त्र, मनुष्यों का इतर प्राणियों के साथ सम्बन्ध, भौतिक पदार्थों के गुणों को जानकर उनसे विविध प्रकार के उपकारग्रहणार्थ चिकित्साशास्त्र, शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, अर्थशास्त्र, यज्ञशास्त्र प्रभृति का समावेश हो जाता है। भारतीय समस्त विद्यास्थानविषयक आकरग्रन्थ स्व-स्व विद्याओं का उद्गम वेद से स्वीकार करते हैं; अतः वेद में सब विद्याओं का मूलतः वर्णन है, यह मानना पड़ता है।'

दयानन्द-भाष्य को समझने की कुञ्जी प्रस्तुत करते हुए, लेखक का मत है कि 'जहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अलङ्कार का निर्देश किए विना ही देवतावाचक पद का जो व्यावहारिक पक्ष में तात्पर्य दर्शाया है, वह सब किसी न किसी अलङ्कार के आधार पर लिखा गया है, अर्थात् देवतावाची पद के मुख्यार्थ को यथावत् स्वीकार करते हुए अलङ्कार के योग से व्यावहारिक अर्थ दर्शाते हैं।' यहाँ जिस 'मुख्यार्थ' की ओर संकेत है, उससे अभिप्राय उसी परमार्थ से है, जिसके विषय में लेखक कहता है कि 'सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य ब्रह्म के विज्ञान से ही है।' स्वामी जी के व्यावहारिक अर्थों पर होनेवाले आक्षेपों के प्रसङ्ग में विद्वान् लेखक का कथन है कि 'वस्तुतः स्वामी दयानन्द सरस्वती पर इस स्वच्छन्दता का दोष वे लगाते हैं, जिन्हें ऋषियों की व्यावहारिक प्रक्रिया का परिज्ञान नहीं होता है। उदाहरण के लिए हम 'मनुस्मृति' के राजप्रकरण के दो श्लोक उद्धृत करते हैं--

तपत्य् आदित्यवच् चैव, चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति, कश् चिद् अप्य् अभिवीक्षितुम् ॥
सोग्निर् भवति वायुश् च, सोर्कः सोमो धर्म-राट्।
स कुवेरः स वरुणः, स महेन्द्रः प्र-भावतः।

प्रथम श्लोक में……देवतावाचक 'आदित्य' शब्द से उपमावाचक 'वत्' का निर्देश करके……आदित्य के कर्म-सादृश्य से आदित्य का तात्पर्य राजा दर्शाया है। द्वितीय श्लोक में……गुणों की साम्यता दर्शाकर राजा को अग्नि, वायु, सूर्य आदि कहा है।

इस प्रकार 'स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद का अर्थ विशेषरूप में व्यावहारिक किया है।……अतः दयानन्द के अनुयायी विद्वान् यह समझते हैं कि जिन देवताविषयक शब्दों का उन्होंने जो अर्थ किया है, वह उसका मूलार्थ अथवा प्रधानार्थ है और इसी दृष्टि से दो विद्वानों ने वैदिककोष तथा वेदार्थकोष में दयानन्दभाष्य से तत्-तत् पदों का सङ्गम किया है और उसके आधार पर मन्त्रों के व्याख्याता या वेदभाष्यकार बिना सोचे-समझे उन अर्थों का उपयोग करते हैं।'

यही कारण है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में भ्रान्त धारणायें बन गई हैं। जहाँ पाश्चात्य विद्वान् और उनके भारतीय चेले दयानन्द-भाष्य को सर्वथा अवैज्ञानिक मानते हैं, वहाँ आर्यसमाजी विद्वान् यह मान बैठे हैं कि ऋषि दयानन्द ने वेदों के मूलार्थ को देकर हमें वेदों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करा दिया है और अब हमें और कुछ भी करना धरना नहीं है। इसके विपरीत, वास्तविकता यह है कि स्वामीजी ने अपने जीवन के अन्तिम दश वर्षों में समाज-सुधार, राष्ट्रोद्धार और विश्वोद्धार से प्रेरित होकर विविध योजनाओं में व्यापृत होते हुए, वेदभाष्य-सहित जो अपार लेखन कार्य किया, वह किसी भी अकेले व्यक्ति के लिए सर्वथा असंभव था। ऐसी स्थिति में हमें यह मानकर चलना चाहिए कि **स्वामीजी ने वेद-व्याख्या के जिस व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया, उसको सार्थक तथा सर्वहितकारी बनाने के लिए भी अभी मूलार्थ को स्पष्ट करने की महती आवश्यकता है।**

इस प्रसङ्ग में, 'मीमांसक' जी द्वारा उठाया गया ऋषि देवता-छन्द का प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'आर्षेयब्राह्मण' और 'बृहद्देवता' में सुरक्षित परम्परा के अनुसार ऋषि, देवता और छन्द को बिना जाने-

बूझे वेदमन्त्रों का अध्यापन और जप करना पाप है। इसी दृष्टि से प्रायः सभी भाष्यकार तीनों को वेदार्थ के लिए उपयोगी मानते रहे हैं। केवल स्कन्दस्वामी ही एकमात्र भाष्यकार हैं, जिन्होंने **'न छन्दः, अनुपयुज्यमान-वचनात्'** कहकर मन्त्रों के छन्द का निर्देश भी नहीं किया है। लेकिन जिन्होंने तीनों की मन्त्रार्थ में उपयोगिता स्वीकार भी की है, उन्होंने भी ऋषि और छन्द का व्याख्या में उपयोग नहीं किया है। प्रायः ऋषि को मन्त्रद्रष्टा अथवा मन्त्रकर्ता माना जाता रहा है। पर श्री 'मीमांसक' इस विषय की विस्तृत ऊहापोह के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'ऋग्वेद के समस्त ऋषि मन्त्रद्रष्टा ही हैं, यह मत सर्वाङ्ग में सम्बद्ध नहीं होता है। अधिक से अधिक, भूमान्याय से ऋषियों को मन्त्र-द्रष्टा कह सकते हैं।' छन्दों के विषय में इस पुस्तक के लेखक ने अपने 'छन्दो-मीमांसा' नामक ग्रन्थ में व्यक्त विचारों की ओर संकेत करते हुए बताया है कि आधिदैविक अर्थ के जानने में छन्दों से सहायता मिलती है।

वेद-व्याख्या से संबन्धित अनेक प्रश्नों के विषय में सामान्यतः, और दयानन्द-भाष्य की विशेषताओं के विषय में विशेषतः श्री 'मीमांसक' ने अपने इस लघु ग्रन्थ में जो 'गागर में सागर' भरने का साधिकार प्रयास किया है, वह अत्यन्त स्तुत्य है। निस्संदेह उनकी यह कृति न केवल आर्यसमाजी विद्वानों की आँखें खोलनेवाली है, अपितु वेद के सभी अध्येताओं के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। फिर भी एक उपयोगी विषय अछूता सा रह गया है। 'बृहद्देवता' के ऋषि देवता और छन्द के साथ वेदार्थ में योग का ज्ञान भी उपयोगी माना है। ऋषि दयानन्द ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पातञ्जल योग पर विचार करते हुए योग को वेद-विहित माना है। वेदार्थ में योग की उपयोगिता को उजागर न करने का कारण वही हो सकता है, जो 'मीमांसक' जी ने याज्ञिक प्रक्रिया पर बल देने के विषय में माना है। यदि लेखक वेदार्थ में योग पर विशेष बल देता तो निस्संदेह मन्त्रों के मुख्यार्थ की मीमांसा करनी पड़ती और ग्रन्थ कलेवर अवश्य बढ़ जाता। पर निस्संदेह स्वामी दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व और कृतित्व का वास्तविक स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट हो जाता।

अस्तु! 'मीमांसक' जी ने वर्षों से अस्वस्थ होते हुए भी अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व और कृतित्व पर जो प्रकाश डाला है, उसके लिये वे हार्दिक साधुवाद और धन्यवाद

के पात्र हैं। उन्होंने दयानन्द-भाष्य का मूल्याङ्कन करते हुए श्री अरविन्द के जिन अमूल्य वचनों को अपने ग्रन्थ में विस्तार से उद्धृत किया है, वे तथाकथित आधुनिकता-प्रेमियों के लिए भी पथप्रदर्शक का काम करेंगे। दयानन्द की मौलिकता की छाप मैक्समुलर जैसे दयानन्दविरोधी पर अन्ततोगत्वा बिना पड़े नहीं रही और लेखक के शब्दों में उसे भी दयानन्द से प्रभावित होकर कहना पड़ा कि वैदिक धर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है, जिसने संपूर्ण विकासकाल में कोई भी बाह्य प्रभाव नहीं ग्रहण किया तथा संसार के सभी धर्मों की तुलना में वह सर्वाधिक शताब्दियों तक निर्बाध रूप से चलता रहा···यह हमारे सामने एक ऐसा काव्य(वैदिक धर्म) है, जो वहीं जन्मा और वहीं विकसित हुआ।

—फतहसिंह

परिशिष्ट—४

# समालोचनाओं की समीक्षा

"मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती" ग्रन्थ का प्रथम संस्करण समालोचनार्थ (सम्यक् आलोचनार्थ न कि सम आलोचनार्थ) कतिपय विद्वानों को भेजा था। उनमें से पण्डित राजवीर शास्त्री ने अपने स्वभाव के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखों को स्वतः प्रमाण मानकर ग्रन्थ में जहाँ उन्हें आपाततः विरुद्ध अंश प्रतीत हुआ, उनका ही प्रधान रूप से निर्देश किया है। (द्रष्टव्य—दयानन्द संदेश, वर्ष १९, अङ्क २; अगस्त १९९१)।

श्री वी० उपेन्द्रराव ने पैंसठ पृष्ठों की विस्तृत समालोचना लिखकर भेजी। इसमें ग्रन्थविषयक समालोचनारूप अंश स्वल्प है।

श्री रामनाथजी वेदालंकार ने वास्तव में समालोचक के धर्म का पालन करते हुए मेरे लेख में हुई अशुद्धियों का निर्देश किया है। कुछ विषय में मेरी स्थापना के विपरीत अपने विचार प्रकट किये हैं। यहाँ हमने उनकी पूरी समालोचना, जो मुझे पत्र में भेजी थी, यथावत् छाप दी है।

डॉ० फतहसिंहजी ने इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण की समालोचना "वेद-सविता" वर्ष १२, अङ्क ६ (जनवरी १९९२) में प्रकाशित की थी, उसे हमने यहाँ दिया है। डॉ० फतहसिंहजी ने अपनी आलोचना में स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदार्थ से सम्बद्ध अन्य कार्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। यद्यपि उनका लेख आवश्यक है; परन्तु जिस शारीरिक अस्वस्थता की अवस्था में ग्रन्थ लिखा गया, वह भी कैसे पूर्ण हुआ, यह मेरे लिये स्वयं आश्चर्य का विषय है और इसी तरह प्रथम संस्करण में लिखित अंश भी आगे-पीछे लिखे गये हैं। पं० रामनाथजी वेदालङ्कार ने मेरी दयानन्दकृत वेदभाष्यसम्बन्धी एक स्थापना को स्वीकार नहीं किया। वह है, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मन्त्रपदों के जो अर्थ दिए हैं, वे अलङ्काराश्रित गौण हैं। वेद का मनुष्य के जीवन में क्या उपयोग है, इस विषय को ध्यान में रखकर ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने

अलङ्कारों का आश्रय लिया है। यद्यपि भाष्य में अति स्वल्प मात्रा में अलङ्कारों का साक्षात् उल्लेख किया है; परन्तु प्रायः सम्पूर्ण वेदार्थ ही अलङ्कारों पर आश्रित है। यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती मन्त्रपदों का वास्तविक प्रधान अर्थ देते तो वह कुछ एक वैज्ञानिकों और अध्यात्मवादियों तक सीमित रहता। इसलिए उन्होंने जनसाधारण वेद से क्या लाभ उठा सकता है, इस दृष्टि को प्रमुखता दी और इस प्रकार का वेदार्थ बिना अलङ्कारों के सम्भव नहीं था। मैंने अपने ग्रन्थ में भी लिखा है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदार्थसम्बन्धी रहस्य का ज्ञान मुझे पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० से प्रथमतः प्राप्त हुआ। फिर मैंने भी उनकी स्थापना को स्वाध्यायकाल में यथावत् सत्य पाया। यद्यपि पं० भगवद्दत्त जी ने प्रधान कार्य इतिहासविषयक ही किया; परन्तु उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने अनेक रहस्यों का उद्घाटन उन्हीं ग्रन्थों से किया, जिनको कि हम अपने अध्ययन-अध्यापन काल में प्रायः पढ़ते रहते थे।

डॉ० फतहसिंहजी ने मेरी स्थापना को यथावत् स्वीकार किया है, इसके लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूं।

॥ समाप्त ॥

# रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

## [प्रकाशित वा प्रसारित कुछ प्रामाणिक ग्रन्थ]

१. ऋग्वेदभाष्य—(संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित) प्रति-भाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां प्रथम भाग ५०.००, द्वितीय भाग ४०.००, तृतीय भाग ५०.००।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। प्रथम भाग १४०.००, द्वितीय भाग ६०.००।

३. तैत्तिरीय संहिता—मूलमात्र, मन्त्र सूची सहित। ६०.००

४. तैत्तिरीयसंहिता-पदपाठः—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द १२५.००।

५. अथर्ववेदभाष्य—श्री पं० विश्वनाथजी वेदोपाध्यायकृत। १-३ काण्ड ५०.००; ४-५ काण्ड ५०.००, ६ काण्ड ४०.००, ७-८ काण्ड ४०.००, ९-१० काण्ड ४०,००, ११-१३ काण्ड ३५.००, १४-१७ काण्ड ३०.००, १८-१९ काण्ड २५.००, बीसवां काण्ड २५.००।

६. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं टिप्पणियों से युक्त। सजिल्द ३५.००।

७. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये गए उत्तर। ५.००

८. भूमिका-भास्कर—स्वामी विद्यानन्द। दोनों भाग ३००.००

९. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण। ६०.००

१०. गोपथब्राह्मण (मूल)—सम्पादक श्री डा० विजयपालजी विद्यावारिधि। सबसे अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण। ६०.००

११. कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी—(ऋग्वेदीया) षड्गुरुशिष्यविरचित संस्कृत टीका सहित। टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है। विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त। १२५.००

१२. ऋग्वेदानुक्रमणी—वेङ्कट माधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार—डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। ४०.००

१३. वैदिक-साहित्य-सौदामिनी—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालङ्कार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ। बढ़िया जिल्द ६०.००

१४. वैदिक छन्दोमीमांसा—यु० मी० । नया संस्करण ३०.००

१५. वैदिक-स्वर-मीमांसा—यु० मी० । ,, ,, ३५.००

१६. उरु-ज्योति—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याय योग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। पक्की जिल्द २०.००

१७. वैदिक जीवन—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ। अजिल्द १५.००, सजिल्द २०.००

१८. वैदिक गृहस्थाश्रम—पूर्व लेखक द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थ। सजिल्द ४०.००

१९. शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा—लेखक पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। ४५.००

२०. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(दर्शपूर्णमास) भवस्वामी और सायणाचार्य की व्याख्या सहित। मूल्य ५०.००। अग्न्याधान प्रकरण और आधान पद्धति—सुबोधिनी वृत्ति सहित। ५०.००

२१. दर्शपूर्णमास-पद्धति—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित ३०.००

२२. कात्यायनगृह्यसूत्रम्—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५.००

२३. श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त अध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०.००

२४. श्रौत-यज्ञ-मीमांसा—(संस्कृत तथा हिन्दी)। १०.००

२५. संस्कार-विधि—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। राजसंस्करण ५०.०० सस्ता संस्करण १२.००, अच्छा कागज सजिल्द १५.००।

२६. वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। २५.००

२७. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय—इस में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचितिसहित सोमयाग, चातुर्मास्य, वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। २०.००

२८. निरुक्त-श्लोकवार्तिकम्—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित एक मात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घात रूप में निरुक्त-शास्त्रविषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है। (संस्कृत) सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। उत्तम कागज, शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। १२५.००

२९. अष्टाध्यायी (मूल)—शुद्ध संस्करण ६.००

३०. अष्टाध्यायी-भाष्य—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। प्रथम भाग ६०.००, द्वितीय भाग ४०.००, तृतीय भाग ५०.००। पूरा सैट १५०.००

३१. धातुपाठ—धात्वादिसूचीसहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण। ५.००

३२. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामीकृत। पाणिनीय धातुपाठ की सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ७०.००

३३. धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या। सजिल्द ५०.००

३४. वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम्। १०.००

३५. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रथम भाग २५.००, द्वितीय भाग २५.००

३६. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या—(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० प्रथम भाग—(प्रथम खण्ड ६५.००, द्वितीय खण्ड ६०.००), द्वितीय भाग ५०.००, तृतीय भाग ७५.००

३७. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द २०.००

३८. दशपादी-उणादिवृत्ति—माणिक्यदेव विरचित वृत्ति। ५०.००

३९. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। १०.००

४०. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः—डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत) ५०.००

४१. सूर्य-सिद्धान्त—हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता—श्री उदयनारायण सिंह। आरम्भ में १४६ पृष्ठ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ६०.००

४२. अनासक्तियोग—लेखक—प० जगन्नाथ पथिक। ४०.००

४३. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)—पं० सत्यदेव वसिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य। ४ भाग सम्पूर्ण मूल्य २००.००

४४. शुक्रनीतिसार—स्वामी जगदीश्वरानन्द कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द। ६०.००

४५. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण। तीनों भागों का मूल्य १५०.००

४६. मीमांसा-शाबर-भाष्यम्—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दीव्याख्यासहित व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ६०.००, II ५०.००, III ५०.००, IV ४०.००, V ५०.००, VI ५०.००, VII ५०.००।

४७. मीमांसा-शाबर-भाष्यम्—(मूल मात्र) प्रथम भाग ६०.००

४८. प्रपञ्चहृदय तथा प्रस्थानभेद (संस्कृत) २५.००

४९. नाडीतत्त्वदर्शनम्—श्री पं० सत्यदेव जी वसिष्ठ। ६.००

५०. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन—चार भाग प्रत्येक भाग ३५.००

५१. सत्याग्रह-नीति-काव्य—आ० स० सत्याग्रह १९३९ हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वसिष्ठ द्वारा विरचित हिन्दी व्याख्या सहित। ३०.००

५२. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—इसमें ऋ० द० के सभी ग्रन्थों का विशद इतिहास दिया गया है। लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक ४०.००

५३. आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता—विद्यानन्द सरस्वती ६०

५४. विरजानन्दप्रकाश—लेखक—पं० भीमसेन शास्त्री। ५.००

५५. आत्मपरिचय—(वंश, पूर्वज परिचय सहित) पं० युधिष्ठिर मीमांसक आर्यसमाज व विविध संस्थाओं के इतिहास-विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ १००.००

५६. सत्यार्थप्रकाश—(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण) १३ परिशिष्ट, ३५ सौ टिप्पणियाँ तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्करण के विशिष्ट उद्धरण-युक्त ६०.००

५७. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन—इसमें पौराणिक विद्वानों तथा ईसाई मुसलमानों के साथ हुए ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ तथा पूना में सन् १८७५ तथा बम्बई में सन् १८८२ में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। ४०.००

५८. दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह—केवल शास्त्रार्थ, सस्ता संस्करण १५.००

५९. व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्द कृत। ३.००

६०. अष्टोत्तरतशनाममालिका—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास की सुन्दर प्रामाणिक विस्तृत व्याख्या। लेखक—पं० विद्यासागर शास्त्री २५.००

६१. कन्योपनयन-विधि—अर्थात् 'कन्योपनयन-प्रतिषेध' ग्रन्थ का खण्डन। श्री पं० महाराणीशंकर। अपने विषय की सुन्दर सामयिक पुस्तक। अ० ४.००, सजिल्द ६.००

६२. मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य—पं० युधिष्ठिर मीमांसक का सम्पूर्ण जीवन ऋ० द० के ग्रन्थों के अध्ययन-विवेचन-सम्पादन और प्रकाशन में बीता है। आपकी अनुभव-परिपुष्ट दृष्टि ने ऋषि दयानन्द और उनके कार्य को जिस रूप में देखा-समझा है, इसका विस्तृत निरूपण इस ग्रन्थ में किया है। नया परिवर्धित संस्करण १००.००, पुराना सस्क० ५०.००

पुस्तक प्राप्ति-स्थान—

**रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) १३१०२१**

**रामलाल कपूर एण्ड संस, २५९६ नई सड़क, देहली**

**उजागर भवन, बिरहाना रोड, कानपुर**